शृङ्गारपरिशीलन

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

शृङ्गारपरिशीलन

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डी० लिट्०

स एवं काव्यशृङ्गारस्तदेतत्काव्यदैवतम् ।
तदेतद्विश्वसर्वस्वं तदेतज्जन्मनः फलम् ॥

—भोज

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९८३

शृङ्गारपरिशीलन

(Evolution of Śṛṅgāra Rasa from Bharata to Paṇḍita-Rāja Jagannātha)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधिके लिए स्वीकृत प्रबन्ध (१९७१ ई०)

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डी० लिट्०

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

मूल्य : ५० रु० मात्र

मुद्रक
तकनीकी मुद्रणालय, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद
एकेडमी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

जीवनानुभव, लोक-चेतना तथा शास्त्रीय चिन्तन तीनों आधारों पर भारतीय मनीषा ने श्रृङ्गार को असाधारण महत्त्व दिया है। भरत के नाट्यशास्त्र में उसकी मेध्यता, उज्ज्वलता आदि विशेषताओं के साथ विष्णु को उसका देवता निरूपित किया गया है। सर्वाधिक संचारियों के समावेश के कारण अन्य रसों की अपेक्षा श्रृङ्गाररस की महत्ता ने उसे रस-राजत्व प्रदान किया जिसका उद्घोष संस्कृत से लेकर हिन्दी तक व्याप्त रहा है। उसके स्थायी भाव 'रति' की भी इतनी व्याप्ति हुई कि एक ओर भक्ति रस तथा दूसरी ओर वात्सल्य रस को स्वतन्त्र मान्यता मिली और माधुर्य भाव एवं उज्ज्वलरस के रूप में आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रृङ्गार की नयी भूमिका प्रकट हुई। 'रति' का सम्बन्ध 'काम' से भी रहा है और काम को एक पुरुषार्थ ही नहीं सृष्टि का मूल भी माना गया है। वैदिक साहित्य में 'कामोहि दाता' 'समुद्र इव हि कामः' आदि कह कर बहुधा उसके कल्याणकारी रूप की प्रतिष्ठा की गयी है। शैव-शाक्त दर्शन में भी वह स्पष्टतः परिलक्षित होती है। ललितकलाओं एवं सौन्दर्य की समस्त विधाओं में उसके सूक्ष्म स्तरों का निदर्शन आचार्य अभिनव गुप्त जैसे तत्त्वज्ञों ने फ्रायड से पहले ही कर दिया था। साहित्यदर्पण में वासना के 'इदानीन्तनी' तथा 'प्राक्तनी' रूप भी निर्दिष्ट किये गये। भोजराज के 'श्रृङ्गारप्रकाश' में उसके पूर्व श्रृङ्गार को अहंकार अथवा अभिमान का ही रूप मानते हुए एक मात्र रस घोषित किया गया जिसकी प्रेरणा मूलतः तमिल ग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' में वर्णित 'मेयप्पाडु' तक जाती है। रुद्रभट्ट के 'श्रृङ्गार-तिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' में श्रृङ्गाररस की जैसी महिमा वर्णित है उसकी अनुगूंज ब्रजभाषा साहित्य में 'बानी को सार बखान्यो सिंगार' तथा 'नवरसमय ब्रजराज' के रूप में मिलती है। केशव द्वारा किये गये 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' भेद भी ऐसे ही परम्परा-प्रसूत हैं, आकस्मिक रूप से उद्भूत नहीं।

मुख्यतः संस्कृत साहित्य को आधार मानकर श्रृङ्गार विषयक चिन्तन की इस समृद्ध परम्परा का सम्यक् निरूपण डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने इस 'श्रृङ्गारपरिशीलन' नामक शोध-प्रबन्ध के ग्यारह अध्यायों में पूर्ण प्रामाणिकता और सम्यक् विवेक के साथ किया है। परिशिष्ट रूप में हिन्दी के साहित्याचार्यों की धारणाएं भी दे दी गयी हैं। एक मान्य विद्वान् एवं अनुभवी प्राध्यापक के द्वारा उच्चतम उपाधि हेतु लिखित यह शोध-ग्रंथ निश्चय ही स्वागत-सम्मान का भागी बनेगा। हिन्दुस्तानी एकेडमी को इसके प्रकाशन का श्रेय देकर उन्होंने सब का उपकार किया है।

जगदीश गुप्त
सचिव, हिन्दुस्तानी एकेडमी
इलाहाबाद

प्रस्तावना

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध संस्कृत-साहित्यशास्त्र में भरतमुनिसे पण्डितराज जगन्नाथ तक शृङ्गार-रससिद्धान्तके क्रमिक विकासका पर्यवेक्षण करता है। काममूलक होनेके कारण शृङ्गार-रस सर्वप्रिय एवं सर्वसुबोध रहा है। काव्य-नाट्यमें ही यह प्रधान रस नहीं गिना जाता है, अपितु सभी ललित कलाओं में इसका प्राधान्य एवं महत्त्वपूर्ण वर्चस्व परिलक्षित होता है। इस प्रबन्धके ग्यारह अध्यायोंमें उसी शृङ्गारके अङ्गोंके क्रमिक विकासका परिशीलन किया गया है। प्रथम और द्वितीय अध्यायोंमें काम-पुरुषार्थका तथा भावोंके स्वरूपका सामान्य विवेचन करनेके पश्चात् तृतीयसे अष्टम तकमें शृङ्गारके क्रमसे परिभाषा, स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, संचारिभाव तथा भेदोपभेदका विवेचन किया गया है। नवम अध्यायमें शृङ्गाररसके आभासकी मीमांसा की गई है, अभिनवके मतमें, जिसका प्रारम्भ भरतने 'शृङ्गाराद्धिभवेद्धास्यः' इस उद्घोषके साथ किया था। दशम अध्यायमें शृङ्गारविषयक फुटकल विचार, जो किसी-किसी आचार्यमें ही दिखाई पड़ते हैं, अतएव जिनका क्रमिक विकास नहीं कहा जा सकता, रक्खे गये हैं। एकादश अध्यायमें शृङ्गारके ही एक विशिष्ट रूपान्तर भक्तिरसका विवेचन किया गया है, और अन्तमें हिन्दी-साहित्य-शास्त्रके आचार्यों द्वारा की गई शृङ्गार-मीमांसा प्रस्तुत की गई है। इसे परिशिष्टमें ही रक्खा गया है।

इस प्रबन्धके प्रारम्भसे पूर्णत्व तक प्रेरणाप्रद पूज्य-गुरुजन (स्व०) म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज, (स्व०) आचार्य रघुवरमिट्ठूलाल शास्त्री तथा प्रो० डॉ० बाबूराम सक्सेनाके प्रति मैं श्रद्धा एवं भक्तिसे अपनी प्रणतियाँ प्रस्तुत करता हूँ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके भू० पू० संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयके भू० पू० कुलपति प्रो० डॉ० आद्याप्रसाद मिश्रके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके स्निग्ध सौहार्द एवं सदाशयतासे यह प्रबन्ध पूर्ण कृतार्थ हुआ है। उत्तर प्रदेश शासनके शिक्षाविभागके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने उदारता एवं सौजन्यके साथ पाँच सहस्र रुपयेका अनुदान देकर इसके प्रकाशनमें प्रगति एवं सुविधा प्रदान की। और, प्रिय सुहृद् कवि, सहृदय-वरिष्ठ प्रोफेसर

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी तथा एकेडेमीके अन्य सम्बद्ध कुशल अधिकारियों-के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसके प्रकाशन का भार लेकर अपनी महाशयतासे मुझे अनुगृहीत किया। इसके पूर्व मेरा डी० फिल्० शोधप्रबन्ध 'नैषधपरिशीलन' भी इसी एकेडेमीसे प्रकाशित हुआ था। सहृदय-समाजने उसका स्वागत किया। मुझे विश्वास है कि विदग्ध विद्वत्समाजको यह प्रबन्ध भी रुचिकर होगा। अन्तमें एकेडमी प्रेसके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करना धर्म समझता हूँ जिसने स्वल्प समयमें भी बड़ी कुशलता एवं तत्परता के साथ इसका मुद्रण-कार्य सम्पन्न किया।

प्रयाग
वसन्तोत्सव
१५-३-८३

सदाश्रव
चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

काम पुरुषार्थ एवं जीवन में उसका महत्त्व

सुख-दु:ख की द्वन्द्वानुभूति—सुख-दु:ख के सामान्य अनुभूति-द्वन्द्व के साथ ही प्राणी मातृ-कुक्षि से बाह्य जगत् में अवतार लेता है। सामान्य सुख एवं दु:ख की अनुभूतियां उसकी जन्मजात होती हैं। इसी कारण वह अचेत शिशु भी दु:ख से क्लेशित एवं सुख से मोदित होता है। फिर, यहाँ तो यावज्जीवन प्राणिमात्र का लक्ष्य सुख-प्राप्ति करना तथा सब प्रकार के दु:खों से छुटकारा पाना हो जाता है। 'सुखंमेभूयाद् दु:खं मे माभूत्' यही सबका जीवन-सिद्धान्त-सूत्र (Motto) बन जाता है। सभी जीव जान में अथवा अनजान में सुख-लिप्सा से ही सभी प्रकार की चेष्टायें करते दिखाई पड़ते हैं। दु:ख के प्रति विद्वेष तथा सुख के प्रति आदर सभी प्राणी का स्वभाव है,—'सर्वेऽपि जीवास्तु सुखे रमन्ते सर्वे च दु:खाद् भृशमुद्विजन्ते।'[1] और यह सुख के प्रति अनुरक्ति तथा दु:ख के प्रति विरक्ति प्राणी की अहन्ता अथवा अहंतत्त्व के कारण ही होती है। इस सुखेप्सा से मानव तो क्लेशावह भी कार्यभार को सहर्ष उठाता है। यह उसकी बुद्धि-तत्त्व की विशेषता है। सभी प्राणियों की अनुकूल अनुभूति को आचार्यों ने सुख तथा प्रतिकूल अनुभूति को दु:ख कहा है।[2]

एषणात्रय—जीवन में इस सुख-दु:ख की समस्या को लेकर भारत के प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया, और यह समस्त संस्कृतवाङ्मय एक प्रकार से उसी मीमांसा का परिणामस्वरूप है। इस सुखैषणा को उन्होंने तीन प्रकार की बताया है—लोकैषणा; वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा। इन्हीं को दूसरे शब्दों में आहारेच्छा, धनेच्छा तथा रतीच्छा[3] भी कहते हैं[4]। इन एषणाओं का आविर्भाव तो एक क्रम से ही होता है। किन्तु प्राय: इन सभी की सत्ता जीवन के अन्त तक बनी रहती है। सर्वप्रथम आहारैषणा आती है, जो उसी क्षण से आविर्भूत हो जाती है, जिस क्षण शिशु मातृ-कुक्षि से बाहर प्रकट होता है, और फिर आमरण विद्यमान रहती है। इस एषणा की पूर्ति के लिए उसे सारे

---

१. महाभारत।

२. 'सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलतयावेदनीयं दु:खम्। —तर्कसंग्रह

३. आहारेच्छा धनेच्छा वा रतीच्छापि तु वा भवेत्। —देवीभागवत

४. बृ० उप० ३।५।१

जीवन यत्न करना पड़ता है[1] । महाभारत में तो इस आहारेच्छा को त्रिवर्ग का भी मूल कहा है[2] । इसे परमतत्त्वज्ञान का भी मूलकारण कहा गया है[3] । इस एषणा के मूल में जन्तु की 'अहन्ता' या 'अहं स्याम्' यह वासना संस्कार रूप से अनादिकाल से बनी रहती है।

इसके पश्चात् स्फुटवाक् होने के कुछ पूर्व से ही मानवशिशुओं में परिग्रहैषणा आने लगती है। अस्फुटवाक् भी शिशु अपने खिलौनों में अपनी स्वता स्थापित करने लगता है। तिर्यग्योनि के प्राणी भी भोजन-आवासादि की व्यवस्था में अतिशय व्यापृत देखे जाते हैं तथा उसमें अपना स्वत्व अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। यह परिग्रहेच्छा या वित्तैषणा भी यावज्जीवन रहती है और मरण के कुछ पूर्व ही जाती है। किसी-किसी में तो तब भी बनी रहती है। इसके मूल में 'ममता' अथवा 'बहु स्याम्' यह वासना अनादिकाल से विद्यमान रहती है।

फिर यौवन के आरम्भ होते सन्तानैषणा का आविर्भाव होता है। इसका साधन रतीच्छा होती है। सन्तानेच्छा रतीच्छा की साध्यरूपा है। यौवनोद्रेक के साथ यह इच्छा आती है और जरा-शैथिल्य के साथ मन्द हो जाती है। कुछ व्यक्तियों में तो रतीच्छा का शमन जराजीर्ण होने पर भी नहीं हो पाता।

पाश्चात्य मत से काम-भावना की व्यापकता—पाश्चात्य कामशास्त्र-तत्त्वज्ञ फ्रायड आदि मनीषियों का मत है कि काम अथवा रतीच्छा जन्तु में जन्मक्षण से ही आविर्भूत रहती है। इसकी प्रथम अभिव्यक्ति तब होती है जब बालक तीन या चार वर्ष का होता है, और फिर धीरे-धीरे यौवनारम्भ में तो इसमें दूरोध बाढ़ आती है। शिशु में यह इच्छा मातृ-प्रेम-रूप से रहती है तथा युवा में दार-प्रेम-रूप से। इस प्रेम के अभाव में प्राणी में द्वेष, क्रोध अथवा घृणा का उदय होता है। इस प्रकार फ़्रायड ने इस कामवृत्ति अथवा रतीच्छा को अतिशय व्यापिका माना है। उन्होंने न केवल पति-पत्नी के ही बीच, अपितु माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन के भी परस्पर स्नेह सम्बन्ध के मूल में यौन-भावना की ही अज्ञातधारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित बताई है। उनका कहना है कि माता पुत्र का लालन करते समय पुत्र की कामभावना को ही उद्बुद्ध करती है, जिसे यौवन में पत्नी अत्यर्थ उद्दीप्त कर देती है[4] । वस्तुतः उनके मत से मनुष्य यौन-भावनाओं का एक संघातरूप ही है, तथा काम सर्वव्यापक समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक प्रबलतम मनोभाव है। अस्तु।

रतीच्छा के विविध रूप—हां, तो यह रतीच्छा ही विशिष्ट रूप से काम कहलाती है। इसे कुछ विद्वानों ने परमानन्द रूप कहा है[5] । भरत ने रतीच्छा की साधनरूप स्त्रियों

---

१. 'मनुष्याणां समारम्भाः सर्व आहार-सिद्धये'। —महाभारत

२. 'विषयाश्चैवकात्स्न्येन सर्व आहार-सिद्धये । मूलमेतत्त्रिवर्गस्य'। —शा० पा० १२३

३. भा० पु० ११।१८।३४

४. 'Mother's tenderness awakens the child's saxual instinct and prepares the future intensity. —writings of S. Fraud, contribution I.

५. 'सर्वेषामानन्दानाम् उपस्थ एव एकायनम्। —बृ० उप० २।४।१२

को सुख का मूल कहा है[1]—काम मनुष्येतर प्राणियों में तो मैथुनवृत्तिरूप में अत्यन्त उद्रिक्त दिखाई पड़ता है, किन्तु मनुष्यों में, बुद्धि का संयोग होने के कारण, वह स्नेह, भक्ति, वात्सल्य आदि उदात्त भावनाओं द्वारा भी अभिव्यक्त होता है। काम जब शरीर अथवा इन्द्रियों के सम्बन्ध से पृथक् मन अथवा आत्मा का विषय होता है, तो उसे प्रेम, भक्ति अथवा वात्सल्य आदि कहते हैं, और इस प्रकार के काम की प्रशंसा की जाती है। गीता में कुछ इसी प्रकार के विषय में कहा गया है—'हे भरतश्रेष्ठ, मैं प्राणियों में धर्मसम्मत काम हूं'[2]। वात्सल्य अथवा अपत्यस्नेह तो मानव में बुद्धि एवं सदाचार उत्पन्न करता है[3]। और जब केवल प्रजननेन्द्रिय अथवा साधारण इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है तो इस काम को कामुकता अथवा वासना कहते हैं, और वह अत्यन्त हेय हो जाता है, जैसा कि वही गीता कहती है—'हे महा-बाहु, कामरूपी इस दुर्धर्ष शत्रु को विनष्ट करो[4]।' और जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र काम के लिए नहीं है[5]। अपत्य-स्नेह के कारण मनुष्य न केवल अपनी ही सन्तान को, अपितु अन्य प्राणियों के भी बच्चों को प्यार करता है। मनुष्य में ही नहीं, यह स्नेह तो पशु-पक्षियों में भी कभी-कभी अत्यधिक उद्रिक्त दिखाई पड़ता है, जिससे उनकी घोर हिंसामयी तामसी वृत्ति भी दब जाती है। कौवे और भेड़िये भी कभी-कभी अन्य प्राणियों के शिशुओं को पालते हुये दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुछ मनीषियों ने रतीच्छा से भी प्रबल आहारेच्छा को बताया है—'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः।'

भारतीय विचारधारा में सुख-कल्पना तथा चार पुरुषार्थ—इन एषणाओं का अधिष्ठान मन होता है। वेदन अथवा अनुभूति मन की क्रिया कही गई है। अतएव सुख-दुःख का अधिष्ठान प्राणियों का अन्तःकरण अथवा मन कहा जाता है। बिना मन के संयोग के कोई व्यक्ति पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का कोई भी विषय नहीं ग्रहण कर सकता है[6]। 'वस्तुतस्तु यह सुख तथा दुःख नाम मनोगत अनुभूति-विशेष के ही लिए उपयुक्त हैं। बाह्यजगत् में न तो ऐसी कोई वस्तु है अथवा न कोई ऐसा कर्म ही है जिसे सुखमय अथवा दुःखमय कहा जा सकता है। जिस वस्तु अथवा कर्म में मन को जैसी अनुभूति होती, वह उसी रूप में सुखमय अथवा दुःखमय समझ पड़ती है। इस मनोऽनुभूति के पीछे भी एक बड़ा आत्म-प्रेम का बीज प्रच्छन्न रहता है। सभी जीवों को अपनी आत्मा प्रियतम होती है। इसी के लिए अन्य सभी

---

१. 'सुखस्य च स्त्रियो मूलम्'। —ना० शा० २४।८३

२. 'धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'। —गीता ७।११

३. The parental instinct is the mother of both intellect and morality.
– An outline of psychology— Dougall, p. 134.

४. 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'। —गीता ३।४३

५. 'ब्राह्मणस्य स्वदेहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते'। —श्रीमद्भागवत

६. न वेत्ति ह्यमनाः किंचिद् विषयं पञ्चहेतुकम्। —ना० शा० २४।८२।

वस्तुयें प्रिय लगती हैं[१]—बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मनुष्य ने इतना विशेष किया है कि अपने सुख के क्षेत्र को बुद्धि से विचार कर कुछ विस्तृत कर रखा है। अन्य प्राणियों के लिए केवल विषयेन्द्रिय-संयोग ही सुखद होता है, किन्तु मनुष्य की सुखभावना का क्षेत्र उससे भी कहीं अधिक विस्तृत हो गया है। साक्षात् इन्द्रियभोग के अतिरिक्त विषयों में भी उसे सुख अथवा आनन्द मिलता है। काम के अतिरिक्त तीन और विषय हैं जिनकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है तथा प्राप्त कर सुखी तथा आनन्दित होता है। पुरुष द्वारा अर्थित अथवा आकाङ्क्षित होने के कारण, काम की भांति, उन तीनों को भी पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य के सुख अथवा आनन्द के विषय चार हो जाते हैं, जिन्हें चार पुरुषार्थ कहते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इन चारों पर एक साथ दृष्टि डालने से पता चलता है कि सुख-भावना से उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है—अभ्युदयरूप तथा निःश्रेयस-रूप। एतन्मूलक ही भारतीयों की सुख-कल्पना दो प्रकार की हुई—प्रवृत्तिमूला अभ्युदय-रूपा तथा निवृत्तिमूला निःश्रेयसरूपा। इनमें प्रथम वर्ग में धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सिद्धियां आती हैं, जो अभ्युदयरूप होती हैं। इस प्रकार के सुख एवं सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थनामक जीवन के पूर्वार्ध में पड़ने वाले दो आश्रम नियत किये गये हैं। द्वितीय वर्ग में मोक्ष आता है, जो निःश्रेयसरूप है। इसकी साधना के लिये वानप्रस्थ एवं संन्यास नामक जीवन के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले दो आश्रम नियत किये गये हैं। प्रथम दो आश्रम प्रवृत्तिरूप तथा बाद के दो निवृत्तिरूप हैं। और सारी प्रवृत्ति का भी साध्य निवृत्ति ही है। अतएव मोक्ष को निःश्रेयस कहा भी जाता है। यह मोक्ष विगतकाम व्यक्ति का सुख-दुःख के अभिसम्बन्ध से तथा पुण्यापुण्य कर्म के बन्धन से मुक्तिरूप माना गया है। यह ऐसी आत्म-स्थिति है जिसमें इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का पूर्ण संयम रहता है—'मोक्षपरायण मुनि इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को संयत करके इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित होकर मुक्त हो जाता है[२]"। इसी आत्मस्थिति अथवा आत्मदर्शन को प्राप्त करना जीवन का परमलक्ष्य कहा गया है। इसके दर्शन पा जाने पर फिर मानो सब कुछ मिल जाता है[३]। "मनुष्य का परमधर्म यही है कि योगसाधना द्वारा आत्मदर्शन करे[४]"।

पुरुषार्थचतुष्य में कामपुरुषार्थ का वैशिष्ट्य—इन चारों पुरुषार्थों पर प्राचीन मनीषियों ने पर्याप्त विचार किया है। सारा भारतीय वाङ्मय ही इन्हीं चार विषयों में विभक्त है। भारतीय जीवन में इनका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जीवन को सर्वथा पूर्ण एवं सुख-सम्पन्न बनाने के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों की साधना करनी

---

१. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। —बृ० उ० २।४।५

२. गीता ५।२८

३. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्'। —बृ० उप० २।४।५

४. अयं तु परमोधर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम्। या० स्मृ०—आचाराध्याय, उपोद्घात, श्लोक ८

परम आवश्यक है, तभी वह पूर्णता मिल सकती है। इन चारों में भी अर्थ पुरुषार्थ धर्म एवं काम पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए साधनरूप है। अर्थ से धर्म भी सिद्ध होता है और काम भी। यह धर्म अर्थ का तो साध्य है, किन्तु काम का स्वयं भी साधनभूत है। अर्थात् धर्माचरण भी काम-प्राप्ति के लिए होता है। इस प्रकार यह कामरूप सुख, धर्म और अर्थ दोनों का साध्य है। इस प्रकार त्रिवर्ग की व्यवस्था की जाती है। किन्तु उपनिषदों के मत से परमसुख का अथवा सुख का पर्याय मोक्ष ही है और वही धर्म, अर्थ, काम—तीनों का साध्य है। जन्ममरण के बन्धन से मुक्तिरूप, परमानन्द-पर्याय यह मोक्ष-रूप पुरुषार्थ स्वात्म में परमात्मसत्ता की अनुभूति से ही मिलता है, जैसा कि श्रुति कहती है—'वह (ब्रह्म) रसरूप है। रस को ही प्राप्त कर प्राणी आनन्दित होता है[1]।' गीता भी कहती है—'ब्रह्मज्ञानी की स्थिति ब्रह्म में ही रहती है[2]'। उस आनन्द को पाकर पुरुष फिर कोई सुखान्तर नहीं चाहता। तब वह सर्वथा कामरहित (शिव) हो जाता है। उपनिषद् की घोषणा है—'जब मनुष्य के हृदय में स्थित सभी काम विगत हो जाते हैं तो वह अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्म प्राप्त कर लेता है[3]'।

काम की सर्वसुलभता—सकाम रहना काम से हत होना है। अकामहत ही परमानन्द है। अन्य प्रकार के सुख अथवा आनन्द इसकी मात्रा या कला ही प्राप्त कर पाते हैं[4]। आत्मदर्शन का अर्थ ही होता है परमानन्द-रूप परमात्मा की सत्ता का अपने में भान होना, अथवा आत्मा परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति करना। फिर तो वहां न कोई शोक (रजोगुण) है, न कोई मोह (तमोगुण)। वह शुद्ध सत्त्वमयी स्थिति ही आनन्दप्रकाशमयी स्थिति कहलाती है। उसी को मोक्ष कहते हैं—'जिसको सब कुछ आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, उस ऐक्य-द्रष्टा को क्या मोह और क्या शोक[5] ?" किन्तु देखा यह जाता है कि सर्वसाधारण न इस सुख के लिये प्रयत्न करते हैं, और न यह उन्हें सुलभ ही हो पाता है। फलतः प्रायः समाज धर्म-अर्थ-काम अथवा अर्थ-काम अथवा केवल काम में ही लीन या सचेष्ट रहता है। ऐसी परिस्थिति में, इन्हीं तीनों का ही सन्तुलित उपयोग जीवन की सफलता मानी जाती है। इसमें भी सबका साध्य एवं सबको सुखद और सुलभ होने के कारण काम का दुरुपयोग होना अत्यधिक सम्भव होता है। अतः आचार्यों ने काम के वास्तविक स्वरूप एवं समुचित उपयोग के लिए अनेक ग्रन्थ बनाये।

---

१. रसो वै सः। रसंह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। —तै० उ०
२. ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः —गीता, ५।२०
३. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्यहृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्रब्रह्म समश्नुते॥ —बृ० उ० ४।४।७
४. यश्च अकामहतः एष एव परम आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। —साइन्स आफ इमोशन्स में उद्धृत।
५. ई० उप०।

काम-पुरुषार्थ-विवेचक आचार्य मल्लनाग वात्स्यायन तथा उनका काम-सूत्र—उनमें एक आचार्य मल्लनाग वात्स्यायन थे। वात्स्यायन उनका गोत्रनाम समझ पड़ता है। उन्होंने लोक-कल्याण के लिए अपने काम-सूत्रों का विवरण किया। उनका कहना है कि मनुष्य शतायु माना गया है। उसे अपनी आयु को चार भागों में बांट कर त्रिवर्ग का सेवन (उपभोग) करना चाहिए। ये त्रिवर्ग परस्पर अनुबद्ध हों तथा परस्पर उपघातक (बाधक) भी न हों[१]। फिर भी उन्होंने वयःक्रम से इन पुरुषार्थों के उपभोग का उपदेश किया—बाल्य-काल में विद्याध्ययनादि रूप अर्थ, यौवन में काम, स्थविर अवस्था में धर्म तथा मोक्ष सेवन करे[२]। किन्तु आयु की शतवर्षिता निश्चित न होने के कारण वात्स्यायन ने यह भी कहा कि जब जो बन पड़े तब उसका सेवन[३] करे। इस प्रकार बाल्यकाल में भी अर्थ के साथ धर्मार्जन करना उचित है, यौवन में काम के साथ धर्मार्थ का तथा स्थविर वय में धर्म के साथ यथाशक्ति अर्थ-काम का भी अर्जन किया जा सकता है। किन्तु इसी प्रसंग में वात्स्यायन ने इस बात पर बल देकर कहा कि विद्याग्रहण तक तो ब्रह्मचर्य आश्रम का ही जीवन बिताना चाहिए[४]—इस विषय में अर्थशास्त्र के मनीषी कौटिल्य का भी कहना है कि विद्या एवं विनय का हेतु इन्द्रियजय होता है। उसका काम, क्रोध, लोभ, मान, मद तथा हर्ष के त्याग से अभ्यास किया जाता है। इसे अरिषड्वर्ग कहते हैं। इनके त्याग से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पांच विषयों में जो अविप्रतिपत्ति हो, उसे इन्द्रिय-जय कहते हैं, अथवा शास्त्रोक्त प्रकार से भी इनका सेवन इन्द्रियजय रूप है[५]।

त्रिवर्ग में काम का महत्त्व—किन्तु इस बात पर सभी आचार्यों का प्रायः ऐकमत्य है कि त्रिवर्ग का समान रूप से ही उपयोग करना चाहिए इसमें क्या धर्मशास्त्रकार, क्या अर्थशास्त्रकार, और क्या कामशास्त्रकार, किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है। मनु का भी वचन है—धर्म, काम तथा अर्थ तीनों की चिन्ता करनी चाहिए[६]। इसी प्रकार महामति कौटिल्य का उद्घोष है—'धर्म और अर्थ से सम्मत काम का सेवन करना चाहिए। सुख-रहित नहीं रहना चाहिए। त्रिवर्ग का परस्पर समान अनुपात रहना चाहिए। किसी एक का अतिशय सेवन अपनी तथा अन्य दो की हानि करता है[७]।' आदिकवि ने

---

१. काम सू० १।२।१-४

२. बाल्ये विद्याग्रहणादीन् अर्थान् कामंचयौवने स्थविरे धर्मं मोक्षं चेति। —वही १।२।२-४

३. अनित्यत्वादायुषो यथोपपादं वा सेवेत। —वही १।२।५

४. ब्रह्मचर्यमेव त्वाविद्याग्रहणात्। —वही १।२।६

५. कौ० अ० १।३।६-७

६. चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् —म० स्मृ० ७।१५१।

७. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निस्सुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एकोह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। —कौ० अ०

भी मर्यादापुरुषोत्तम के मुख से समान रूप से त्रिवर्गसाधन का उपदेश भरत के लिए दिलवाया है—'हे भरत कहीं अर्थ से धर्म को या धर्म से अर्थ को अथवा फिर काम से धर्म, अर्थ दोनों को पीड़ित तो नहीं करते हो। अर्थ, काम एवं धर्म का सम्यक् कालविभाग करके सेवन तो करते हो न[१] ?'

मनु ने इन्द्रिय-संयम को केवल विद्याध्ययन का ही नहीं अपितु सभी अर्थों अर्थात् पुरुषार्थों का साधक बताया है—'इन्द्रियों को वश में करके तथा मन को संयत करके मनुष्य को अपने सभी प्रयोजनों को सिद्ध करना चाहिए[२]।' और, सभी इन्द्रियों के वश में रहने पर भी यदि एक भी च्युत हुई तो उसके साथ मनुष्य की बुद्धि भी च्युत हो जाती है[३]। सुख-साधक पुरुष इन्द्रियों का संयम करके सिद्धि प्राप्त करता है[४]। यहां पर भी सिद्धि का अर्थ पुरुषार्थ-सिद्धि ही है।

किन्तु इन्द्रियजय की इतनी प्रशंसा करते हुये भी, पुरुषार्थचतुष्टय का उसे प्रधान साधन बताते हुए भी, हविष् डालने से अग्नि की भांति कामोपभोग से काम-शान्ति को असम्भव बताते हुये भी, तथा काम-प्राप्ति की अपेक्षा काम-त्याग की प्रशंसा करते हुये भी मनु आदि धर्मशास्त्र के आचार्यों ने अकामता अथवा कामहीनता की कभी प्रशंसा नहीं की है। उनका कहना है कि काम, संकल्पमूलक है, यज्ञ, व्रत, यम, धर्म आदि का मूल अथवा प्रेरक है। यहां पुरुष जो कुछ ऐहिक अथवा आमुष्मिक क्रिया करता है वह सब कामकारित ही होती है[५]। क्योंकि जो व्यक्ति अकाम है, वह कोई चेष्टा ही नहीं करेगा[६]। मन की सर्वप्रथम सन्तान काम ही है। मन से सर्वप्रथम काम ही तो उत्पन्न होता है[७]। अतएव काम को मनोज कहा जाता है। जीवन समस्त रूप से काम-संचालित ही होता है। अतएव उपनिषद् में पुरुष (आत्मा) को काम का संघात कहा गया है[८]। सृष्टि के आरम्भ में वह एकाकी था, उसकी प्रथम कामना स्त्री के लिए हुई[९]। अकेले में उसको आनन्द नहीं मिलता था। अकेले सुख मिलता भी नहीं। अतः उसने अपने ही दो रूप किए—पति और पत्नी[१०]। इस प्रकार

---

१. वा० रा०, अयो० का० १००।६२-६३
२. म० स्मृ० २।१००
३. वही २।९९
४. संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति। वही
५. बृ० उ० ४।४।५
६. म० स्मृ० २।४
७. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। —ऋग्वेद ५।१०
८. य एवायं काममयः पुरुषः स एषः। —बृ० उप० १।४।१७
९. आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात्। —वही १।४।१७
१०. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते सद्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री-पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, इममेवात्मानं द्वेधा पातयात्ततः पतिश्चपत्नीचाभवताम्।—वही १।४।३

वस्तुतः पुरुष-स्त्री एक दूसरे के पूरक होते हैं—मानों दो आत्मायें एक दूसरे की खोज में हों। अतः यह सत्य है कि मनुष्य ही नहीं, सम्पूर्ण चराचरजगत् काममूलक है। यह सारी सृष्टि- रचना ही परम पुरुष की संकल्पात्मिका अथवा कामात्मिका है। जब उसे इच्छा हुई कि 'मैं बहुत होऊं'[1] तभी यह चराचरात्मक स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् प्रादूर्भूत हुआ। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि सृष्टि के मूल में ही काम है।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परमेश्वर अपनी योनिभूत प्रकृति में सभी भूतों (प्राणियों) के प्रजनन के लिये गर्भ का आधान करता है। इस प्रकार मनुष्यादि योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उनकी मातृस्थानीया है तथा परमेश्वर बीजप्रद गर्भाधानादिकर्त्ता पितृ-स्थानीय[2] है। इस प्रकार प्राणियों में यह दाम्पत्य सम्बन्ध पुरुष-प्रकृति का प्रतीक रूप है। इसलिये कहा गया है—'सभी पुरुष शङ्करकररूप है तथा सभी स्त्रियाँ पार्वतीरूप[3] हैं। यह संकल्प-मूलक काम पुरुषों में सर्वमय कहा गया है—इसी से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, काम से बढ़ते हैं तथा अन्त में काम में लीन हो जाते हैं[4]। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये काम की ही तीन मूर्तियां कहे गये हैं[5]। महाभारत में भी इस संकल्पात्मक काम को सनातन जगत्पति, सर्वज्ञ तथा सब प्राणियों के हृदय में स्थित रुद्र से भी ज्येष्ठ कहा गया है[6]। यहाँ तक कि जो ब्रह्म रूप पर, दिव्य, अमृत आनन्द है, जिसे परमात्मा भी कहते हैं, वह भी काम का ही विकार अथवा रूपान्तर है[7]। इसी प्रकार भागवत पुराण में भी पुरुषार्थचतुष्टय को भी वस्तुतः कामचतुष्टय ही कहा है[8]। भरत मुनि ने

---

१. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय....... । वही

२. गीता १४।१३-३४

३. शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी ।—शि० पु०, धर्म० सं० ८

४. कामः सर्वमयः पुसां स्वसंकल्पसमुद्भवः ।
कामात्सर्वेप्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः ।। —वही धर्म, सं० अ० ८

५. कामस्यैषा हि सा मूर्तिः ब्रह्मविष्ण्वीश्वरात्मिका । वही, सं० अ० ८

६. सनातनोहि संकल्पः कामइत्यमिधीयते ।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ।।
जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः ।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ।। —म० भा०, अनु० प०

७. आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते ।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराःकामसंज्ञिताः ।। —शि० पु०, ध० सं० आ० ८

८. यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।।८।३।१९।

भी धर्म, अर्थ तथा मोक्ष को भी काम का ही विषय अथवा विकार कहा है।[1] कामसूत्र की जयमङ्गला टीका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण रूप में यशोधर ने धर्मार्थकाममोक्ष रूप वाले काम को नमोवचन कहा है।[2] इससे यह निष्कर्ष निकला कि धर्माचरण, अर्थोपार्जन, कामसेवन तथा मुमुक्षा के मूल में क्रमशः धर्मकामता, अर्थकामता, कामकामता तथा मोक्षकामता ही रहती है—अर्थात् धर्मार्थकाममोक्ष चारों काममूलक ही हैं। अतएव महाभारत में एक स्थान पर काम ने धर्म, अर्थ, काम की अवहेलना कर मोक्ष की कामना से प्रयत्न करने वाले व्यक्ति की मुधा चेष्टा का बड़ा उपहास किया है, क्योंकि तीन न सही चौथी मोक्ष-रति तो उसमें है ही फिर कामहनन कैसे हुआ।[3] शान्ति पर्व में तो धर्म तथा अर्थ से काम की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है कि जैसे पेड़ में पुष्प एवं फल उसके काष्ठ से श्रेष्ठ होते हैं, वैसे ही काम-पुरुषार्थ धर्म, अर्थ दोनों से श्रेष्ठ है, तथा उन दोनों में भी व्याप्त रहता है।[4] अतएव गीता में मोक्षप्रवणता को आत्मरति अथवा आत्मकाम नाम ही दिया गया है, जिसके होने पर फिर कोई कार्यान्तर शेष नहीं रहता। उसे परम काम अथवा परम रति संज्ञा दी गयी है। जैसे प्रिय स्त्री से संपरिष्वक्त होकर पुरुष को आनन्दातिरेक में न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है न भीतर का, उसी प्रकार पुरुष को प्राज्ञ आत्मस्वरूप से सम्परिष्वक्त होने पर फिर न कुछ अन्य बाह्य ज्ञान रहता है न आभ्यन्तर। वह उसका आप्तकाम अथवा अकाम स्वरूप होता है।[5] अस्तु ! तो इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ इस स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का आभ्यन्तर या बाह्य, ऐहिक या आमुष्मिक कार्यजात है वह सब काममूलक ही है। यह तो भारतीय विचारधारा के अनुसार हुआ। पाश्चात्यों का तो कहना ही क्या? वहां तो काम की प्रभविष्णुता प्रायः निर्विवाद रूप से स्वीकृत हैं—'सभी विचार, सभी भाव, सभी हर्ष, जो प्राणी को स्पन्दित करते हैं, प्रेम अथवा काम के सहायक रूप हैं और उसकी पावन ज्वाला को उद्दीप्त किया करते हैं।'[6]

---

१. धर्मकामोर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो यःकामःसतुसंस्मृतः ॥ —ना० शा० २४।९१

२. नमो धर्मार्थकामेभ्यस्तत्कामेभ्यो नमोनमः ।
त्रिवर्गमोक्षकामेभ्योऽकामेभ्यस्त्वमितं नमः ॥

३. यो मां प्रयततेहन्तुं मोक्षमास्थायपण्डितः॥
तस्यमोक्षरतिस्थस्य नृत्यामिच हसामि च ॥ —म० भा०, आश्व० प० १८-१

४. श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामोधर्मार्थयोर्वरः ।
कामोधर्मार्थयोर्योनिःकामश्चाथ तदात्मकः ॥

५. यथा प्रिययास्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरं तदा अस्यैतदात्मकाममात्मकाममकामं रूपम् ॥
—बृ० उ० ४।३।२१

६. All thoughts, all passions, all delights,
whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of love,
And feed his sacred flame.—Coleridge

समस्त जीवन-चेष्टाओं के मूल राग और द्वेष—इस सारी समस्या पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया गया है। प्राणियों की कर्म-प्रवृत्ति के मूल में दो भाव होते हैं—राग तथा द्वेष। कहीं वह राग के कारण प्रवृत्त होता है तो कहीं से द्वेष के कारण निवृत्त होता है, अथवा विमुख होता है। मन से या इन्द्रियों (शरीर) से जो कुछ भी कार्य किया जाता है उसके मूल में प्रेरक रूप से राग या द्वेष अवश्य रहता है। अनुकूल विषयों के प्रति राग होता है तथा प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष होता है, और तदनुरूप ही प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। यही प्राणियों का स्वभाव है। अतएव गीता कहती है—'प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय के प्रति राग या द्वेष व्यवस्थित रहता है।'[१] जो वस्तु अपने को रुची, उसमें राग होता है, उसका संयोग चाहिए, और उसी का अन्त में उपादान किया जाता है, तथा जिससे द्वेष हुआ, उससे दूर भागना होता है और अन्त में उसका हान (त्याग) किया जाता है। सभी मनोविकारों के ये राग-द्वेष कैसे प्रवर्तक होते हैं, इसका अग्रिम अध्याय में सविस्तर विवेचन किया जायगा। यहां इतना ही कहना है कि आत्मप्रिय वस्तु में राग तथा आत्माप्रिय वस्तु में द्वेष होता है। ये ही राग-द्वेष सुख-दुःख के पर्याय हैं। राग के कारण जो सुख की अनुभूति होती है, उसमें प्राणी अपना विकास या विस्तार अनुभव करता है, अपने को कुछ अधिक समझता है तथा अन्यों से अपने को बढ़कर मानता है। यह तो इसी अध्याय में बता चुके हैं कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतों से सभी मनोभावों के मूल में एक राग या प्रेम भाव रहता है। यही राग प्राणियों में अहन्ता, ममता, आत्मीयता, आदि रूप से उनको विविध चेष्टाओं में प्रवृत्त करता है, जो वस्तुतः इसी राग के क्रियारूपी विकार हैं। यही राग पिता आदि गुरुओं के प्रति भक्ति-रूप में, दार आदि के प्रति प्रेम-रूप में तथा पुत्रादि के प्रति वात्सल्य-रूप में अभिव्यक्त होता है। उन विद्वानों के मत से द्वेषनामक किसी मनो-भाव की अलग से सत्ता ही नहीं होती। वह तो केवल राग का अभावरूप है।[२] गीता में भी द्वेष या क्रोध को काम से पृथक् नहीं कहा गया है, अपितु वही काम विघ्नित अथवा प्रतिहत होने पर क्रोधरूप में परिणत होता कहा गया है—अर्थात् क्रोध काम का परिणाम अथवा कामजन्य है। और काम रजोगुणमूलक अर्थात् रागमूलक है यह तो भूयोभूयः उद्घोषित है ही।[३] और यही राग या संयोगेच्छा या प्रेप्सा जीवन के मूल में मानी गयी है। सम्भवतः इसी को फ्रायड आदि ने स्त्री-पुरुष की 'यौनसम्बन्धभावना', आडलर आदि ने 'हीनतापूर्त्ति की भावना', युङ्ग आदि ने 'स्वत्वरक्षा की भावना' आदि नाम दिये हैं। यदि विचार से देखें तो पूर्वोक्त इन तीनों मतों में पूर्णता की प्रेप्सा ही समान रूप से अन्तर्निहित है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय के लक्षण एवं स्वरूप—अब देखना है कि आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का क्या लक्षण एवं स्वरूप बताया है, जिनमें इतना

---

१ गीता ३।३४

२ ओरिजिन आफ लव एण्ड हेट। —अध्याय ५

३ गीता ३।३७

प्राधान्य इस काम को दिया गया है। धर्म का इनमें प्रथम स्थान है। यज्ञादि उचित कार्यों का शास्त्र-सम्मत अनुष्ठान तथा मांसभक्षणादि अनुचित कार्यों का शास्त्रानुसार ही वर्जन धर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में, शास्त्रानुसार प्रवृत्तिनिवृत्ति अथवा विधिनिषेध को धर्म कहते हैं[१]—इस प्रकार के धर्म का ज्ञान अथवा लाभ श्रुति, स्मृति आदि धर्मग्रन्थों की अवधारणा से तथा उनके तत्त्वज्ञों के संसर्ग से प्राप्त होता है।[२]

अर्थ-पुरुषार्थ भौतिक वस्तुओं अर्थात् विद्या, धन, धान्य, मित्र आदि का अर्जन, रक्षण तथा वर्धन कहलाता है।[३] अर्थ में पटुता अर्थशास्त्र के ग्रन्थों से तथा उन-उन विभिन्न विषयों के रहस्यवेदियों से प्राप्त होती है।[४]

काम पुरुषार्थ सामान्य भाषा में स्त्री-पुरुष के परस्पर स्नेह को कहते हैं।[५] किन्तु शास्त्रीय ढंग से इसकी परिभाषा अन्य प्रकार से भी की जाती है। इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति अभिलाष अथवा इच्छा को काम कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशेष। सामान्य काम वह है, जिसमें आत्मसम्मत मन से अधिष्ठित अथवा सर्वात्मना मनसहित श्रोत्रत्वक् आदि इन्द्रियों का शब्दस्पर्श आदि विषयों में अनुकूलता के साथ प्रवृत्ति होती है[६]–इसमें काम का भोक्ता भी पर्यन्ततः आत्मा को कहा गया है। 'यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण तथा मन का आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारे से विषयों का उपभोग करता है।'[७] यही सामान्य काम प्राणी के मन में सर्वप्रथम उदित होता है—इसी के लिए श्रुति का कहना है—'मन में सर्वप्रथम काम का बीजांकुर हुआ।' इसी काम को साधारण भाषा में 'कामना' कहते हैं। और, विशेष काम वह है, जो स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श-विशेष से उत्पन्न आभिमानिक सुख-बोध रूप होता है।[८]

काम का अधिष्ठान मन—काम का अधिष्ठान मन कहा गया है। अतएव श्रुति का कहना है कि—'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि,

---

१. का० सू० १।२।७

२. तं श्रुतेर्धर्मज्ञसमवायाच्च प्रतिपद्यते। —वही १।२।८

३. विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थः। वही १।२।९

४. 'तमध्यक्षप्रचाराद् वार्तासमयविद्भ्यो वणिग्भ्यश्चेति।'—वही १।२।१०

५. स्त्रीषुजातोमनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषुवा।
   परस्परकृतः स्नेहः कामइत्यमिधीयते॥ —शार्ङ्गधर १।६

६. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेनमनसाधिष्ठितानां स्वेषुविषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः।—का० सू० १।२।११

७. गीता १५।९

८. का० सू० १।२।१२

भय ये सब मन के ही रूप हैं।'[१] गीता में तो काम का अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि—तीनों को बताया गया है—'इन्द्रियां, मन और बुद्धि इस काम के वास-स्थान कहे जाते हैं। इनके द्वारा ही यह ज्ञान को आच्छादित कर इस जीवात्मा को मोहित करता है।'[२] देखना सुनना आदि इन्द्रियों का कार्य है, संकल्प-विकल्प आदि मन का कार्य है तथा अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है। यह काम विषय के दर्शन श्रवणादि से, संकल्प से तथा अध्ययवसाय से आविर्भूत होता है, अतः इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि तीनों इसके अधिष्ठान कहे गये हैं। इन तीनों में अधिष्ठित होकर काम मनुष्य के विवेक-ज्ञान पर आक्रमण करता है।[३]

कामशास्त्र की आवश्यकता—इस कामपुरुषार्थ का विशिष्ट ज्ञान कामसूत्र आदि ग्रन्थों अथवा उन शास्त्रों के विशेषज्ञ नागरिकों से होता है। यद्यपि धर्म तथा अर्थ के उपदेश के लिये तो शास्त्र की अपेक्षा होती है, किन्तु काम के लिए, स्वभावसिद्ध होने के कारण, कोई शास्त्र न चाहिए। स्वकान्तारमण में मृग-पक्षियों का कौन गुरु होता है।[४] वस्तुतः न्याय-सिद्धान्तानुसार आत्मारूपी द्रव्य में इच्छा, द्वेष आदि गुण सदैव विद्यमान रहते ही हैं।[५] अतः इच्छामूलक काम का वहां नित्य निवास स्वयंसिद्ध हुआ। अतएव प्राणियों की बुद्धि स्वभाव से ही विषयेच्छानुवर्तिनी होती है।[६] किन्तु मनुष्य एक बुद्धियुक्त सामाजिक प्राणी है। वह केवल पशुवृत्ति से ऐन्द्रियसुख नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने में उसके समाज के ही विशृङ्खल हो जाने का डर है। अतः जैसे वह धर्म की पृष्ठभूमि पर अर्थोपार्जन करता है, उसी प्रकार कामोपभोग भी धर्म के साथ ही करना चाहता है। अतएव पद्मपुराण का कहना है कि—'मनीषियों ने शास्त्रों में इस प्रकार निर्णय किया है कि धर्म से अर्थसिद्ध होता है, अर्थ से काम तथा काम से धर्मफल का उदय होता है।'[७] और इसीलिए प्राणियों की बुद्धि पर कामविषय में नियन्त्रण आवश्यक बताया गया है—'उनमें प्रवृत्ति तो प्राणियों का सहज स्वभाव है, अभीष्टफल तो उनसे निवृत्ति में मिलता है।[८]

---

१. गीता के १३।६ की व्याख्या में श्रीधर द्वारा उल्लिखित।

२. इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। —गीता ३।४६

३. गीता (श्रीधर व्याख्या) ३।४०

४. विनोपदेशं सिद्धोहि कामो नाख्यातशिक्षितः।
स्वकान्तारमणोपायेकोगुरुर्मृगपक्षिणाम्॥ —जयमङ्गला, का० सू० १।२।२१

५. बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रगुणाः। —तर्कसंग्रह

६. विषयेच्छानुवर्तिन्यो निसर्गात् प्राणिनांधियः। —जयमङ्गला, का० सू० १।२।२१

७. धर्मादर्थोऽर्थतःकामःकामाद्धर्मफलोदयःइत्येवं निर्णयंशास्त्रेप्रवदन्तिमनीषिणः।—२२।८३,

८. भा० पु० ११।५।११

गीता ने भी धर्म से सम्मत ही काम की प्रशंसा की है[1] अतः मनुष्य को अपने काम पुरुषार्थ के सम्पादन में अनेक उपाय, विविध उपकरण एवं यथाशक्ति पूर्ण औचित्य का संयोजन करना पड़ता है। काम सम्पादन में भी उसकी शिव एवं सौन्दर्य की भावना बराबर बनी रहती है। अतः उस उपाय-औचित्य आदि के लिए वह नियामक अथवा उपदेष्टा की अपेक्षा एवं स्वागत करता है।[2] और उसका ज्ञान सर्वोत्तम रूप से 'कामसूत्र' से प्राप्त हो सकता है यह वात्स्यायन का मत है।[3]

जीवन में कामपुरुषार्थ की आवश्यकता एवं वैशिष्ट्य—लोक-यात्रा की सुव्यवस्थिति के हेतु भावी श्रेय को प्राप्त करने के लिए धर्माचरण उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे भावी सस्य के लिए हस्तगत बीज का त्याग। और, जैसे, इस सिद्धान्त के रहते हुए भी कि काल ही पुरुषों को अर्थानर्थ, जय-पराजय तथा सुख-दुःख देता है, अतः अर्थसिद्धि भाग्याधीन ही होती है इत्यादि, लोग अर्थोपार्जन के लिए प्रयत्न अवश्य करते हैं, क्योंकि निष्कर्मा को कल्याण प्राप्त होता ही नहीं,[4] उसी प्रकार, समस्त दोपराशि से आपूर्ण होते हुए भी, धर्म, अर्थ, मोक्ष—सब का विरोधी होते हुए भी, असद्व्यवहार, अशौच, प्रमाद, लाघव, अप्रत्यय तथा अग्राह्यतादि निन्द्य दोषों को उत्पन्न करने वाला होते हुये भी, 'काम-वश अनेक राष्ट्रों के नरेश सगण नष्ट हो गये'[5] इत्यादि आप्तवचन से महान् प्रणाश का हेतु होते हुए भी, शरीरयात्रा को सन्तुलित रखने के लिए, स्वाभाविक रोग उन्मादादि के प्रशमन के लिए, जैसे शरीरस्थिति के लिए अजीर्णतादि दोषों के उत्पादक होते हुए भी प्रतिदिन आहार परमाश्यक होता है, उसी भांति, मनुष्य के लिये कामपुरुषार्थ का सेवन परमावश्यक है।[6] धर्म और अर्थ का तो यह काम फलरूप है यह पहले ही कहा जा चुका है। धर्माचरण तथा अर्थोपार्जन दोनों कामसुख की सिद्धि के लिए किये जाते हैं। वह सुख-सिद्धि कुछ तो ऐहिकी होती है और कुछ सर्वथा आमुष्मिकी। अतः प्रथमतः ही दोषदृष्टि रखकर काम का सर्वथा तिरस्कार करना जीवन को अपूर्ण अथवा व्यर्थ करना है, जैसा कि कहा गया है—'सुख के प्रति द्वेषभाव रखने वाले मनुष्यों का जीवन तृणों की भाँति निष्फल है। अतः आचार्यों का कहना है कि दोषों को दूर किया जाय न कि सुख को।[7] 'अतः धर्म, अर्थ की भांति काम का भी

---

1. धर्माविरुद्धोभूतेषुकामोऽस्मिभरतर्षभ। —गीता 7।11
2. 'सम्प्रयोगपराधीनत्वात् स्त्रीपुंसयोरुपायमपेक्षते।—का० सू० 1।2।22
3. सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः।—वही 2।2।23
4. वही 1।2।36
5. 'बहवश्च कामवशगाः सगणा एव विनष्टाः श्रूयन्ते'।—वही 1।2।43
6. 'शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणोहिकामाः'।—वही 1।2।46
7. 'तृणानामिव हिव्यर्थं' नृणांजन्मसुखद्विषाम्।
   दोषास्तुपरिहर्तव्याइत्याचार्यैः स्थिरीकृतम्॥ —का० सू० 1।2।48 पर जयमङ्गला

सेवन उसी आस्था से करना चाहिए और ऐसा करने से ऐहिक तथा आमुष्मिक निष्कण्टक ऐकान्तिक सुख मिलता है।'[1]

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो इन तीनों में धर्म गरिष्ठ, अर्थ गरीयान्, तथा काम गुरु है यह इनके गौरव का तारतम्य है[2]—किन्तु इसका तात्पर्य यह कथमपि नहीं कि किसी गुरुतर को अपना ले और अन्य का एकदम त्याग या उपेक्षा कर दे, क्योंकि ऐसा करने से फिर जीवन की असफलता अथवा अपूर्णता आ घेरेगी। जैसे—धर्मरूप में यदि अधिक दान देने लगें तो अर्थ हानि और फलतः काम अथवा सुखक्षति होने लगेगी; अत्यन्त अर्थ-परायण होने पर न धर्म बन पायेगा न काम प्राप्त होगा; और एकान्ततः कामासक्त होकर तो मनुष्य सर्वतः भ्रष्ट हो ही जाता हैं। अतः जो इन तीनों की आवश्यकता का रहस्य जानता है उसे किसी एक में मोह अथवा बुद्धिविपर्यय नहीं होता। वह तीनों का विवेक के साथ सेवन करता है। अतएव कामशास्त्रतत्त्वज्ञ की प्रशंसा में वात्स्यायन कहते हैं—'इस शास्त्र का तत्त्वज्ञ धर्म, अर्थ काम को तथा लोक को यथावत् रूप में देखता है तथा उनमें राग-वश प्रवृत्त नहीं होता।'[3] क्योंकि कामशास्त्र का तत्त्ववेत्ता व्यक्ति लोक में अपनी धर्मार्थकामसम्बन्धिनी स्थिति को दूसरे मनुष्य के साथ बिना उपघात किये, ठीक से संभाले हुये जितेन्द्रिय ही बनता है।

वात्स्यायन के कामसूत्र-रचना का उद्देश्य एवं स्वरूप—कामसूत्रकार वात्स्यायन का समय प्रायः विक्रम से पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास कहा जा सकता है। उन्होंने सात अधिकरणों में अपने इस ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने लोकस्थिति का सूक्ष्म एवं विस्तृत निरीक्षण कर लोक-कल्याण के लिए ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। उसी लोक-कल्याण की भावना के कारण वात्स्यायन ने यत्र तत्र अपने गरीयान् विचारों को भी प्रकट किया है, जैसे 'कन्यासम्प्रयुक्तअधिकरण' के प्रारम्भ में वे सवर्णा, अनूठा, कन्या का शास्त्रपूर्वक पाणि-ग्रहण करना सर्वथा श्रेयस्कर बताते हैं, क्योंकि उससे धर्म, अर्थ, पुत्र, सम्बन्ध, पक्षवृद्धि तथा अकृत्रिम रति प्राप्त होती है[4]। योग्य वरवधू का विवेचन करते हुए उन्होंने विद्वान् वर को योग्य कन्या के साथ ही विवाह करने में कल्याण प्राप्ति का निर्देश किया है[5]। ऐसी ही के साथ विवाह करके विद्वान् वर अपने को सफल समझता है तथा समवयस्कों आदि की निन्दा

---

१. एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः। इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तंसुखमश्नुते॥
—का० सू० १।२।४८

२. वही १।२।१४

३. धर्म मर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्यतत्त्वज्ञो न च रागात् प्रवर्तते॥ —वही ७।२।५३

४. वही ३।१।१

५. वही ३।१।२

नहीं पाता[१]। इसी प्रकार एक-नारीव्रत की प्रशंसा करते हुये तथा बहुललनालम्पट की निन्दा करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—"दरिद्र भी, निर्गुण भी पति यदि अपने से स्नेह करता है एवं भरण-पोषण करता है तो कहीं श्रेष्ठ है, उस गुणी पति की अपेक्षा, जो अनेक ललनाओं में रमण करता है"[२]। फिर, स्त्री-सदाचार की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—किसी भी प्रकार की स्त्री हो उसे सदाचार का अनुवर्तन करना चाहिए, केवल अपने पति (नायक) का हित करना चाहिए[३]। स्त्री के सदाचार की तो वात्स्यायन भूयोभूयः प्रशंसा करते हैं—सदाचार के बल पर स्त्रियाँ धर्म, अर्थ, काम, उत्तमस्थान (गृह) तथा निःसपत्नपति सब कुछ प्राप्त करती हैं।[४] ऐसे ही पारदारिक प्रकरण में वे कहते हैं—'इसमें काम-प्रयोग पूर्णरूप से नहीं किये जा सकते, विघ्न अनेकों होते हैं तथा इसमें धर्म, अर्थ दोनों की हानि होती है, अतः परदारगमन नहीं करना चाहिए[५]। बल्कि इस परदारप्रकरण के विवेचन को ही व्यतिरेकमुखेन उन दोषों से स्वदाररक्षा के लिए बताते हैं।[६] अतः कुछ लोगों का यह विचार कि 'कामसूत्र' इन्द्रियवाद के प्रचार के लिए तथा अकाम पुरूष को भी कामोन्मुख करने के लिए है, केवल भ्रान्त ही कहा जायगा। भारतीय विचार-पद्धत्ति मनुष्य के लिए जितना धर्मार्थ के ज्ञान एवं आचरण के लिए निर्देश करती है उतना ही काम पूरुषार्थ के भी ज्ञान एवं आचरण पर बल देती है।

आगे इसी प्रबन्ध में हम देखेंगे कि शृंगार रस का विवेचन करने वाले प्रायः सभी आचार्यों ने रतिभाव तथा नायक-नायिका आदि के विषय में कुछ कहते समय प्रायः 'कामसूत्र' का ही आलम्बन लिया है। प्रायः काव्यों का विषय तो कामोपचार से आपूर्ण होता है[७]। और कामोपचार का यथार्थ ज्ञान केवल-कामशास्त्र से हो सकता है[८]। कामपुरुषार्थ पर वात्स्यायन का कामसूत्र ही अकेला मौलिक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य सब तो उसी के उपजीवक हैं। अतः संक्षेप में यहां उसके प्रतिपाद्य विषय का बिहङ्गावलोकन कर लेना अनुपयुक्त न होगा। तन्मुखेन कामपुरुषार्थ का भी उपयुक्त विवेचन हो जायगा।

---

१. "यां गृहीत्वा कृतिनमात्मानं मन्येत न च समानैर्निन्द्यते।" —का० सू० ३।१।३

२. वरं वश्यो दरिद्रोऽपि निर्गुणोऽप्यात्मधारकः।
गुणैर्युक्तोऽपि न त्वेवं बहुसाधारणः पतिः॥ —वही ३।४।५५

३. वही ४।१।५४

४. वही ४।१।५५

५. वही ५।६।५१

६. तदेतद्दारगुप्त्यर्थमारब्धंश्रेयसेनृणाम्।
प्रजानां दूषणायैव न विज्ञेयोह्ययं विधिः॥ —वही ५।६।५२

७. कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति—वामन, का० सू० वृ० १।३।८

८. "कामशास्त्रतः कामोपचारस्य"—वही १।६।३

कामसूत्र' को वात्स्यायन ने सात अधिकरणों में विभक्त किया है। प्रत्येक अधिकरण में अनेक अध्याय हैं। कुल मिलाकर सातों अधिकरणों में छत्तीस अध्याय होते हैं। फिर प्रत्येक अध्याय में विविध-संख्याक प्रकरण हैं, जो सब मिलाकर चौंसठ होते हैं, और हर एक प्रकरण में अनेक सूत्र एवं श्लोक हैं।

प्रथम अधिकरण में सर्वप्रथम कामशास्त्र का इतिहास बताते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि प्रजापति द्वारा निर्मित त्रिवर्गसाधन शास्त्र से काम-प्रतिपादक भाग लेकर महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्राध्यायी ग्रन्थ लिख डाला[1]। नन्दी के उस सहस्राध्यायी ग्रन्थ को श्वेतकेतु औद्दालिक ने पांच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। नन्दी के उस सहस्राध्यायी ग्रन्थ के अनन्तर कामविषय का विवेचन पाञ्चाल देश में बड़ा प्रचलित हुआ। वहां (पाञ्चाल में) बाभ्रव्य ने डेढ़ सौ अध्यायों के एक ग्रन्थ का निर्माण कर श्वेतकेतुरचित पञ्चशताध्यायी कामसूत्र का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने सात अधिकरणों (प्रतिपाद्यविषयों) में सम्पूर्ण शास्त्र को विभक्त किया। वे सात अधिकरण इस प्रकार थे—साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक। फिर कालक्रम से चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, दत्तक तथा कुचुमार इन सात आचार्यों ने पूर्वोक्त सात अधिकरणों में यथाक्रम एक-एक को लेकर पृथक्-पृथक् उन्हीं एक-एक पर शास्त्र-रचना की। फलतः बाभ्रव्य पाञ्चाल द्वारा निर्मित वह कामसूत्र प्रायः छिन्न-भिन्न-सा हो गया,[2] क्योंकि अब पृथक्-पृथक्, विषयों पर चारणादि के निर्मित ग्रन्थ लोगों को सुलभ हो गये। और फिर, बाभ्रव्य का 'कामसूत्र' कुछ दुरध्येय भी था। अतः वात्स्यायनगोत्रीय मल्लनाग-नामक आचार्य ने बाभ्रव्य तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का अनुसरण कर अपने 'कामसूत्र' का निर्माण किया[3]।

फिर त्रिवर्ग-प्रतिपत्तिनामक द्वितीय अध्याय में धर्म, अर्थ, काम—तीनों पुरुषार्थों का अवस्थाक्रम से उपार्जन तथा उन तीनों का इस जीवन-काल में परमोपयोग बताया गया है।[4] प्रथम अधिकरण का तृतीय अध्याय विशेष महत्त्व का है। इसमें मल्लनाग का कहना है कि मनुष्य को धर्मार्थसम्बन्धिनी विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए[5]। यहां उन्होंने यह भी बताया है कि स्त्रियों को भी इस कामविद्या का अध्ययन करना चाहिए। हां, अध्यापक विश्वासपात्र कोई मिले तभी[6]। फिर इसी अध्याय में कामशास्त्र की अवयवभूत गीतादिक चौंसठ अङ्ग-विद्याओं (कलाओं) का निरूपण किया है। स्त्रियों को इन कलाओं के ज्ञान से

---

१. का० सू० १।१।८
२. वही १।१।१८
३. वही ७।२।५६
४. वही १।२।४६
५. वही १।३।१
६. तस्माद्वैश्वासिकाज्जनाद्रहसिप्रयोगाच्छास्त्रमेकदेशं वा स्त्री गृह्णीयात्। वही १।३।१

पति-संयोग तथा तद्वियोग दोनों दशाओं में महान् लाभ होता है। वियोग अथवा व्यसन दशा की तो ये कलायें ही अवलम्बन होती हैं[१]। और पुरुषों की इन कलाओं में कुशलता स्त्री-चित्त जीतने में बड़ी सहायक होती है[२]। अध्यायान्त में वे कहते हैं कि कला के ज्ञान से स्त्री-पुरुष दोनों का सौभाग्य ही बढ़ता है[३]।

चतुर्थ अध्याय में नागरिक वृत्त का विवेचन हुआ है—कहाँ वास करे, कैसा भवन हो, भवन में कितने कक्ष (कमरे) हों, शैय्या कैसी हो तथा स्नान, भोजन, शयनक्रीड़ा, दिन-चर्या, रात्रि-चर्या आदि कैसी हों, इनका विस्तार से निरूपण किया गया है। किन्तु जो नागरिक नगर में निवास करते हैं—जैसे, राजा, मन्त्री, श्रीमान् तथा धनी लोग उनकी ही पूर्वोक्त जीवनचर्या हो सकती है, ग्रामवासियों की नहीं। तो क्या ग्रामवासी जन के लिए कामपुरुषार्थ प्राप्त करना सम्भव नहीं ? क्या वे नागरिक-जीवन की प्रेरणाएं प्राप्त ही नहीं कर सकते ? इसके लिए वात्स्यायन ने यहां विचक्षणों की गोष्ठी आदि अनेक उपाय बताये हैं[४]।

प्रथम अधिकरण के अन्तिम अध्याय पांचवें में नायक के सहायक दूती आदि के कर्म का विमर्श किया गया है। कैसा नायक हो, कैसी नायिका के साथ गार्हस्थ्य स्वीकार कर नागरिक जीवन बिताये, कौन सहायक हों, क्या दूत के कर्म हों, आदि विषयों का यहां विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विषय में वात्स्यायन ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों का प्रायः अनुसरण किया है। वैवाहिक जीवन का उद्देश्य केवल रतिसुख ही प्राप्त करना नहीं है, अपितु सन्तान उत्पन्न करना भी है। अतः सवर्णा से ही विवाह श्रेयस्कर होता है[५]। तीन प्रकार की स्त्रियां नायिका वन सकती हैं—सर्वोत्तम तो कन्या होती है, फिर उससे अवर, पुनर्भू अर्थात् जो पहले अन्योढा होकर भी अक्षतयोनि हो; और उससे भी अवर, वेश्या। इसी प्रसङ्ग में वात्स्यायन ने पारदारिक विषय के विशेषज्ञ आचार्य गोणिकापुत्र का मत उल्लिखित किया है—कि परस्त्री का भी, पुत्र-सुख को छोड़कर, अन्य अनेक कारणों से अधिगमन किया जा सकता है, किन्तु परदारगमन है साहसिक्य ही।

---

१. वही १।३।२३

२. नरःकलासु कुशलो वाचालश्चाटुकारकः।
असंस्तुतोऽपि नारीणां चित्तमाश्वेव विन्दति ॥ वही १।३।२४

३. वही १।३।२५

४. ग्रामवासी च सजातान् विचक्षणान् कौतूहलिकान् प्रोत्साह्य नागरकजनस्य वृत्तं वर्णयच्छ्रद्धां च जनयंस्तदेवानुकुर्वीत, उपकारयेच्चेतिनागरकवृतम्। —वही १।४।४६

५. वही १।५।१

साहित्यशास्त्र में भी स्वकीया, परकीया, साधारण-स्त्री इस प्रकार तीन नायिकाओं का उल्लेख है; किन्तु कामशास्त्र में लोक की ही वस्तुस्थिति को देखकर उनका तीन प्रकार बताया गया है। साहित्य की नायिकाओं के वर्गीकरण का मूल तो रसमय कथावस्तु की विभावता अथवा प्रेमाख्यान की आलम्बनता है। कामसूत्र में किस प्रकार की स्त्री में सन्तानोत्पत्ति सम्भव तथा प्रशस्य होगी एवं किसमें रति-सुख सम्भव तथा अनिन्द्य है इस दृष्टि से नायिका-विचार किया गया है। अतएव यहां नायक-भेद नहीं किया गया है। कन्या, पुनर्भू, वेश्या—तीनों में प्रवर्तित होने वाला नायक (पुरुष) एक ही प्रकार का कहा गया है। यहां नायक के (नायिका को प्राप्त करने में) गुण तथा जाति के अनुसार सहायकों का भी विमर्श किया गया है। नाट्यग्रन्थों में नायक के सहायकों का वर्णन प्रायः कामसूत्र के अनुसार ही होता है। इस प्रकरण के अन्त में वात्स्यायन कहते हैं[१] 'आत्मवान् मित्रवान् युक्तो भावज्ञो देशकालवित्। अलभ्यामप्ययत्नेन स्त्रियं संसाधयेन्नरः॥" —का०सू०, १।५।४१ —यहां 'संसाधयेत्' का अर्थ है स्वपत्नी रूप में ग्रहण करे।

इसके पश्चात् द्वितीय अधिकरण आता है, जिसे साम्प्रयोगिक अधिकरण नाम दिया गया है। इसमें कुल दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार पुरुषों के शश, वृष तथा अश्व, स्त्रियों के मृगी, वडवा एवं हस्तिनी विभाग किये गये हैं। पद्मिनी, शङ्खिनी आदि भेद वात्स्यायन ने नहीं किये हैं— ये संज्ञायें परवर्ती कामसम्बन्धी ग्रन्थों में दी गयी हैं। फिर प्रमाण, काल तथा भाव की दृष्टि से रति का विवेचन किया गया है। यहां रस, रति, प्रीति, भाव, राग, वेग, समाप्ति—ये सब रति के पर्याय कहे गये हैं। यहां वात्स्यायन का कहना है कि प्रीति चार प्रकार से होती—अभ्यास से, अभिमान से, सम्प्रत्यय से तथा विषयों से। मृगया, नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि किसी विशिष्ट कर्म अथवा कला में उन कलाविदों को जो बार-बार अभ्यास से आनन्द मिलता है उसे आभ्यासिकी प्रीति कहते हैं। यह प्रीति शब्द, स्पर्श आदि विषयों से मिलने वाली प्रीति से भिन्न होती है।[२]

जो अभ्यस्त, अनभ्यस्त सभी प्रकार की वस्तुओं से संकल्पमूला अविषयात्मिका प्रीति होती है उसे आभिमानिकी प्रीति कहते हैं।[३]

सम्प्रत्ययरूपा प्रीति वह है जो किसी अनुभूत विषय से इतर विषय में "यह वही है, अन्य नहीं" इस प्रकार के सम्प्रत्यय से उत्पन्न होती है।[४]

---

१. का० सू० २।१।१

२. वही २।१।२

३. वही २।१।३

४. वही २।१।५

शब्द, रूप, रस आदि अनुकूल इन्द्रियविषयों की ओर श्रोत्र, नेत्र, रसना आदि इन्द्रियों के द्वारा जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रत्यक्षा प्रीति है। प्रत्यक्षा प्रीति प्रधान है, अतएव अन्य प्रीतियां भी अन्ततः इसी के लिए की जाती हैं।[1]

इसके अनन्तर वात्स्यायन ने आलिङ्गन, चुम्बन, नख-दशन-च्छेद आदि सुरत-सम्बन्धी विचार किये हैं। किन्तु इसी द्वितीय अधिकरण के नवम अध्याय के अन्त में वे स्वयं उपदेश करते हैं कि "जैसे वैद्यक में कुत्ते की मांस का भी स्वाद, सामर्थ्य तथा पाकविधि कही गयी है, किन्तु कोई मनुष्य कहीं कभी उसका उपयोग नहीं करता,[2] उसी प्रकार कामशास्त्रों में सुरतप्रयोगों के निरूपण से यह कभी न समझना चाहिए कि इन प्रयोगों का अवश्य उपयोग करना चाहिए[3]। कामसूत्र के इस अधिकरण में, परवर्ती काव्य-नाट्य-कृतियों में शृंगार-रस-सम्बन्धी जिन अनुभावों तथा विभावों का निरूपण किया गया है, वे ही मूलतः विस्तार के साथ उपजीव्य रूप में यहां विवेचित हैं।

तृतीय अधिकरण का नाम कन्यासम्प्रयुक्त अधिकरण है। इसके पांच अध्यायों में विवाह में किस प्रकार की कन्या वाञ्छनीय है, विवाह कितने प्रकार के होते हैं, कन्या-नायिका में विश्वास किस प्रकार उत्पन्न किया जाय—इत्यादि तथा अन्य मनु आदि के धर्मशास्त्र के अनुकूल विषयों का विशद विवेचन किया गया है। वात्स्यायन ने यद्यपि ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य—इन चार प्रकार के विवाहों को प्रधान बताया है[4] किन्तु सुखद, क्लेशरहित तथा अनुरागमूलक होने के कारण गान्धर्वविवाह को सर्वतो वरीयान् कहा है[5]। कामसूत्र का यह प्रकरण काव्यग्रन्थों में मुग्धाओं के चेष्टा-स्वभाव आदि के निरूपण का प्रायः उपजीव्य हुआ है।

कामसूत्र का दो अध्यायों वाला चतुर्थ अधिकरण भार्याधिकरण कहलाता है। इसके प्रथम अध्याय में धर्मशास्त्र के अनुसार भार्या का पति के प्रति कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है—भार्या पति को देववत् माने, सदा तत्परायण तथा तदनुकूल रहे[6]। यहाँ उसके गृह-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों का भी लेखा किया गया है, और इस प्रकार सती भार्या पति

---

१. वही २।१।६

२. रसवीर्यविपाकादिश्वमांसस्यापि वैद्यके।
कीर्तिता इति तत्किं स्याद्भक्षणीयंविचक्षणैः ॥—का० सू० २।९।३८

३. न शास्त्रमस्तीत्येतावत्प्रयोगे कारणं भवेत्।
शास्त्रार्थान् व्यापिनोविद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्॥— वही २।९।३७

४. वही ३।५।२९

५. सुखत्वादबहुक्लेशादपिचावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्चगान्धर्वः प्रवरोमतः ॥—वही ३।५।३६

६. देववत्पतिमानुकूल्येन वर्तेत। का० सू०,४।१।१

के धर्म, अर्थ तथा काम—तीनों के साधन में सहायक होती है और पति स्त्री को का एकान्त प्रेम प्राप्त करती है[1]।

इसके द्वितीय अध्याय में अपनी ज्येष्ठा, कनिष्ठा सपत्नियों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निरूपण किया गया है। उस व्यवहार में सबसे अधिक आवश्यक कार्य है अपने क्रोध को दबाना तथा शिष्टाचार का पूर्ण निर्वाह करना। ऐसा करने से पति उस युवती के वश में हो जाता है तथा वह सौतों पर स्वयं शासन करती[2] है।

पञ्चम अधिकरण परदार विषय से सम्बन्ध रखने के कारण पारदारिक कहलाता है। कहा जाता है कि गोणिका-पुत्र ने इस विषय पर विशिष्ट विवेचन किया था। वैसे बाद में साहित्य के आचार्यो ने कन्या को भी 'परकीया' के रूप में गिना है। किन्तु यहां परदार का अर्थ परकीय पाणिगृहीताभार्या ही केवल है। यहीं काम की वे दस दशायें वर्णित की गई हैं जिन्हें कवियों तथा आचार्यों ने विप्रलम्भशृङ्गार के वर्णन के प्रसङ्ग में बहुशः प्रदर्शित किया है। नाट्यशास्त्र में भरत ने शृंगार की इन दस अवस्थाओं का विवेचन करने वाले वैशिकशास्त्र-कारों को बताया है।[3] सम्भवतः भरत ने इस वात्स्यायन-कामसूत्र से पृथक् किसी वैशिकसूत्र-ग्रन्थ का उल्लेख किया है' क्योंकि इस कामसूत्र में तो ये दशायें पारदारिक प्रकरण में कही गई हैं वैशिक प्रकरण में नहीं। वे काम के दस स्थान रूप से कही गई हैं, और इस क्रम से हैं—चक्षुःप्रीति, मनःसंग, संकल्पोत्पत्ति, निद्राच्छेद, तनुता, विषय-व्यावृत्ति, लज्जा-प्रणाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण। इन दशाओं को कवियों ने प्रायः जिस रूप में नायिकाओं के सम्बन्ध में निरूपित किया है, उस रूप में नायक के प्रसंग में नहीं। यहां वात्स्यायन ने उच्छृङ्खलता-नियामक अंकुशसूत्रों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, जैसे—परदारगमन में धर्मविचार तथा आर्य-आचार व्यावर्तक होता है।[4] इस परदार-विषय का कन्या-विषय से एक यह भी अन्तर है कि परकीय दारा जिस प्रकार दूती द्वारा मिलाई जा सकती है उस प्रकार अपने द्वारा नहीं। किन्तु कन्या जिस प्रकार अपने से वश में आती है उस प्रकार दूती द्वारा नहीं[5]।

ऐसी परनारी जो शंकिता, रक्षिता, भीता अथवा श्वश्रू के साथ हो अभिगमनीय नहीं होती[6]। ऐसी के प्रति अभिलाष करना नहीं चाहिए।

---

१. वही ४।१।५५
२. वही ४।२।७०
३. वैशिकशास्त्रकारैश्चदशावस्थोऽभिहितः शृङ्गारः —ना० शा०, अध्याय ६
४. पुरुषस्तुधर्मस्थितिमार्यसमयं चापेक्ष्यकामयमानो पि व्यावर्तते।— का० सू०, ५।१।१३
५. यथा कन्या स्वयमभियोगसाध्या न तथा दूत्या, परस्त्रियस्तु सूक्ष्मभावा यथा दूतीसाध्या न तथाऽऽत्मनेत्याचार्याः। — वही ५।२।१
६. शंकितां रक्षितांभीतांसश्वश्रूकां च योषितम्।
नतर्कयेत मेधावी जानन् प्रत्ययमात्मनः।'—वही ५।२।२७ (न तर्कयेत—नाभिलषेत्-जयमंगला)

इसी प्रकरण में वात्स्यायन ने दूतियों के कर्म भी कहे हैं। दूतियां अनेक प्रकार की बताई गई हैं—निसृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयंदूती, मूढ़दूती, मायादूती, मूकदूती तथा वातदूती,[1] । इस प्रकरण के अन्त में पुनः वात्स्यायन ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका, है, लोककल्याण का पक्ष प्रकट किया है कि यहां परदाराभिगमन के सम्बन्ध में जिन प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, उनका केवल यही प्रयोजन है कि उन्हें जान कर व्यक्ति उन दोषों से अपनी पत्नी को बचाये, इसलिए नहीं कि स्वयं उन्हें दूसरे की पत्नी पर आजमाये[2] ।

षष्ठ अधिकरण वेश्यावृत्त का विवेचन करने के कारण वेशिक अधिकरण नाम से प्रसिद्ध है। वेश्यावृत्त जीवकोपार्जन के लिये, और किन्हीं-किन्हीं में तो रति-सुख के लिए भी देखा जाता है[3] । वात्स्यायन ने वेश्या की रतिनिमित्तकप्रवृत्ति स्वाभाविक मानी है तथा अर्थनिमित्तक कृत्रिम[4] । इसी प्रसंग में वैशिक नायक के गुणों का भी सविस्तर उल्लेख किया है, जो बाद के काव्य-नाट्य आदि साहित्य-ग्रन्थों का उपजीव्य होता है। वह महाकुलीन विद्वान्, सर्वसमयज्ञ इत्यादि प्रकार का पुरुष होता है[5] । रागी पुरुष से धन दुहने में वेश्या किस प्रकार एकनिष्ठता का अभिनय करती है इसका वात्स्यायन इस प्रकरण के अन्त में उल्लेख करते हैं[6] ।

वेश्याजन का यह चरित्र होता है कि वे भली-भांति सब कुछ समझ कर संयोग करती हैं, फिर संयुक्त रागी का अनुरञ्जन करती हैं। अपने में आसक्त होने पर उसके धन को दुहती हैं और अन्त में उसे त्याग देती हैं।[7] अन्त में वात्स्यायन ने उन सब स्त्रियों को वेश्या ही नाम दिया है जिनकी वेश्यावृत्ति सम्भव है—'कुम्भदासी, परिचारिका, कुलटा, स्वैरिणी नटी, शिल्पकारिका, प्रकाशविनष्टा, रूपाजीवा, गणिका चेति वेश्याविशेषाः।[8]"

ग्रन्थ के अन्तिम सप्तम अधिकरण में वात्स्यायन ने सुभगंकरण, वशीकरण, स्थिर एवं प्रिय रतिशक्ति के उत्पादक औषधियों के प्रयोगों तथा अन्य उपायों का निरूपण किया

---

१. का० सू० ५।४।४४

२. वही ५।६।५२

३. वही ६।१।१

४. वही ६।१।२

५. वही ६।१।२२

६. कामयन्ते विरज्यन्ते रज्जयन्तित्यजन्ति च।
कर्षयन्तोऽपि सर्वार्थाञ्ज्ञायन्ते नैव योषितः ।।—वही ६।२।५९

७. का० सू० ६।३।५५

८. वही ६।६।५४

है। इनमें रूप, गुण, वय तथा त्याग पुरुष को सुभग बनाने वाले बताये गये हैं।[1] अन्य प्रीतिकारक योगों को आयुर्वेद, वेदशास्त्र, विद्यातन्त्र तथा आप्त पुरुषों से जानना चाहिए। किन्तु ऐसे प्रयोगों को न प्रयुक्त करना चाहिए जो संदिग्ध हों, शरीर को क्षीर्ण करने वाले हों, जीवघात से सम्बद्ध हों तथा अशुचिद्रव्यों से युक्त हों।[2]

वात्स्यायन ने इस अन्तिम अधिकरण में बाभ्रवीय मत के अनुसार बड़े विशद ढंग से निरूपित किया है कि किस प्रकार मनुष्य घर में रह कर काम-सुख का अर्जन तथा उपभोग कर सकता है। जो इस कामशास्त्र का अभिज्ञ होता है वह अपने धर्म, अर्थ, काम तथा लोक-स्थिति को भलीभांति जानता है। रागान्ध होकर कामासक्त नहीं होता है।[3] इस शास्त्र में प्रतिपादित प्रयोगों को इसलिए नहीं कहा गया है कि उन्हें अवश्य आजमाना ही चाहिए, अपितु इसलिए कि शास्त्र की स्थिति के प्रसङ्ग में उन्हें अवश्य जानना चाहिए।[4] इस काम-शास्त्र का ज्ञाता पुरुष धर्म तथा अर्थ को सम्यक् दृष्टि में रखते हुए काम पुरुषार्थ का उपयोग रागहीन होकर करता है।[5]

---

१. रूपं गुणो वयस्त्यागः इति सुभङ्गकरणम् —वही ७।१।३

२. नप्रयुञ्जीतसंदिग्धान् नशरीरात्ययावहान्।
न जीवघातसंबद्धान् नाशुचिद्रव्यसंयुतान्॥ —वही ७।१।५०

३. धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययंलोकमेवच।
पश्यत्येतस्यतत्त्वज्ञो न च रागात् प्रवर्तते॥ —वही ६।२।५

४. का० सू० ७।२।५५

५. तदेतत्कुशलो विद्वान् धर्मार्थाववलोकयन्।
नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्धयति॥ —का० सू० ७।२।५६

द्वितीय अध्याय

भावस्वरूपनिरूपण

आचार्यों द्वारा की गई श्रृंगाररस की मीमांसा का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके सम्बन्ध में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों को तथा भावों को विशिष्ट शास्त्रीय दृष्टि से पहचान लिया जाय।

मनोवेग तथा मनोवृत्तियां—साधारणतया लोक में प्रयुक्त भावशब्द अनुभूति (Feeling) का पर्यायवाची है। मनोवेगों (Emotions) के मूल में ये अनुभूतियां ही रहती हैं। वे ही उद्दीप्त अथवा उत्तेजित होकर मनोवेग कहलाती हैं, अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुभूतिमूलक अथवा इच्छामूलक प्रवृत्ति को मनोवेग (Emotion) कहते हैं। मनोवेग की दशा में प्राणी को भाव अथवा अनुभूति की हलचल का पता चलता है तथा उसकी मांसपेशियों एवं स्नायुओं में उत्पन्न क्रियाओं को देखकर अन्य व्यक्तियों को उसके मनोवेग का ज्ञान होता है।[1]

मूल वृत्तियों (Instincts) के जागरित होते ही उनके अनुकूल मांसपेशियों एवं स्नायुओं में क्रियाशीलता आ जाती है, जो एक उत्तेजनारूप होती है। इस उत्तेजना का एक मानसिक पक्ष होता है, जिससे हम इसका नाम भय, क्रोध, घृणा आदि देते हैं। इसका एक शारीरिक पक्ष भी होता है, जो स्नायुओं तथा मांसपेशियों की क्रिया के रूप में प्रकट होता है। दोनों ही रूप मनोवेग (Emotions) कहलाते हैं।

मनोवेग अथवा Emotion में ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों का संयोग बताया गया है।[2] मनोवेगों का सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों (Instincts) से होता है, किन्तु इन्हीं मनोवेगों में

---

1. Emotion is a moved or stirred up state of the organism. It is a stirred up state of feeling—that is the way it appears to individual himself. It is a disturbed muscular and glandular activity—that is the way it appears to the external observer.
   —R. S. Woodworth, Psychology, p. 338

2. An Emotion is, thus, a desire plus the cognition involved in the attitude of one Jiva towards another.—Science of Emotions, ch. III.

जब स्मृति आदि बुद्धितत्त्व का सम्मिश्रण होता है, तो वे मनोवृत्ति या मनोभाव (Sentiment) का रूप धारण करते हैं। मनोवेग एक संचरणशील अनुभव है किन्तु मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा है, जिसका अनेक मनोवेग-सम्बन्धी अनुभूतियों तथा चेष्टाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति वस्तुतः मानसिक संस्थान अथवा एक बृहत् संस्थान का अंश है।[1] इस प्रकार मूलप्रवृत्ति (Instinct), मनोवेग (Emotion) तथा मनोवृत्ति (Sentiment) यह तीन उत्तरोत्तर विकसित मानस दशायें कही जा सकती हैं। मनोवेग और मनोवृत्ति में करीब वही अन्तर है जो संचारी भाव तथा स्थायी भाव में कहा जा सकता है।

मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक प्राणी के भीतर कुछ मूलप्रवृत्तियां होती हैं, जो उसकी समस्त सहज तथा कृत्रिम चेष्टाओं की प्रेरक अथवा प्रवर्तक होती हैं, जिनका एक विशिष्ट क्रम होता है। आंख के सामने अचानक किसी खतरे के आते ही पलकों का स्वतः बन्द हो जाना, किसी भयानक अवसर पर भागना अथवा चिल्लाना आदि हमारे भय अथवा आत्मरक्षा की मूलप्रवृत्ति के कारण होता है। किन्तु समान अवसरों पर सदैव एक ही प्रवृत्ति कार्य करे, ऐसा नहीं होता। देश, काल तथा पात्र के अनुसार प्रवृत्ति में भेद भी दिखाई देता है। किसी भयानक पशु को देखकर कोई तो भागेगा और कोई उससे भिड़ने को तत्पर हो जायेगा। यहां पहले में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति तथा दूसरे में युद्ध की प्रवृत्ति काम कर रही है। पशुओं में भी ये प्रवृत्तियां इसी प्रकार विभिन्न रूप से आती हैं। एक कुत्ता ऐसा है जो हमारे डण्डे को देख कर भागेगा, दूसरा ऐसा हो सकता है जो गुर्रायेगा और शायद डण्डा चलाने पर हमारे ऊपर आक्रमण कर दे। इसमें युद्ध की प्रवृत्ति काम कर रही है। कभी-कभी एक साथ एक से अधिक प्रवृत्तियां काम करती दिखायी पड़ती हैं। मन में भय की प्रवृत्ति के साथ ही कभी-कभी हम लड़ने को भी तैयार हो जाते हैं। बन्दरों में यह प्रवृत्ति-द्वन्द्व प्रायः दिखाई पड़ता है। किन्तु इसमें कुछ पूर्वार्जित ज्ञान (Intelligence) अथवा अनुभूति का भी प्रवृत्ति के साथ सम्मिश्रण कारण होता है। बन्दर को इस बात का ज्ञान है कि मनुष्य उसे मारता भी है साथ ही कभी-कभी उसकी घुड़की से भाग भी जाता है। अतः वह भाग कर आत्मरक्षा करने तथा घुड़की देने में एक साथ प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार नित्य व्यवहार तथा जीवन के अनुभवों द्वारा हमारी सहज प्रेरक वृत्तियों में बुद्धितत्त्व का समावेश होता रहता है। और हमारे प्रवृत्तिजन्य कार्य क्रमशः बौद्धिक होते चलते हैं। पशुओं में यह बुद्धितत्त्व कम रहता है। वे सहज प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्रायः सभी कार्य करते हैं। जीवधारियों में ज्यों-ज्यों हम नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों

---

1. Emotion is a feeling experience. Sentiment is an acquired disposition, One gradually built up through many emotional experiences and activities, it is an organisation or a part of total organisation.

—(Science of Emotions).

हमें बुद्धितत्त्व का विकास मिलता जाता है। बुद्धितत्त्व के आधार पर ही जीवधारियों की विभिन्न श्रेणियों का निर्माण हुआ है। अपनी मूलप्रवृत्तियों में विवेक अथवा बुद्धितत्त्व का योग करना ही मनुष्यत्व का वैशिष्ट्य है। इसीलिए बिना विचारे काम करने वाले को हम पशु कहते हैं। बुद्धिविहीन मनुष्यों पर पशुता का आरोप करना हमारा स्वभाव बन गया है। 'गौर्वाहीकः' की लक्षणा से तो सभी भलीभांति परिचित ही हैं।

"प्राणियों की प्रत्येकमूलप्रवृत्ति (Instinct) से सम्बद्ध उसका कोई न कोई मनोवेग (Emotion) अवश्य रहता है", पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने इसका विभिन्न प्रकार से विवरण दिया है। डा० मैक्डूगल (Mac Dougall) ने मानव की अठारह मूलप्रवृत्तियों का लेखा दिया है।[1] डा० मकडावल (Mc Dowall) ने उन्हें संक्षिप्त कर चौदह ही बताया है।[2] उनके अनुसार उन चौदह मनोवृत्तियों का उनसे सम्बद्ध मनोवेगों के साथ यह लेखा है—

मूलप्रवृत्ति	सम्बद्ध मनोवेग
१. विपत्पलायन—Escape from danger	भय—Fear
२. संघर्ष—Combat	क्रोध—Anger
३. उद्वेग—Repugnance	जुगुप्सा—Disgust
४. अपत्यरक्षा—Parental Protection of the young	वात्सल्य—Parental feeling
५. औत्सुक्य—Curiosity	साहस—Adventure
६. आत्मप्रतिष्ठा—Self-assertion	अस्मिता अथवा अहन्ता—Superiority
७. आत्मानादर, दैन्य अथवा कार्पण्य—Self abasement	पराधीनत्व अथवा समर्पण—Subjection
८. कष्टक्रन्दन—Cry of distress	निस्सहायता—Helplessness
९. प्रजनन—Sex	रति—Saxual desire
१०. सामूहिकता—Herd	सहानुभूति—Sympathy एकाकिता—(Loneliness)
११. भोजनोपार्जन—Food-Seeking	क्षुधा—Appetite
१२. परिग्रह—Hoarding	स्वामित्व—Feeling of ownership
१३. (गृह)-निर्माण—Construction	सृजनोत्साह—Feeling of creativeness
१४. हास्य—Laughter	विनोद—Amusement

1. The Energies of Men—ch. VII.
2. Sane Psychology—pp. 20-21, 1944 edn.

ये सभी मूलप्रवृत्तियां प्रायः मनुष्य-तिर्यक् सभी प्राणियों में पाई जाती हैं। इनमें 'हास्य' ही एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो केवल मनुष्य में पाई जाती है। अन्य प्राणी अपनी प्रसन्नता को अन्य चेष्टाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। किन्तु मनुष्य अन्य चेष्टाओं के साथ हँस कर भी अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करता है। हास्य के ही रूपविशेष परिहास में दूसरे के दोषों तथा कमियों की और अपने को महत्तर समझने की भावना बनी रहती है। हास्य में बुद्धितत्त्व का अधिक योग रहता है।

इन मनोवेगों को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर इनमें कुछ तो शारीरिक क्रिया रूप ही हैं किन्तु शेष भय, क्रोध, जुगुप्सा, वात्सल्य, साहस (उत्साह), रति तथा विनोद (हास्य) संस्कृत-साहित्यशास्त्र के प्रायः स्थायीभावरूप हैं। और शेष मनोवेग, चाहे वे शुद्ध हों चाहे मिश्रित, संचारियों में गिनाये जा सकते हैं।

किन्तु और ध्यान से देखने पर सभी प्रकार के मनोवेगों का सम्बन्ध आत्मा के राग अथवा द्वेषनामक गुण से दिखाई पड़ता है। अन्तरात्मा की प्रथम अभिव्यक्ति अथवा सत्ता की सूचना है अस्मिता अथवा अहन्ता अथवा अहंकार, जिसे पाश्चात्य दार्शनिक Ego अथवा Self-Assertion रूप से स्वीकार करते हैं। और इस अहंकार की भी अभिव्यक्ति दो रूप से होती है—राग तथा द्वेष रूप से "जो मानवजीवन के दो मौलिक अनुभव सुख तथा दुःख के पर्याय मात्र हैं।" जैसा कि पहले कह चुके हैं बाह्यजगत् की किसी वस्तु के प्रति राग अथवा द्वेषभाव सर्वप्रथम उससे इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर मिलने वाले सुख अथवा दुःख के अनुसार ही होता है। जिस वस्तु से सुख मिलेगा उसके प्रति राग होगा तथा जिससे दुःख मिलेगा उसके प्रति द्वेष होगा। अब वे राग-द्वेष ही बार-बार अनुभूयमान होकर विषयभेद-से रति हास-शोक आदि अनेक प्रकार की वासना के रूप में मन में स्थित हो जाते हैं।

विषय के साथ जब इन्द्रियों का प्रथम संसर्ग होता है, उस समय वे सुख अथवा दुःख की केवल सामान्यानुभूति करती हैं। उस समय उनकी प्रवृत्ति में इच्छा तथा प्रयत्न—इन दो तत्त्वों का योग नहीं रहता। फिर वे ही सुख तथा दुःख उन विषयों के प्रति बारबार अनुभूत होकर सुखमयी अथवा दुःखमयी अनुभूति-ग्रन्थियां बन जाते हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में संस्कार या वासना कहते हैं, जो विषयभेद से रत्यादि रूप से अनेक प्रकार की होती हैं। वासनाओं में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का तत्त्व मुख्य रूप से अन्तर्निहित होता है, किन्तु प्राणियों की वासनात्मक प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति स्वतः शरीरस्वभाव-रूपी हो जाती है, जो बिना यत्न के ही प्रवर्तित होती है, उसमें मन अथवा बुद्धि का कोई प्रयत्नयोग नहीं रहता। इस वासनात्मिका वृत्ति को ही कुछ विद्वानों ने मनोवेग नाम दिया है।[1]

ये ही वासनाएँ फिर बढ़कर भाव कहलाती हैं (चित्ते भावः प्रथम-विक्रिया)। वासना भाव का पूर्वरूप होती हैं। भाव में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न तीनों का योग आ जाता है।

---

१. वेदान्तदर्शन में इन्हें 'प्राणक्रिया' कहते हैं। और इन्द्रियों की वे क्रियायें, जिन पर मन का शासन रहता है, 'सहज चेष्टायें' कही जाती हैं—(पञ्चदशी)

ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इनकी क्रमिक प्रवृत्ति मानी जाती है—'जीवो जानाति इच्छति यतते।' इस प्रकार यह तय हुआ कि भाव मनोवृत्तिरूप ही हैं।[1]

ये मनोभाव ही प्राणियों की सारी चेष्टाओं के प्रवर्तक होते हैं। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति प्राणियों की चेष्टा देख कर ही उनके भाव का ज्ञान कर लेते हैं। काव्य में वासना ही मन में उद्दीप्त एवं सचेष्ट होकर भाव कहलाती है।[2] लोक में जो प्रसिद्ध वासनायें होती हैं वे ही काव्य-नाटकादि में प्रबुद्ध होकर भाव कही जाती हैं।

भावों के उद्दीपित होने पर शारीरिक चेष्टायें भी निश्चित ही होती हैं। इस प्रकार भावों के साथ कुछ उद्‌बोधक हेतु, कुछ सुख या दुःखमयी अनुभूतियां तथा प्रतिक्रिया रूप कुछ विविध शारीरिक चेष्टाएँ अवश्य सम्बद्ध होती हैं। वासनात्मक चेष्टाओं का रूप प्रायः निर्दिष्ट तथा एक समान होता है, किन्तु भावमूलक चेष्टाओं का रूप विविध एवं उद्देश्य भी विविध होता है। वासनात्मक चेष्टाओं का उद्देश्य शरीर से सम्बद्ध रक्षणादिक होता है, किन्तु भावनात्मक चेष्टाओं का लक्ष्य अन्य कुछ भी होता है। भाव-प्रदर्शन का विविध तात्पर्य होता है। भावों के साथ स्मृति का भी योग अवश्य होता है। वासनात्मक चेष्टाएँ केवल विषयसम्पर्क होने से प्रवृत्त होती हैं, किन्तु भावात्मक चेष्टा में स्मृति का योग होने के कारण वह विषयसम्पर्क से पूर्व या पश्चात् भी उद्‌बुद्ध होती है। प्रिया का ध्यान करके भी लोग रतिसुख का अनुभव करते हैं,[3] तथा शत्रुकृत अपकार का स्मरण करके भी क्रोध से दह्यमान दिखाई पड़ते हैं।[4] किन्तु यह भावदशा काव्य की वस्तु है। क्या भाव शारीरिक चेष्टाओं से उत्पन्न होते हैं अथवा शारीरिक चेष्टायें भावों से उत्पन्न होती हैं, इस विषय को लेकर पाश्चात्य मनोविज्ञानविशारदों ने अनेक मतभेद उपस्थित किये हैं। भारतीय आचार्यों ने तो प्रायः "चेष्टायें भावजन्य होती हैं" इसी मत का अवलम्बन किया है—यहां इनका क्रम ही इस प्रकार माना गया है—ज्ञान-इच्छा-यत्न। यत्न भाव का सर्वोत्तर अंश है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भाव मन की क्रियामयी एक विशिष्ट अवस्था है। अतः वासना, हेतुप्रत्यय तथा प्रयत्न—इन तीनों के संघात को भाव कहेंगे। मन के वे ही वेग भाव कहलाने के योग्य हैं, जिनमें उनके हेतुओं की भी प्रतीति साथ ही होती है।

भावों के मूल राग तथा द्वेष—जैसा कि पहले कहा गया है कि कुछ विद्वानों ने सारे मनोवेगों के मूल में राग तथा द्वेष को ही माना है। उनका कहना है कि—"अपने से विशिष्ट उत्कृष्ट' जीव की ओर राग का नाम है—सम्मान, बहुमान, आदर, प्रश्रय, मुदिता, पूजा

---

१. भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः।'—(अभिनवभारती)

२. निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।

३. "प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्‌गाढरागोदयाः" आदि—मालतीमाधव—५।७

४. —"अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना" आदि। —उत्तररामचरित १।२८

आदि ; समान की ओर मैत्री, प्रेम, अनुराग, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि ; हीन की ओर दया, करुणा, अनुकम्पा, अनुक्रोश आदि। ऐसे ही द्वेष के भेद हैं —विशिष्ट की ओर भय, मत्सर, असूया, ईर्ष्या आदि ; तुल्य की ओर क्रोध, कोप, रोष आदि ; हीन की ओर दर्प, गर्व, अभिमान, अवमान तिरस्कार, घृणा आदि।[१] इतना ही नहीं साहित्यशास्त्र के सभी स्थायी-भावों को इन्हीं दो (राग-द्वेष) में अन्तर्भूत कर लिया गया है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अहन्ता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं, तथा शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा उस अहन्ता अथवा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत आ जाते हैं। निर्वेद में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है। उसमें अस्मिता की समरसता होती है। पहिले चार भाव मधुर हैं, अतः सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे चार कटु हैं, अतः दुःख की अभिव्यक्ति करते हैं। निर्वेद में दोनों का समन्वय है।[२]

कुछ विद्वानों ने राग को ही स्वविस्तारभाव कहा है और उसे जीवन की एक प्रमुख वासना माना है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सत्ती (Suttie) ने मानव-जीवन का मौलिक भाव केवल प्रेम अथवा राग को बताया है। "बालक में जन्म से ही साथी की आवश्यकता की भावना होती है। यही भावना आगे चलकर पितृप्रेम, दाम्पत्य-प्रेम तथा पुत्र-प्रेम आदि रूपों में विकसित होती है।[३] इस प्रकार राग, स्वविस्तारेच्छा अथवा संयोगेच्छा ही मानवजीवन के मूल में ठहरते हैं। इस संयोगेच्छा को किन्हीं मनोवैज्ञानिकों ने पूर्णत्व प्राप्ति की इच्छा अथवा अपने ही एक भाग को खोजने की इच्छा कहा है।[४] मूलतः यही राग प्रसिद्ध विज्ञानी फ्रायड का 'काम' है। कुछ आधुनिक मनोविज्ञानवादियों ने प्रेम को आत्मरक्षा का रूप भी माना है। उसमें अपूर्ण की पूर्णता का भाव बना रहता है। राग को ही प्रेम भी कहा जाता है। "यौन आकर्षण में भी एक अपूर्ण की पूर्णता रहती है। एक ही पिण्ड में दो योनियों का का विकास हुआ। पुरुष में स्त्री की कमी पूरी हो जाती है, और स्त्री में पुरुष की। इसी-लिए दोनों परस्पर नित्य आकर्षित होते रहते हैं।" इस प्रकार इस मूलगत राग को लेकर

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १३, द्विवेदीअभिनन्दनग्रन्थ में।

२. साइन्स आफ इमोशन्स—अध्याय १०

३. द्रष्टव्य—ओरिजन आफ लव एण्ड हेट।

४. Each of us then separated is out indenture of a man and he is always looking for his other half. The desire and pursuit of the whole is called Love. —the Mansions of philosophy, ch. III

—Will Durant.

जैसा कि उपनिषद् कहती है—'स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौसम्परिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा पातयात्ततः पतिश्चपत्नीचाभवताम्''—बृ० उप० १।४।३

'पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्राय: तीन मत उपस्थित होते हैं—पहला फ्रायड का मत, जो 'काम' को जीवन की मूल वृत्ति मानता है, लैङ्गिकता अथवा योनि-भावना को लेकर चलता है। दूसरा आडलर का मत, जो हीन भावना अथवा क्षति-पूर्त्ति को लेकर चलता है। और तीसरा युङ्ग (Jung) का मत, जो उक्त दोनों को जीवनेच्छा या स्वत्वरक्षा की शाखा में मानता हुआ, जीवनेच्छा को मूल मानता है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उक्त तीनों सिद्धान्तों में विशेष मौलिक अन्तर नहीं है। उक्त तीनों प्रकार के राग, आकर्षण, संयोगेच्छा तथा स्वत्व-रक्षा (अथवा स्वविस्तार) को लेकर चलते हैं।"

"तत्त्वतः न तो कोई प्रवृत्ति शुद्धराग ही कही जा सकती है और न कोई शुद्ध द्वेष रूप ही। वास्तव में राग और द्वेष (Libido and Thanatos) के संघर्ष एवं सम्मिश्रण से ही हमारा मानसिक जीवन (Psychic Life) संचालित है। यही कारण है कि हमें शोक में राग, तथा उत्साह में द्वेष के अंश मिलते हैं। यही बात रति इत्यादि अन्य स्थायी भावों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।"

यह भी कहा गया है कि मनुष्य को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले मनोभाव ही होते हैं, बुद्धि, तर्क तथा विवेक कर्म में प्रवृत्त नहीं करते। बुद्धि तो केवल विषय का स्वरूप बता-कर विरत हो जाती है—फिर प्रवृत्त, निवृत्त करने का जिम्मा मनोभाव पर आता है, क्योंकि मन ही तो राग, द्वेष का अधिष्ठान है। वस्तुतस्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदि प्रमाण, तथा बुद्धिमान् की प्रज्ञा आदि अन्तःकरण शक्तियाँ मनोभाव की ही सहायता करने को उपस्थित होती हैं, उसी को उद्दीप्त अथवा शिथिल करती हैं।

प्रेष्य तथा अप्रेष्य भाव—इन मनोभावों को बहुत से आचार्यों ने बहुत प्रकार से विवेचित किया है। कोई इन्हें प्रेष्य तथा अप्रेष्य दो वर्गों में बांटते हैं। जो भावएक में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर, प्रदर्शित किये जाने पर, दूसरे में भी पहिले के प्रति उत्पन्न हो जाते हैं, वे प्रेष्य भाव कहे जाते हैं—क्रोध, घृणा, प्रेम आदि ऐसे ही भाव माने गये हैं। जिसके प्रति हम क्रोध करेंगे, घृणा करेंगे अथवा प्रेम करेंगे वह भी हमारे प्रति क्रोध, घृणा अथवा प्रेम प्रदर्शित करेगा। और अप्रेष्य वर्ग में वे भाव आते हैं, जो एक में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर, प्रदर्शित किये जाने पर, दूसरे में प्रतिक्रिया रूप से भावान्तर उत्पन्न करते हैं—भय, दया, ईर्ष्या आदि इसी प्रकार के अप्रेष्य भाव हैं। जो जिससे भय करता है वह उस भीत के ऊपर दया दिखाता है, जो किसी के ऊपर दया करता है, वह उस दयमान के प्रति श्रद्धा करता है, तथा जो किसी से ईर्ष्या करता है वह उस ईर्ष्यालु के प्रति घृणा करता है आदि। प्रेष्य मनोभावों की एक और विशेषता यह होती है कि वे सजातीय मनोभावों से संयुक्त होकर और अधिक बढ़ते हैं—किसी को क्रोध करते देखकर दूसरे में भी क्रोध उत्पन्न होता है, और उस दूसरे के क्रोध को देखकर पहिले में और अधिक बढ़ता है। इस प्रकार परस्पर क्रोध के के प्रदर्शन से दोनों का क्रोध बढ़ता ही है। प्रेम भी इसी प्रकार दो प्रेमियों के परस्पर स्नेह करने पर बढ़ता जाता है। किन्तु अप्रेष्य मनोभावों को तो कभी सजातीय मनोभाव से संयोग

पाने का अवसर ही नहीं आता । जिससे कोई भय करता है वह भीत पर दया करता है और फिर उसे दया करते देखकर भीत का भय घटता ही है, बढ़ता[1] नहीं ।

एकाकी तथा मिश्र-भाव—कुछ अन्य विद्वानों के मत से भाव दो प्रकार के माने गए हैं—पहला मौलिक अथवा एकाकी, तथा दूसरा तद्भव अथवा मिश्र । जो भाव स्वतन्त्र रूप से अकेले अनुभूत होते हैं वे मौलिक भाव हैं—जैसे क्रोध, भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि । और जो कई एकसाथ अनुभूत होते हैं वे तद्भव अथवा मिश्रभाव हैं, जैसे दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि । किसी के कष्ट अथवा शोक का अनुभव करके ही उस पर दया आती है ।[2]

कुछ विद्वानों ने भावों तथा भावकोशों का पृथक् परिगणन किया है ।[3] किन्तु पूर्वोक्त भावविषयक सभी विवेचन लोक-जीवन में भावों का अनुशीलन करके विद्वानों ने किया है । यहां हमारा प्रस्तुत विषय काव्यगत भावों का विवेचन है ।

काव्य-भाव—लोकभावों में तथा काव्यगत भावों में बहुत अन्तर है । लोकजीवन में अनुभूत होने वाले भाव सुख-दुःख-मोह रूप होते हैं, किन्तु काव्य से प्राप्त होने वाले भाव सभी, सत्त्वविशिष्ट होने के कारण, सुखमय अथवा आनन्दमय होते हैं । उस समय आत्मा का चिन्मय अंश उसे आनन्द रूप देता है । रसानुभूति में मनोवेग नहीं रहता, अपितु मनोवेग का संस्काररूप आनन्दात्मक स्मरण रहता है, क्योंकि मनुष्य काव्य-नाटक में उन इच्छाओं की पूर्ति देखता है, जो लोकजीवन में नहीं कर पाता ।[4] "अबुद्धिपूर्वक—अनिच्छापूर्वक स्वाद नहीं, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, आस्वादन की अनुशयी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है । भाव (क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंग्रेजी में इमोशन) का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रतिसंवेदन, आस्वादन, 'रसन' रस है । (भावस्मरणं रसः) । और आस्वादन का रूप यह है—मैं क्रोधवान् हूं (अहं क्रोधवान् अस्मि), मैं शोक-वान् या अनुशोकवान् हूं, मैं भक्तिमान हूं, मैं ईर्ष्यावान् हूं, मैं बलवान् हूं । मैं सुरुप हूं । अर्थात् 'मैं' हूं—यही रस का सारतत्त्व है ।"[5]

काव्य-जीवित रस—यही रस काव्य का जीवितसर्वस्व है इसे प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । ध्वनि-सिद्धान्त अथवा व्यञ्जना-व्यापार के कट्टर विरोधी महिमभट्ट तक ने स्पष्ट शब्दों में इसको स्वीकार किया है कि रसादि रूप काव्य की आत्मा के प्रति तो

---

१. द्रष्टव्य—चिन्तामणि-प्रथम भाग ।

२. द्रष्टव्य रसमीमांसा, पृ० १६८

३. वही, पृ० १६६

४. साइन्स आफ इमोशन्स, अध्या० ८

५. रसमीमांसा—पृ० ७

किसी का वैमत्य है ही नहीं।[१] वैमत्य तो उसके स्वरूप बोध की विधा के विषय में है। कोई इसे वाच्य मानता है, कोई अनुमेय तथा कोई व्यंग्य आदि। कोई उसे काव्य का अलङ्कार कहता है, कोई गुण कोई आत्मा आदि। किन्तु काव्य में रस की विशिष्ट सत्ता के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं। जैसे यह जगत् भीतर बाहर से ईशावास्य अथवा आत्मव्याप्त रहता है, उसी प्रकार काव्य के भीतर तथा बाहर रस व्याप्त रहता है। उस रस के स्वरूप पर विचार करने पर वस्तुस्थिति यही मिलती है कि रस एक विशिष्ट दशा में स्थित भाव ही है। वह दशा है आस्वाद्यमानता।[२] किन्तु रस-दशा को प्राप्त करने की योग्यता सभी भावों में नहीं होती। वह केवल स्थायीभावों में होती है। अतएव आचार्यों ने काव्यगत भावों के तीन वर्ग किये हैं—स्थायी, सात्त्विक तथा व्यभिचारी। लोक में जिन्हें चित्त-वृत्तियां या मनोवृत्तियां (Sentiments) कहते हैं, काव्य नाट्य में प्रायः वे ही भाव कहलाते हैं। भाव शब्द लोक में नहीं प्रयुक्त होता। वह काव्य-नाट्य का पारिभाषिक पद बन गया है। जो काव्यगत अर्थ को वाणी-अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त अथवा प्रकट करके उनकी भावना अथवा अनुभूति करायें उन्हें भाव कहते हैं।[३] लौकिक चित्तवृत्तियां ही काव्य में वर्णित होकर अभिनयों द्वारा अपने को भावित अथवा आस्वाद्यमान कराती हैं। दूसरे शब्दों में वे सामाजिकों के मन को भावित अथवा व्याप्त कर लेती हैं, अतः भाव कहलाती हैं।[४] भाव शब्द की व्युत्पत्ति करते समय आचार्यों ने उसमें णिच् प्रत्यय लगाकर उसका करना, वासित करना तथा व्याप्त करना अर्थ किया है।[५] ये भाव मूलतः कवि की चित्तवृत्तियां ही हैं, जो उसके अनादि प्राक्तन संस्कारों का प्रतिभान रूप होती हैं, वे लौकिक विषयजन्य राग नहीं हैं। उनमें देशकाल आदि के कारण भेद नहीं होता, वे मानवमात्र की सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सनातन सर्वसाधारण अनुभूतियां होती हैं। उस वर्णनानिपुण कवि की उन्हीं चित्तवृत्तियों को वाक्, अङ्ग, मुख-राग तथा सत्त्व के अभिनयों द्वारा जो आस्वाद्ययोग्य बना दे, उसे भाव कहते हैं।[६] कवि जब भावपूर्ण होता है, तभी कविता की सरस स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है, अर्थात् जब किसी प्रेरक कारण से उसकी किसी चित्तवृत्ति का उद्रेक होता है, उस समय वह तन्मय होकर अपनी अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमता नवनवोन्मेषशलिनी प्रतिभा

१. काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।—व्य० वि०

२. नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।—ना० शा०, अ० ६

३. वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।—वही, अध्याय ७

४. यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः।—काव्यानुशासन, अ० २

५. भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम् (एकोर्थः)—भारती लोके पि च प्रसिद्धम्—अहोह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् इति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।"—ना० शा०, अध्याय ७

६. "वागङ्गमुखारागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥—ना० शा०, अध्याय ७

के सहारे स्वचित्तवृत्तिव्यञ्जकरसावेशवैशद्यसुन्दर काव्य का निर्माण करता है ।[१] जैसे पयः-पूर्ण कुम्भ से जलसीकर छलकते हैं, वैसे ही भावपूर्ण चित्त से सधे छन्द वृत्त आदि द्वारा नियन्त्रित चित्तवृत्ति के व्यञ्जक शब्द निकलते हैं और काव्य कहलाते हैं। इस प्रकार वे कवि के भाव ही उन काव्य शब्दों से व्यक्त होते हैं, जिन्हें पढ़ कर या सुनकर सहृदय भी उसी प्रकार से भावनिमग्न हो जाता है—वे (अभिव्यज्यमान) भाव ही काव्य के प्राण होते हैं।[२]

महाकवियों की सरस्वती उस वस्तु का निष्यन्दन कर उनकी अलोकसामान्य प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है।[३] भानुदत्त ने रस के अनुकूल शारीरिक तथा मानसिक विकार को भाव कहा है।[४] विकार का यहाँ अर्थ है अन्यथाभाव अर्थात् अन्यप्रकारता (अथवा परिवर्तन)।[५] यह विकार दो प्रकार का होता है—आन्तर अथवा मानस तथा शारीर। आन्तरभाव को भी दो प्रकार का माना गया है—स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव। और शारीर भाव हैं सात्त्विक आदि अनुभाव।[६] भानुदत्त का मत है कि भाव को केवल मनोविकार मानना और देहविकार स्वेद आदि के प्रति भाव शब्द का प्रयोग गौण मानना ठीक नहीं। क्योंकि भाव शब्द का प्रयोग शारीरिक एवं मानसिक विकारों के लिए सामान्यरूप से होने के कारण किसी एक के लिए ही मान लेना अप्रामाणिक होगा। लक्षण के अनुसार लक्ष्य की व्यवस्था कभी नहीं की जाती, अपितु सदा लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण बनता है।[७] काव्य में तीन व्यक्तियों के भावों की एकरूपता होती है—मूलनायक, कवि एवं सहृदय। मूलतः जिन भावों की अनुभूति आदि नायकों ने की रही होगी उन्हीं को अपनी कल्पना (प्रतिभा) से साक्षात्कार कर कवि तन्मय हुआ, फिर उसके रचे उस काव्य को पढ़ या सुन कर सहृदय भी उन्हीं भावों में निमग्न होता है।[८] कविगत भाव बीज रूप है, काव्य उसका वृक्ष रूप तथा सामाजिक द्वारा रसास्वाद फलरूप है।[९]

---

१. यावत् पूर्णो न भवति तावन्नैव वमत्यमुम् ॥—भट्टनायक लोचन में उद्धृत

२. ध्वन्यालोक १।५

३. वही १।६

४. 'रसानुकूलो विकारो भावः' —र० त०–१

५. 'विकारोऽन्यथाभावः' —वही १

६. वही १

७. यत्तु मनोविकारो भावः। तथा च देहविकारे स्वेदादौ भावपदप्रयोगो गौण इति। तन्न। तुल्यवदुभयत्रभावपदप्रयोगेण विनिगन्तुमशक्यत्वात्। लक्षणानुरोधेन लक्ष्याव्यवस्थितेः।'
—वही १

८. नायकस्य कवेः श्रोतुःसमानो नुभवस्ततः —भट्टतौत

९. तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः।—ना० शा०, अ० भा० ६

अब काव्यगत भावों* अथवा रसों पर विचार करने से उसमें दो पक्ष दिखाई पड़ते हैं—आश्रय पक्ष तथा आलम्बन पक्ष। लोक में किसी कारण से किसी के मन में कोई चित्तवृत्ति उदित होती है। फिर उस चित्तवृत्ति के उदय की प्रतिक्रियारूप अथवा फलरूप से उस व्यक्ति के मन, वचन तथा शरीर में कुछ विशिष्ट क्रियायें दिखाई पड़ती हैं तथा साथ ही उस चित्तवृत्ति की सहकारिणी अन्य चित्तवृत्तियां भी उदित होती हैं। इस प्रकार अपने कारण, कार्य एवं सहायक से युक्त वे प्रधान चित्तवृत्तियां आठ, अथवा निर्वेदसहित नौ, गिनी गई हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेद। लोकजीवन में इनमें कुछ सुख, कुछ दुःख तथा कुछ मोह रूप होती हैं। मानव प्राणी इन संविदाओं से परिवेष्टित रहता है। सभी दुःख से विमुख, सुखास्वादनलालसा तथा रिरंसा से युक्त रहते हैं। अपनी उत्कर्षमानिता के कारण दूसरे का उपहास करते हैं। जब उत्कर्ष की हानि की शङ्का होती है तो शोक करते हैं। अपाय के प्रति क्रोध करते हैं तथा अपाय के हेतु का परिहार करने के लिए समुत्साह दिखाते हैं। विनिपात से भय करते हैं। अयुक्तता के प्रति जुगुप्सा करते हैं। कहीं किसी के कर्म में वैचित्र्य देख कर विस्मय करते हैं और किसी वस्तु को त्यागने की इच्छा से उसके प्रति वैराग्य-भावना के कारण शान्ति पाते हैं। इन चित्त-वृत्तियों की वासनाओं से कोई प्राणी शून्य नहीं होता। हां, किसी में कोई न्यून, कोई अधिक रहती है। किसी में उचित रूप में नियन्त्रित रहती हैं, किसी में नहीं। इन्हीं में उन मनो-वृत्तियों का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जिन्हें पूर्वोक्त प्रकार से मनोविज्ञान के मनीषियों ने दूसरे नामों से उल्लिखित किया है।

काव्य-नाट्य में वर्णित-प्रदर्शित उन चित्तवृत्तियों को उद्रिक्त करने वाले कारणों को विभाव कहते हैं, कारण नहीं। क्योंकि उनसे (नाटक का अभिनय करने वाले) नटादिकों (तथा काव्य के श्रावयिता कवि आदि) का कोई सम्बन्ध नहीं। नटादि की कोई चित्तवृत्ति उससे नहीं उदित होती। वह तो केवल शिक्षा, अभ्यास आदि के सहारे राम आदि का सारूप्य प्रदर्शित (अभिनीत) करता है। वह रस का आस्वादक नहीं होता।[1] यह है कि उन कारणों को देख कर अथवा उनका वर्णन सुनकर वहां उपस्थित सहृदयों को वे किसी विशिष्ट व्यक्ति के ही भाव-विशेष के कारण नहीं प्रतीत होते, अपितु सर्वसाधारण के उस विशिष्ट भाव के उद्बोधक लगते हैं। और सहृदय स्वयं भी उन्हें देखकर या सुनकर उस क्षण अपने सीमित व्यक्तित्व का सम्बन्ध भूल कर, सत्त्वभाव के उदय के कारण, एक साधारण भावुकहृदयवान् होकर, किसी अन्य वस्तु की वेदना से शून्य, वासना रूप में स्थित अपनी उस उद्रिक्त चित्त-वृत्ति का आस्वादन करता है। (इसे साधारणीकरण प्रक्रिया कहते हैं।) अतएव उन्हें लोक-दृष्ट्या कारण न कह कर काव्यदृष्ट्या विभाव कहा जाता है—विभावन का अर्थ है जो

---

१. शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥—सा० द०

विशिष्ट रूप से किसी भाव का अनुभव कराये।[1] कारण को विभाव नाम सहृदय के सम्बन्ध से दिया गया है।

इसके पश्चात् काव्य नाट्य में वर्णित चित्तवृत्ति के आश्रयभूत नायक अथवा नायिका की उन कारणों से जन्य सात्त्विक, वाचिक आदि चेष्टायें प्रदर्शित की जाती हैं और उनसे भी सामाजिकों के मन में पूर्वतः ही विभावों से उद्रिक्त चित्तवृत्तियों का और अधिक अनुभावन होता है। अतएव उन चेष्टाओं को चित्तवृत्तियों का, लोकदृष्ट्या, कार्य न कह कर, काव्यदृष्ट्या, अनुभाव कहा जाता है।[2]

फिर उस नाटक (या काव्य) के आश्रय में ही उन चित्तवृत्तियों की सहकारिणी ग्लानि, वितर्क आदि चित्त-वृत्तियों का अभिनय होता है। वे भी साधारणोपाय बल से ही सहृदय के हृदय में उन पूर्वोद्रिक्त चित्तवृत्तियों का और अधिक संचारण कराती हैं। अतः वे, लोकदृष्ट्या सहकारी न कहलाकर, काव्यदृष्ट्या संचारीभाव कहलाते हैं[3] (इन्हीं को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं, वि + अभि, विशेषेण आभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः) इस प्रकार लोक में चित्तवृत्तियों के कारण, कार्य तथा सहकारी तत्त्व काव्यनाट्य में विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव होकर रति आदि स्थायी चित्त-वृत्तियों के उद्रेक रूप रसोद्बोध में प्रपानक-रसन्याय से तीनों ही कारण बनते हैं। जैसे प्रपानक में शक्कर, इलायची, मिर्च आदि सभी वस्तुओं के मिलने से एक नूतन स्वाद मिलता है, वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी—तीनों के संयोग से स्थायी भाव, उन तीनों को साथ लिए हुए, स्वाद्यमान होता है, और वही रस कहलाता है।[4]

रस-स्वरूप—यह रसानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।[5] लोक में चित्तवृत्तियां तो कोई सुख, कोई दुःख तथा कोई मोहस्वभाव वाली होती हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में वे सब रस्यमानदशा में पहुंच कर केवल परमानन्द रूप से आस्वादित होती हैं। अतएव अभिनव का मत है कि सभी रस सुख-प्रधान ही होते हैं, क्योंकि सभी स्वसंवित् की चर्वणा रूप ही हैं, जो प्रकाशानन्द रूप है, अतः सभी रसों को आनन्द रूप ही मानना चाहिए। और जब आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही रसरूप में आस्वादन होता है तो उसमें दुःख की शङ्का ही कैसे हो सकती है?[6] उस समय अश्रुपात आदि भी चित्त के द्रवीभूत हो जाने के कारण

---

१ विभावनं नाम रत्यादे र्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम् —सा० द०

२. अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् —सा० द०

३. संचारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक्चारणमिति —सा० द० ३।१३

४. वही ३।१६

५. स्वादः काव्यार्थसंभदोब्रह्मानन्दसमुद्भवः —ना० शा०

६. (अ) तत्र सर्वेऽभी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात् आनन्दरूपता सर्वरसानाम् —अ० भा० पृ० २८२

(ब) अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्रका दुःखाशङ्का—अ० भा०

होते हैं, दुःख के कारण नहीं। उस समय सहृदय में केवल शुद्ध सत्त्व-गुण का उद्रेक रहता है, रजस्, एवं तमस् विगलित रहते हैं, अतः उस दशा में जो ही भाव मन में जागरित होता है, वह सत्त्वगुण के आनन्द से विशिष्ट हो जा जाता है। अतः वह भाव केवल सत्त्वानन्दमय हो जाता है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने रस की आनन्दरूपता के विषय में (अभिनवगुप्त, मम्मट भट्ट आदि) पूर्वाचार्यों के अनुसार मान्य मत का निष्कर्ष इन शब्दों में तत्त्वतः उपस्थित किया है। "जैसे कसोरे आदि से ढँका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं कर पाता है, किन्तु उस ढक्कन के हट जाने पर निकटस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशित होता है, वैसे ही आत्मरूप चैतन्य अज्ञानरूप आवरण के हट जाने पर, अन्तःकरणवृत्तिरूप स्वसन्निहित विभावादिमिश्रित रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करता है, अर्थात् आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। ये रति आदि भाव तो, अन्तःकरण के धर्म होने के कारण, साक्षी अर्थात् आत्मा द्वारा भास्य अर्थात् प्रकाशित कहे गए हैं। किन्तु विभावादि बाह्य पदार्थों को साक्षिभास्य कैसे माना जाय? इसका समाधान यह है कि जैसे स्वप्न में देखे गये तुरंग आदि तथा जागर्ति में रांगे आदि में रजत आदि की प्रतीति केवल साक्षिभास्य ही मानी जाती है, अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुतः वे चीजें हैं नहीं, केवल काल्पनिक हैं, वैसे ही उन विभावादि को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं, अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूढ़ होने पर वास्तविक नहीं, काल्पनिक ही हैं। अतः उस अवस्था में उन सबों का भान भी आत्मचैतन्यमात्र से हो सकता है, बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं। उस समय सहृदयता की सहायता से परिपक्व बनी हुयी काव्यार्थविषयक भावना ही सहृदयों की आत्मा को ढँके हुए अज्ञानावरण को दूर कर देगी—अर्थात् काव्यवर्ती व्यञ्जना वृत्ति के सहारे सहृदय के चित्त में रति आदि स्थायीभावों से युक्त अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति उत्पन्न होती है—अर्थात् सहृदय उस आनन्द में लीन हो जाता है—तन्मय हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे योगी के चित्त में सविकल्प समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है। अन्य लौकिक सुखों से यह रसात्मक सुख विलक्षण होता है, क्योंकि लौकिक सुखों का अनुभव करते समय चैतन्य का अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है, और यह रसरूप आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं, अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, अर्थात् रसात्मक आनन्द का अनुभव करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है। यतः वह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अवच्छेदक नहीं हो पाती, अतः वह आनन्द अनवच्छिन्न ही रहता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि अज्ञानरूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव रस कहलाता है।"[२]

---

१. सा० द० ३।८

२. रसगंगाधर— १ आनन

इस प्रकार अभिनव-मम्मट आदि आचार्यों के मत से काव्य-नाट्य के श्रवण दर्शन के समय रजस् के विगलन हो जाने पर, शुद्ध सत्त्व गुण के उदय होने से, अथवा शुद्ध चित्त के प्रकाश होने से, जो भी भावानुभूति की जाती है, वह केवल आनन्दमयी ही होती है और वही रस अथवा रसनदशा कहलाती है, अर्थात् चित्त उसका विशेषण है और रसन स्थायी भाव का होता है। पण्डितराज ने आगे इस मत में थोड़ा संशोधन किया है। उनका अपना विचार है कि आत्मा को आनन्द अथवा रस रूप कहा गया है। अतः रस तो आत्मा ही है। क्योंकि आनन्द आत्मा का ही रूप है। अतः रसन अथवा आनन्दमयी अनुभूति तो आत्मा अथवा चित् की होती है—स्थायीभाव उसके विशेषण रहते हैं—अर्थात् जब रतिविशिष्टाचित् का रसन होता है तो हम उसे शृङ्गाररस कहते हैं—जब हासविशिष्टाका, तो हास्य इत्यादि। रस में चित् का अंश रहता है, अतएव वह अनित्य एवं इतरभास्य भी रहता है। इसकी चर्वणा का अर्थ है चित् के आवरण का भङ्ग होना अथवा अंतःकरणवृत्ति का तदाकार हो जाना[1]।

रसानन्दस्वरूप पर मतभेद—साङ्ख्यशास्त्र की दृष्टि से मधुसूदन सरस्वती ने रसानन्द के मूल में सत्त्वगुण को माना है। चित्त का द्रवीभाव सत्त्व के कारण ही होता है। और वही स्थायी को रसता देता है। सुखरूपता, केवल सत्त्वगुण की विशेषता है। क्रोध में, जो रजोगुण से सम्बन्धित है, तथा शोक में, जो तमोगुण से सम्बन्धित है, सत्त्व का अतिस्वल्प अंश रहता है। अतः इन स्थायिओं की रसदशा में आनन्द की वह पूर्णता नहीं रहती, जो सत्त्व-गुण-बाहुल्य वाले भावों की रस दशा में होती है। यहां रजस् तथा तमस् का अंश मिश्रित रहता है। अतः दोनों प्रकार के रसों में आनन्द का तारतम्य मानना ही पड़ेगा। सभी रसों में तुल्य सुख का अनुभव हो ही नहीं सकता[2]।

किन्तु वेदान्तसिद्धान्त की दृटि से उसी रसस्वरूप पर विचार करते हुए मधुसूदन ने ही अपने सांख्य मत का एकदम खण्डन कर दिया। तब उनका कहना है कि यद्यपि काव्यरस लौकिक रस से श्रेष्ठ है, किन्तु इसकी समता ब्रह्मानन्द से नहीं की जा सकती—क्योंकि ब्रह्मानन्द की तुलना में तो काव्यरसानन्द भी लौकिक ही कहा जायगा, यहां भक्तिरस, उसमें स्थायी तथा आलम्बन दोनों ही परमात्मा के होने के कारण, ब्रह्मानन्द के समान माना जा सकता है। फिर काव्यार्थरूप से वर्णित वे रत्यादिभाव लौकिक ही रहते हैं तथा सुख दुख आदि रूप के होते हैं, किन्तु बोद्धा अथवा सहृदय जब उनका आस्वादन करने लगता है तो वे सब अलौकिक तथा केवल सुख-रूप हो जाते हैं[3]।

---

१. रसगंगार — १ आनन

२. भक्तिरसायन १।१८ की टीका।

३. बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखाहितेवः।
 बोद्धनिष्ठास्तु सर्वेपि सुखमात्रैकहेतवः॥ —भक्तिरसायन ३।५

इनके अतिरिक्त रस के सुख-दुःखादि स्वरूप पर अन्य अचार्यों ने भी अपने निश्चित मत दिये हैं। यहां प्रसङ्गतः उनके विषय में इतना ही कहना है कि कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जो सभी रसों को आनन्द रूप ही नहीं मानते। हरिपालदेव ने अपने संगीत-सुधाकर में तेरह रसों का उल्लेख किया है, जिसमें शृङ्गार रस को सम्भोग-विप्रलम्भ से पृथक् ही माना है, जिसका स्थायी भाव आह्लाद बताया है। सम्भोग और विप्रलम्भ को उन्होंने दो प्रकार का पृथक् ही रस कहा है, जिनके स्थायी भाव क्रमशः 'रति' तथा 'अरति' होते हैं[1]। उनका स्थिर मत है कि सम्भोग, विप्रलम्भ दोनों को एक ही रस के दो पक्ष नहीं मानने चाहिए, क्योंकि शृङ्गार तो शुचि, उज्ज्वल तथा हर्षवर्धन होता है, जबकि विप्रलम्भ मलिन, दुःखकारी तथा अप्रियावह माना गया गया है—अतः दोनों एक नहीं हैं[2]। हां, विप्रलम्भ को सम्भोगजन्य उसी प्रकार कह सकते हैं, जैसे भयानक को वीरजन्य।[3] शृङ्गार उच्चवर्ग के प्राणी (मनुष्य) में कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। अतः अनित्य है, जब कि सम्भोग पशुपक्षिमनुष्य सब में गोचर होता है, अतः नित्य कहा जायगा[4]—जिन पशुओं तथा पक्षियों के प्रेम को आचार्यों ने रसाभास कहा है, वह हरिपाल के सम्भोग रस में आता है। इस प्रकार उन्होंने शृङ्गार एवं सम्भोग दोनों से पृथक् विप्रलम्भ को दुःखरूप ही माना है।

केवल हरिपाल ही नहीं, रुद्रभट्ट ने भी विप्रलम्भ की रति में आनन्द का अभाव माना है[5], यद्यपि वे विप्रलम्भ को एक पृथक् रस नहीं मानते। उन्होंने रसमात्र को कुछ सुख तथा कुछ दुःख रूप बताया है।[6]

---

१. (पृ० १७—दि एन०ओ०आर० में उद्धृत, पृ० १४६)

२. शृंगारस्यैव भेदौद्वौकथितौ तदसाम्प्रतम्।
उज्ज्वलः शुचिरित्युक्तः शृंगारो हर्षवर्धनः।
मलिनोदुःखकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावहः।
अतः शृंगारतो भिन्नो विप्रलम्भउदाहृतः॥ —(दी एन०ओ०आर० में उद्धृत, पृ० १४५)

३. भयानकस्य वीरस्य जन्यस्यजनकस्य च।
यो भेदो विप्रलम्भस्य संभोस्य च स स्मृतः॥ वही

४. अनित्यस्तत्र शृंगारः क्वाचित्को दृश्यते यतः।
पशुपक्षि-मृगाद्येषु यतश्च न विलोक्यते॥
सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्ति नित्यता।
अतोऽभ्यधायि सम्भोगो रसः शृंगारतः पृथक्॥—दी एन०ओ०आर० न उद्धृत, पृ०१४५

५. आनन्दात्मकत्वं रतेः कैश्चिदुक्तं तच्चिन्त्यम्, विप्रयोगादेः आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात्॥
—रसकलिका, पृ० ५१, ५२; दी एन० ओ० आर० में उद्धृत, पृ० १५५

६. रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्। वही

भोज ने भी रस को सुख-दुःखरूप माना है ।[1] किन्तु उन्होंने दुःखरूप में रस को बताते हुए स्पष्टतः लौकिक रस की ही ओर संकेत किया है । इसी प्रकार 'नाट्य-दर्पण' में रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी रस को सुख-दुःखात्मक माना है ।[2] उनका कहना है कि उन दुःखात्मकरस वाले नाटकों में भी जो हम आनन्द का अनुभव करते हैं, वह नाट्यकार अथवा नाटक की कला-प्रवीणता के कारण है । किन्तु, जैसा कि अभी संक्षेप में संकेत किया गया है, उन्होंने रस को आनन्दरूप ही माना है, तथा उसे लौकिक भाव से पृथक् कहा है । अभिनव ने सुख-दुःखादि विवधरूप लौकिक भावों के चर्वणारूप रस को केवल आनन्दरूप माना है । वहां दुःख की शङ्का ही क्या ?[3] धनञ्जय ने रसास्वाद को आत्मानन्दसमुद्भूत अतएव आनन्द रूप कहा है ।[4] मम्मट ने काव्य में रस को सकलप्रयोजनमौलिभूत माना है तथा रसास्वाद को आनन्दरूप माना है ।[5] विश्वनाथ ने तो रस को सत्त्वोद्रेक के कारण अखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मय ब्रह्मास्वादसहोदर कहा है ।[6] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि लौकिक शोक हर्षादि के कारणों से लोक में शोक-हर्षादि ही उत्पन्न होते हैं, यह सिद्धान्त लोक में यथार्थ है, किन्तु काव्य में सभी प्रकार के विभावादिकों से केवल सुख ही उत्पन्न होता है ।[7] और, जैसा कि अभी कहा गया है, पण्डितराज जगन्नाथ का तो निर्णीत मत है कि 'रति आदि स्थायी भाव स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस में परिणत हो जाते हैं ।[8] अस्तु ।

रसयोग्यतावाले भाव— भरत ने केवल उन्हीं भावों को रसदशा में पहुंचने योग्य बताया है, जो भावों के बीच वही हैसियत रखते हैं, जो मनुष्यों के बीच राजा अथवा शिष्यों के बीच गुरु रखता है—अर्थात् जो भावों में स्वामिभूत हैं, स्वतन्त्र हैं । ऐसे भाव कुल उन्चास भावों के बीच केवव आठ या नौ ही हैं । इन्हें स्थायीभाव कहते हैं । इनके सहायक

---

१. रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः —शृ० प्र०

२. सुखदुःखात्मको रसः — श्लोक १०६, पृ० १५८

३. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । —अभि० भार०

४. स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः । —द० रू०, ४।४३

५. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् । —का० प्र०

६. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः —सा० द० ३।२

७. काव्ये पुनः सर्वेभ्यो पि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते इति नियमान्नकश्चिद्दोषः सा० द०, पृ० ३

८. स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः रत्यादि रेव रसः । —र० गं०, १

रूप में अन्य भाव प्रयुक्त होते हैं। जब ये भाव सहायक-सम्पन्न होते हैं तो रस-दशा तक पहुंच जाते हैं—अन्यथा भावरूप में ही रहते हैं और स्वयं भी किसी दूसरे सर्वथा सम्पन्न भाव के सहायक बन जाते हैं। उस समय उन्हें स्थायी या रस आदि न कह कर केवल भाव कहना चाहिए। क्योंकि स्थायित्व अथवा रसत्व तो उनकी एक विशिष्ट उपाधि है। किन्तु वह भी केवल उन आठ या नौ की ही है, अन्य की नहीं। तथापि कुछ अन्य आचार्यों ने इस मत के रहस्य को बिना समझे यहां तक कह डाला कि केवल आठ या नौ ही नहीं, अपितु कोई भी व्यभिचारी भाव अन्य व्यभिचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव कहलाने का अधिकारी होता है। रुद्रट निर्वेदादिक सभी भावों में, मधुर आदि लौकिक स्वादों की ही भाँति रसनीयता होने के कारण, रसत्व मानते हैं। सभी भावों को रस नाम दिया है[1]—। और साथ ही इसकी टीका करते हुए नमिसाधु ने तो यहाँ तक कहा है कि—"जिसी चित्तवृत्ति या भाव की पुष्टि होगी वही रस कहलायेगा, अन्यथा भाव ही रहेगा। भरत ने तो आठ या नौ को रस कह कर केवल संज्ञा का निर्वाह अथवा प्रसिद्धि का पालन किया है।"[2]

अभिनव ने तो एक स्थान पर इस बात का उल्लेख कर दिया है कि कुछ आचार्यों के मत से तो स्थायिओं की (भरत ने) नियत संख्या ही नहीं कही थी।[3]

वस्तुतः जो व्यभिचारियों को भी रस-दशा तक पहुंचने के योग्य बताते हैं, उन आचार्यों के मत से भावों के स्थायी तथा व्यभिचारी नाम के दो वर्ग नहीं हैं, कि कुछ भाव केवल स्थायी हों और कुछ केवल व्यभिचारी, अपितु भावों की ये दो अवस्थायें अथवा धर्म हैं। किन्तु इस मत के अधिक समर्थक नहीं हैं। स्थायिओं को व्यभिचारी (क्योंकि भरत ने भी जुगुप्सा को, जो एक स्थायी भाव है, शृङ्गार का व्यभिचारी होने से निषिद्ध किया है) मानने वाले तो बहुत हैं। अभिनव ने तो भरत की ओर से तथा स्वतः भी इसे स्पष्टतः स्वीकार किया है कि स्थायीभाव व्यभिचारी हो सकते हैं। किन्तु व्यभिचारियों को स्थायी भाव होने का गौरव वे नहीं दे सकते, क्योंकि तब अन्य रस भी संभव हो जायेंगे। यदि कोई व्यभिचारी अन्य व्यभिचारियों से पोषित भी होता है तो भी वह रस नहीं कहला सकता, जैसे पुरुरवा का उन्माद, तर्कचिन्तादि व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर, उनके रतिस्थायीभाव का ही साहाय्य करता है[4]। व्यक्तिविवेक की टीका में एक स्थान पर कुछ स्थायिओं की व्यभिचारिता का लेखा दिया गया है।

---

१. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति ते पि रसाः।।—का० अ० १२।४

२. का० अ० १२।४ की टीका

३. स्थायिषु च सङ्ख्यानोक्तेत्यपरे —अ० भा० वा० १, पृ० २७०

४. स्थायिनोहि व्यभिचारिता भवति, न तु व्यभिचारिणां स्थायिता। आदि —अ० भा०।

शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर' में रत्यादिकों को तब स्थायीभाव होना कहा है, जब वे अधिक विभावों से उत्पन्न हुए हों। थोड़े विभावों से उत्पन्न होने पर उन्हें ही व्यभिचारी कहा जाता है। रसान्तरों में वे इसी (व्यभिचारी) रूप से सम्बद्ध होते हैं। जैसे—शृङ्गार में हास, शान्त में रति, वीर में क्रोध, शोक में भय, भयानक में जुगुप्सा, तथा उत्साह और विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी रूप से ही रहते हैं।[1]

इसी प्रकार भानुदत्त ने प्रायः कुछ इन्हीं स्थायिओं को अन्य रसों में व्यभिचारी का कार्य करते बताया है, जैसे हास शृङ्गार में, रति शान्त, करुण एवं हास्य में, भय और शोक करुण तथा शृङ्गार में, क्रोध वीर में, जुगुप्सा भयानक में तथा उत्साह, विस्मय सभी रसों में।[2]

किन्तु रुद्रट की 'रसनाद्रसत्वमेषाम्' वाली घोषणा के अनुसार सभी निर्वेदादि व्यभिचारियों को भी रस-दशा में पहुंचाने वाले सिद्धान्त का भूयसा अनुगमन भोज ने किया है। उनका कहना है कि "यदि 'रति' आदि (स्थायी) भाव अतिप्रकर्ष पाकर रस कहला सकते हैं तो 'हर्ष" आदि (व्यभिचारी) भावों ने क्या अपराध किया है, जो उनसे किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं? यदि यह कहा जाय कि रत्यादिक स्थायी अर्थात् स्थिर हैं तथा हर्षादिक अस्थायी (अस्थिर), तो उन तथाकथित स्थायिओं में ही भय, हास, शोक, स्थायिओं की स्थिरता ही कितनी देर के लिए होती है[3]? यदि कोई भाव विषयातिशय अथवा बाहुल्येन अनुभूयमान होने के कारण स्थायी है, तो चिन्ता तो वैसा ही सार्वभौम भाव है, जैसा रति। प्रकृति (पात्र) के कारण तथा वासना के कारण यदि किसी भाव को स्थायी-पद प्राप्त होता है तो वह भी तो रति तथा चिन्ता दोनों में एक रूप ही है।[4] और जो यह कहा जाता है कि रति आदि भाव परप्रकर्ष पर पहुंच कर रस कहलाते हैं, तो इस तर्क में भी कोई सार नहीं समझ पड़ता, क्योंकि ग्लानि आदि भाव भी तो परप्रकर्ष प्राप्त करने योग्य हैं। श्रम आदि के कारण ये ग्लानि आदि भाव भी परम प्रकर्ष को प्राप्त करते हैं—विषयातिशय के कारण सात्त्विक, राजस अथवा तामस प्रकृति के कारण जब इन ग्लानि आदि भावों की अनुभूति प्रबल होती है तो उन्हें भी स्थायी भाव कहना चाहिए।[5] आगे इन्होंने रुद्रट का

१. सं० र०, अ० ७, पृ० ८४०, आन० १८१८ ई०

२. रसतरङ्गिणी, तरङ्ग, ५, पृ० ११४, खेमराज प्रकाशन

३. रत्यादयो यदि रसाः स्युरतिप्रकर्षे
हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः।
अस्थायिनस्त इतिचेद् भयहासशोक
क्रोधादयो वद कियच्चिरमुल्लसन्ति ॥ —शृ० प्र०

४. वही

५. वही

मत उद्धृत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि जब सब भावों में तुल्य रूप से रसत्व है तो फिर रति उत्साह आदि कुछ को ही शृङ्गार वीर आदि नाम देना उचित नहीं समझ पड़ता।[1] और फिर भोज ने अनेक ऐसे रसों का भी उल्लेख किया है, जो पहले कभी नहीं सुने गये थे, जैसे—स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग तथा सङ्गम। रुद्रट ने तो व्यभिचारियों अर्थात् चित्तवृत्तियों तक ही रसत्व की सीमा रक्खी थी, किन्तु भोज ने सात्त्विकों को भी उस वर्ग में समेट लिया। और मानों नमिसाधु के इस व्याख्या-वाक्य के साथ उनका सिद्धान्त एक-रूप हो गया—"इस प्रकार के अन्य रतिनिर्वेदस्तम्भादि सभी भावों को रस समझना चाहिए।"

भला भोज ने तो शारीरिक चेष्टा रूप सात्त्विकों को ही, जो भाव कहे जाते हैं, रस बनाया था, दशरूपककार ने तो ऐसों का भी उल्लेख किया है, जो भाव की सीमा से बाहर हैं, जैसे—मृगया तथा अक्ष (द्यूत)। इस प्रकार की रसविषयक यादृच्छिकता का भी कुछ आचार्यों ने पर्याप्त प्रदर्शन किया। अतएव पण्डितराज ने भी कुछ अभिनव (लोचन) की ही भाँति रसविषयक इस अव्यवस्था का इन शब्दों में उल्लेख किया है—"विभावादयः त्रयः समुदिता रस इति कतिपये। त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न इति बहवः। भाव्यमानो विभाव एव रस इति अन्ये। अनुभावस्तथातथाइतीतरे। व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्।"

किन्तु वस्तुतः स्थायी तथा व्यभिचारी के अतिरिक्त अन्य विभाव, अनुभाव एवं सात्त्विक आदि चित्तवृत्ति रूप न होने के कारण रस कहे ही न जाने चाहिए। यह तो एक प्रकार का शैथिल्य-वाद ही कहा जायगा कि विना विवेक के सब को रस नाम दे दिया जाय। अतएव भोज ने सात्त्विकों को रस-योग्यता देते हुए भी उन्हें अनुभावादि से पुष्ट होने योग्य नहीं कहा है, क्योंकि वे स्वयं भी अन्यानुयायी होते हैं।[2] और अभिनव ने तो उन्हें (अनुभाव, विभाव तथा सात्त्विक को) भावता ही नहीं दी है, क्योंकि भाव को वे चित्तवृत्ति ही मानते हैं।[3]

बात यह है कि ये विभाव, अनुभाव (जो जड़ हैं) तथा संचारी स्वतंत्र नहीं होते। ये किसी ऐसे भाव के अधीन अथवा सेवक होते हैं, जो स्वतंत्र होता है, जो स्वयं में विश्रान्त होता है। ये स्वयं में विश्रान्त नहीं होते। उदाहरणार्थ, यदि कहा जाय कि अमुक ग्लान है, तो तुरन्त प्रश्न उठता है कि 'उसकी ग्लानि क्यों है?' और बिना इस प्रश्न के समाधान के मन सन्तुष्ट नहीं होता। अर्थात् इन आश्रित अथवा अन्यमुखप्रेक्षी भावों में स्वयं में विश्रान्ति नहीं होती, क्योंकि वे अनेकों में पाये जाते हैं जैसे—ग्लानि विप्रलम्भ में, वीर में, करुण में,

---

१. सर्वेषांचतुल्येरसत्वेरत्यादीनामेवपरप्रकर्षगमिनांशृङ्गारवीरव्यपदेशइतिनघटते।—शृ० प्र०

२. स० क०

३. "ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावाः, वाह्याश्च वाष्पप्रभृतयो अनुभावाः ते न भावशब्देन व्यपदेश्याः।" "भावशब्देन तावत् चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः।" —अ० भा०

शान्त में तथा अन्य किसी में भी हो सकती है। किन्तु स्थायी भाव स्वतः में पूर्ण होते हैं—वे अन्यमुखप्रेक्षी नहीं होते। वे स्वतन्त्र तथा स्वविश्रान्त होते हैं। अतः उन्हें मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु की समता दी गयी है। अमुक में रति है, इसे सुनकर हम अब दूसरे किसी भाव को नहीं जानना चाहते, जिसका यह अङ्ग हो। रति स्वयं में विश्रान्त है। अभिनव का व्याख्यान है कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को अपना विषय बनाने (पुरुषार्थनिष्ठ होने) के कारण कुछ भाव प्रधान माने जाते हैं। रति तो काम पुरुषार्थ ही है, साथ ही काम के अनुषङ्गी धर्म और अर्थ भी हैं। क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। उत्साह यद्यपि काम एवं धर्म में पर्यवसित है, किन्तु मुख्यतः वह समस्त धर्मों में पर्यवसित है। तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद तो मोक्षोपाय ही है। उन्हीं से सम्बन्धित अन्य पांच भाव भी हैं। अतएव ये स्थायी कहलाते हैं। यद्यपि इनमें भी प्रधानता का तारतम्य है—अतएव श्रृङ्गार से हास्य आदि एक प्रधान से किसी कम प्रधान दूसरे की उत्पत्ति कही गयी है। उनका परस्पर गुणप्रधान-भाव चला करता है, किन्तु रूपक-भेद से कोई किसी में, कोई किसी में प्रधान हुआ करता है। इतना निश्चय है कि रसत्व इन्हीं (आठ या नौ) प्रधान भावों को दिया जा सकता है।[1]

किन्तु इस प्रसङ्ग में एक बात पुनः स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि व्यभिचारी भाव वास्तव में मनोवृत्तियां ही हैं। यद्यपि भोज ने भी व्यभिचारी भावों को दो प्रकार का कहा है—स्वतन्त्र तथा परतन्त्र। स्वतन्त्र वे हैं जो स्वतः आस्वाद्य होते हैं, तथा परतन्त्र वे हैं जो दूसरे भाव को पुष्ट करने जाते हैं। किन्तु इस स्वातन्त्र्य से उन्हें सर्वथा रस-दशा तक पहुंचने योग्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा होता तो स्वयं भोज ही रस की संख्या दस या बारह ही क्यों मानते। इसी प्रकार जो आचार्य रसों की संख्या भी निर्धारित करे और सब व्यभिचारियों को रस भी बताये उसका मत भी ऐसी ही व्याख्या के साथ समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने भी रत्यादिकों को विभावभूयिष्ठ रहने पर स्थायी भाव तथा अल्पविभाव-युक्त रहने पर व्यभिचारी ही माना है।[2] अतएव अन्त में पण्डितराज जगन्नाथ ने स्थायिओं, रसों तथा व्यभिचारी भावों के विषय में भरत की व्यवस्था को ही अन्तिम निर्णीत प्रमाण माना है तथा अन्य किसी भाव को रस होने का अधिकारी नहीं माना है।[3]

---

१. अ० भा० अध्याय ६,

२. तथाहिविभावभूयिष्ठत्वेएषांस्थायित्वम्अल्पविभावत्वे तुव्यभिचारित्वम्—का० अनु०

३. रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेवज्याय:।"

—र० ग०, I आनन

तृतीय अध्याय

श्रृङ्गारपरिभाषा

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने नाट्य के एक अत्यावश्यक अङ्ग के रूप में ही रस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र का प्रणयन महाकवि कालिदास के भी पूर्व ही किया था, यह प्राय: सुनिर्णीत तथ्य है[१]। परवर्ती साहित्य के सभी आचार्यों ने भी भरत को ही रस का प्रथम प्रतिष्ठापक आचार्य माना है। भरत ने रस के बिना नाट्य के किसी तत्त्व की सत्ता सार्थक नहीं मानी है।[२] उन्होंने विशिष्ट रसों का पृथक्-पृथक् उनके विभावादिकों सहित विवेचन किया है। उनमें उन्होंने सर्वप्रथम स्थान श्रृङ्गार रस को दिया है, जिसका कारण अभिनव ने इस प्रकार वर्णित किया है कि इसमें कामपुरुषार्थ फलस्वरूप से निहित है, जो सर्वजनसंवेद्य होता है।[३] इतना प्रारम्भ से ही निवेदनीय है कि संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने श्रृङ्गार रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्व तो अवश्य दिया है, उसको प्रधान रस भी माना है तथा उसका निरूपण भी प्राय: सभी ने सर्वप्रथम ही किया है, किन्तु उसका रसराज इस संज्ञा से अभिधान किसी ने नहीं किया है। श्रृङ्गार की यह संज्ञा अथवा उपाधि हिन्दी-साहित्य के मध्ययुगीन आचार्यों द्वारा दी गई है।

हां, तो भरत ने श्रृंगार का लक्षण इस प्रकार किया है—"रतिनामक स्थायीभाव से जिसका प्रभव हो उसे श्रृङ्गार कहते हैं।" प्राय: यही लक्षण बाद के सभी आचार्यों ने दुहराया है। इसमें भरत ने रस-निष्पत्ति की विधा की ओर कोई विशिष्ट संकेत नहीं किया है—कि वह वाच्य है या व्यंग्य, उत्पाद्य है या अनुमेय आदि। रति भाव से ही श्रृङ्गाररस का प्रभव होता है। "लोक में उज्ज्वल वेष को श्रृङ्गार ही कहते हैं। प्राय: देखा जाता है कि जो वस्तु

---

१. जैसा कि स्वयं महाकवि ने अपने विक्रमोर्वशीय में कहा है—
मुनिना भरतेन य: प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त:।—२।१८

२. नहि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्त्तते।

३. तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं श्रृङ्गारं लक्षयति —अ० भा०

स्वच्छ, पवित्र, चमकदार अथवा दर्शनीय होती है, लोग उसे शृङ्गार के समान कहते हैं। जिसका वेष उज्ज्वल (चमकदार) होता है, अथवा जो मण्डित होता है, उसे शृङ्गारवान् कहते हैं। और, जैसे गोत्र, कुल, आचार्य के अनुसार आप्त-पुरुषों द्वारा रक्खा हुआ पुरुषों का नाम सिद्ध हो जाता है, अर्थात् चल पड़ता है, उसी प्रकार नाट्य के इन रसों एवं भावों के नाम आप्त आचार्यों के उपदेश से लोक में रूढ़ हो गये हैं। चूंकि नाट्य में यह रस मनोहर उज्ज्वल (चमकदार) वेष से अभिनीत होता है, अतः इसे शृङ्गार रस कहते हैं। उस रस के आस्वादन में परस्पर अभिलाष द्वारा सम्बद्ध स्त्री-पुरुष हेतु हैं। किन्तु उत्तम कोटि के युवक स्त्री-पुरुष का ही परस्पर का अभिलाष शृङ्गार रस बनता है, अनुत्तमों का नहीं।[1]" भरत के पूर्व भी इस रस का नाम शृङ्गार ही था, यह 'आचारसिद्ध' कहने से ज्ञात होता है। रसशास्त्र के प्राक्तन विद्वानों में यही नाम रूढ़ रहा तथा ब्रह्मादि आप्त आचार्यों ने यही नाम चलाया था।[2]

शृङ्गार की परिभाषा के प्रसङ्ग में नाट्यशास्त्र की एक कारिका का पाठ कुछ अटपटा-सा लगता है, कारिका है—सुखप्रायेषृसम्पन्नः ऋतुमाल्यादि-सेवकः।

पुरुषः प्रमदायुक्तः शृंगार इति संज्ञितः। ना० शा० ६।४६

अभिनव ने अपनी प्रतिभा के बल से इसकी व्याख्या अपनी विशिष्टशैली के अनुरूप खींचतान करके कर ही दी है। यहां इस पाठ में प्रमदायुक्त पुरुष को ही शृङ्गार कहा है—अभिनव ने पुरुष का अर्थ भोक्ता किया है। वह संवेदनारूप अथवा स्थायिसंविद्रूप है। व्यभिचारी भाव तो केवल भोगस्वभाव वाले होते हैं। अतः (उपचारात्) पुरुष को रति ही कहा जा सकता है, जैसे गीता में पुरुष को श्रद्धामय अथवा श्रद्धारूप कहा गया है। इस प्रकार प्रमदा भी (भोक्त्रीत्व) के नाते रति कही जा सकती है। किन्तु भोक्तृता में पुरुष को प्रधान रूपसे समझा जाता है, प्रमदा को तो भोग्य ही माना जाता है। अपनी प्रधानता ही के कारण पुरुष स्त्री का भोग्य रूप में परतन्त्र नहीं होता और अन्य नायिका के साथ योग होने पर भी वहां शृङ्गार रस में हानि नहीं मानी जाती। किन्तु भोग्य के परतन्त्र (भोक्तृअधीन) होने के कारण ही भोक्ता के सम्मीलन (मृत्यु) के पश्चात् शृङ्गारभङ्ग ही हो जाता है[3]—किन्तु इस कारिका का पाठ ही दूसरा समझ पड़ता है, जिसका उल्लेख गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज प्रकाशन में टिप्पणी में हुआ है। तदनुसार यह कारिका इस प्रकार पढ़ी जानी चाहिए—

'सुखप्रायेष्टसम्पन्नः ऋतुमाल्यानुसेवकः। पुरुषप्रमदायुक्तः शृङ्गारइति संज्ञितः॥

अब बिना किसी खींचतान के सीधा सारा ग्राह्य अर्थ निकल आता है।

---

१. ना० शा०

२. अ० भा०, पृ० ३०१

३. अ० भा०

भरत ने तो नाट्य के ही प्रधान तत्त्व के रूप में रसों का विवेचन किया था[1]। किन्तु उनके पश्चात् भामह-दण्डी-उद्भट-वामन-प्रभृति आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता का उद्घोष किया। उनकी दृष्टि में रस भी एक प्रकार का अलङ्कार ही था। केवल रुद्रट ने रस का कुछ विस्तार से विवेचन किया—यद्यपि हैं वे भी अलङ्कारवादी ही। उन्होंने काव्य में शृङ्गाररस का अधिक विस्तार से विवेचन किया है—रुद्रट के अनुसार परस्पर अनुरक्त पुरुष-स्त्री का रतिमूलक व्यवहार शृङ्गार रस कहलाता है।[2] रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने शृङ्गार की परिभाषा में आये 'रक्तयोः' पद की व्याख्या करते हुये लिखा है कि माता-पुत्र, पिता-पुत्री एवं भाई-बहन के परस्पर व्यवहार को कहीं शृंगार न मान लिया जाय, अतः 'रक्तयोः' पद प्रयुक्त किया गया है—क्योंकि वे कामानुविद्ध रति के कारण परस्पर 'रक्त' नहीं होते, उनका तो वह आपाततः निष्काम सहज सम्बन्ध होता है। वह अनुरक्तों की रति नहीं है।

रुद्रट के काव्यालङ्कार-गत रसनिरूपण के आधार पर अधिकांशतः निर्मित रुद्रभट्ट (६५० ई० से ११०० ई० के बीच) का शृङ्गारतिलक काव्य के केवल रस विषय का बड़े विस्तार से विवेचन करता है। उसका आधार प्राधान्यतः रुद्रट का काव्यालङ्कार (अध्याय १२ से १४) ही है। पदावलियां तक उसी की ली गई हैं। शृङ्गार के निरूपण की अवतरणिका-सी देते हुए रुद्रभट्ट कहते हैं—त्रिवर्ग में धर्म से अर्थ की उत्पत्ति मानी जाती है और अर्थ से काम की। इसी काम से सुख-रूपी फल उद्भूत होता है। उसकी सिद्धि के लिए रसों में नायक शृङ्गार रस और शृङ्गारी नायक साधुतर (श्रेष्ठ) होता है।[4] इनके शृंगाररस का वही लक्षण है, जो रुद्रट कह चुके हैं। अर्थात् परस्पर अनुरक्त पुरुष और स्त्री की जो रतिमूलक चेष्टा होती है, उसे शृंगार कहते हैं।[5]

आनन्दवर्धन (ई० ८५० से ६०० के आस पास) ने शृंगार को मधुर विशेषण दिया है और उसे मधुर रस[6] कहा है। इसकी व्याख्या अभिनव ने बड़े सुन्दर तर्क के साथ की हैं कि जैसे शर्करादि का माधुर्य, जीभ पर पड़ते ही विवेकी या अविवेकी, स्वस्थ या रोगी सबको अभिलषणीय (प्रिय) लगता है, वैसे ही रतिभाव के प्रति देव, मानव, पशु-पक्षी सबकी

---

१. प्रायोनाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थितिः। —शृ० ति० १।५

२. व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रभृतिः शृङ्गारः।—का० अ०

३. सूक्तिमुक्तावलीकार जल्हण, सदुक्तिकर्णामृतकार श्रीधर-दास तथा भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भ्रमवश दोनों आचार्यों को एक ही समझ लिया है।

४. धर्मादर्थोऽर्थतः कामः, कामात् सुखफलोदयः।
साधीयानेष तत्सिद्ध्यै शृङ्गारोनायकोरसः॥ —शृ० ति० १।२०

५. शृ० ति० १।२०

६. शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।—ध्व० २।७

अविछिन्न वासना होती है। अतः रति-भाव के प्रति संसार का ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसके हृदय का संवाद न होता हो—यतियों तक को तो उससे आह्लाद होता ही है, अन्य की क्या बात? इस प्रकार सर्वप्रियता एवं सर्वानुभवगम्यता के कारण जैसे शर्करा को मधुर कहते हैं, वैसे ही श्रृंगार को भी 'मधुर' कहा है। आनन्दवर्धन की कारिका में ही श्रृङ्गार को मधुर नाम देने का कारण प्रह्लादन यह विशेषण दिया गया है। अन्य रसों की अपेक्षा इसमें अधिक प्रह्लादहेतुता होने के कारण ही इसे मधुर कहा गया है।[1]

धनंजय ने अपने दशरूपक (ई० ९७४ से ९९६ ई० के बीच) में श्रृंगार रस का लक्षण-निरूपण इस प्रकार कुछ विस्तार से किया है—परस्पर अनुरक्त युवक नायक-नायिका के हृदय में, रम्यदेश, काल, कला, वेश, भोगादि के सेवन से आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है। यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा उपलक्षित हो एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रहृष्यमाण) होकर श्रृङ्गाररस कहलाता है।[2] इसमें धनञ्जय ने 'यूनोः' के द्वारा आलम्बन, 'रम्यदेश' आदि के द्वारा (तथा मधुराङ्गविचेष्टित के द्वारा भी) उद्दीपन, 'मधुराङ्गविचेष्टित' के द्वारा अनुभाव एवं संचारी इत्यादि श्रृङ्गार के सब अंगों का संकेत कर दिया है। धनिक का कहना है कि धनञ्जय का यह लक्षण कवियों के लिए श्रृङ्गाररचना के विषय में उपदेश रूप है।

महाराज भोज ने (लगभग १००५ ई० से १०५४ ई० के बीच) साहित्यशास्त्र में श्रृङ्गाराद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की है। उनके श्रृङ्गारस्वरूप को बताने के पूर्व यहां आवश्यक है कि उनके रस-विषयक सामान्य मत का किञ्चित् उल्लेख किया जाय, क्योंकि वही श्रृंगार-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि है। दण्डी ने प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्वि—इन तीन भाव-प्रधान अलङ्कारों का एक कारिका द्वारा इस प्रकार लक्षण किया था—"प्रियतर अर्थात् प्रीति या भक्ति की उक्ति को 'प्रेयस्' अलङ्कार, श्रृंगार, हास्य आदि आठों रसों वाली उक्तियों को 'रसवत्' अलङ्कार तथा रुढाहङ्कार या गर्व भरी उक्तियों को 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार कहते हैं, और ये तीनों ही प्रकार के अलङ्कार उत्कृष्ट माने जाते हैं।" किन्तु भोज ने इस कारिका की व्याख्या अपने ढंग से की और यहीं से अपने रस-सिद्धान्त का श्रीगणेश किया। उनका कहना है कि ये तीनों ही एक ही रस की तीन अवस्थायें हैं। भोज ने इनका क्रम बदल दिया, और अन्तिम उल्लिखित अर्थात् रुढाहङ्कार को प्रथम या मूल अवस्था बताया। भोज का कहना है कि जिसे ऊर्जस्वि या रुढाहङ्कार कहा गया है वह रस का प्रारम्भिक रूप है, जो अहङ्कार या अहन्ता रूप से प्रत्येक आत्मा में पूर्वजन्म के अनुभावों या

---

१. श्रृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। —ध्व० २।७

२. द० रू० ४।४७, ४८

३. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रुढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्॥ का० आ०

संस्कारों के रूप में रहता है। यह अहङ्कार गर्व का पर्याय नहीं अपितु अहन्ता का पर्याय है, आत्मसम्मान या आत्मस्नेह रूप है। यह भोज के प्रतिपादयिष्यमाण रस की परा-कोटि है।[1]

इसके बाद की अवस्था 'मध्यमावस्था' कही जाती है, जिसमें मूलभूत अहङ्कार, अपने को वाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में 'अभिमान' रूप में व्यक्त करता है। भोज का कहना है कि मन के अनुकूल दुःखादिकों में भी सुखाभिमान रस कहलाता है[2]—इस प्रकार उस मूलभूत अहङ्काररूप एक रस या भाव का अनेक भावों के रूप में स्फुरण होता है। यह वह अवस्था है, जहां अनेक भाव, जो एक अहङ्कार बीज से अंकुरित हुए, पूर्णविकास प्राप्त करते हैं। इस मध्यमावस्था के विकसित ये भाव पूर्णविकसित होते हुए भी भावरूप ही हैं। इस समय इन्हें उपचार से रस कहा जाता है, क्योंकि मूलभूत अहङ्कार रूप रस अपना धर्म इनमें भी फैलाता ही है। इस अवस्था में रति, हास, उत्साह आदि भाव शृंगार, हास्य, वीर आदि का रूप धारण करते हैं। इसी को दण्डी ने 'रस-पेशल रसवत्' कहा है।

अन्त में तीसरी अवस्था आती है—दण्डी के शब्दों में यह 'प्रेयस्' है—जिसमें 'प्रेयस्' का वर्णन होता है। भोज के अनुसार यह उस मूल रस की उत्तराकोटि है। यहां रति आदि सभी भाव जो अपना व्यक्तिगत उत्कर्ष पा चुके रहते हैं, फिर एक रस के रूप में परिणत हो जाते हैं, जिसे 'प्रेमन्' कहते हैं। अर्थात् रति, हास आदि का प्रकर्ष केवल प्रेमन् कहलाता है। इस प्रकार मध्यमावस्था के अनेक रस अन्त में प्रेमन् नामक एक रस में समन्वित हो जाते हैं। इसी उत्कर्ष पाने की अवस्था को 'शृंगार' भी कहते हैं।[3] इन भावों का आनन्द मिलना ही इनका उत्कर्ष कहा जायगा। और वह आनन्द ही उस भाव के प्रति प्रेम रूप है। अतः सभी भावों का उत्कर्ष एक नाम 'प्रेम' से ही अभिहित होता है।[4] यह सिद्धान्त उप-निषद् के 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' सिद्धान्त की प्रतिध्वनि-सा करता जान पड़ता है। इस प्रकार भोज की 'परा' और 'उत्तरा' कोटि में रस का केवल एक ही रूप रहता है। वह दूसरे शब्दों में रस की अद्वैत पारमार्थिक सत्ता कही जायगी। इन दोनों के मध्य में व्यावहारिक अवस्था होती है, जहां अनेक रसों का भान होता है। तीसरी अवस्था

---

१. यहां 'परा' शब्द प्रथम या आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे वाक् का प्रथम रूप 'परा' है, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी बाद की अवस्थायें हैं।

२. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः, रसः।—शृं०, प्र०, पृ० ४३६

३. (येन) रस्यते यः (येन) अनुकूलवेदनीयतया दुःखमपिसुखत्वेन अभिमन्यते येन रसिकै-रहंक्रियते येन शृङ्गम् उच्छ्योरीयते स खलुतादृशो स्ति। —(भट्टनरसिंह की स० क० की टीका ५।१२)।

४. रसत्वं हि प्रेमाणमेवामनन्ति, सर्वेषामेवहि रत्यादिप्रकर्षाणां रति-प्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रिय इति प्रेमण्येव पर्यवसानात्। —शृं० प्र०, अध्याय ११

वस्तुतः मध्यमावस्था की विकृतियों का पुनः प्रथम अवस्था की प्रकृति को ही प्राप्त करना है। भोज के इस सिद्धान्त के अनुसार मूलभूत एक ही रस है। उसके बाद अनेक भाव आते हैं, जो सभी रस बनने की योग्यता रखते हैं। किन्तु उनको 'रस' उपचार के ही आधार पर कहा जायगा (यद्यपि शृंगार एव एकोरसः, तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादयस्ते प्युद्दीपनविभावै रुद्दीप्यमानाः तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते)। और अन्त में उन सबसे केवल एक रस प्रेमन् की प्रतीति होती है।

यहां 'अहंकार' का अर्थ गर्व (Egotism) नहीं है, अपितु दार्शनिक भाषा में यह 'अहम्' 'स्व' (Ego) का वाचकमात्र है। इसी प्रकार यहां शृंगार का, जो अहंकार के पयार्यरूप में प्रयुक्त होता है, अर्थ पुरुष-स्त्री के बीच उद्रिक्त रतिभाव की दशा नहीं। वह केवल प्रेमन् या आत्मप्रेम कहा जा सकता है, जिसका कोई बाह्यवस्तु विषय नहीं है। इसे अभिमान भी कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण प्राणी दुःखद को भी सुखद के रूप में अनुभव करता है। चूंकि मनुष्य क्लेश को भी सुख के रूप में ग्रहण करता है, अतएव इसे अभिमान कहते है। इसे अहंकार कहते हैं, क्योंकि रसिकों में आत्मचेतना परिष्कृत होती है, जो उनके अनेक जन्मों के संस्कार के कारण होती है। यह है उसे रसका स्वरूप[1]। इसे 'शृंगार' कहते हैं, क्योंकि यह मनुष्य को सांस्कृतिक पराकाष्ठा पर पहुँचाता है। यह स्वयं ही सांस्कृतिक चरमावस्था है[2]। इस प्रकार भोज अहंकार को ही अभिमान कहते है, क्योंकि यह सर्वत्र, यहां तक कि दुःख में भी आनन्द की सृष्टि करता हैं। इसे ही शृंगार भी कहते है, क्योंकि यह स्वयं शृंगार (peak) रूप है, और मनुष्य को पूर्णता के शृंग पर ले जाता है। भोज के अनुसार अहंकार, अभिमान, शृंगार तीनों शब्द एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्था के वाचक हैं—वस्तु एक ही है।

यहां एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भोज ने 'रस' शब्द को ही दो अर्थो (Significances) में प्रयुक्त किया है। प्रथम तो पूर्वोक्त अहंकार या शृंगार के अर्थं में, और केवल उसी एक को रस माना है, अन्य को नहीं[3]। दूसरे, मध्यमावस्था में स्थित विकसित रति, हास, आदि भावों के अर्थ में भी। हां, उनको भोज ने उपचारात् रस नाम दिया है वस्तुतः भोज के अनुसार वे भाव ही हैं, क्योंकि वे भावना-पथपर रहते है अथवा भावना के विषय होते है। रस तो वह है जो भावनापथ से भी परे हो[4]। अन्य आलंकारिकों ने तो इसी अवस्था में स्थित रत्यादि भावों को रस कहा है, और उसकी शृंगार आदि

---

१. शृ० प्र०, पृ० ४६६। २. वही ५।१।

३. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

४. आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः। यो भावना-पथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृतौ हृदिपरं स्वदते रसो सौ। शृ० प्र० ५२०।

आठ या नव या दस इत्यादि संख्यायें बताई हैं, और यह भी विवेचन किया है कि रसों का प्रभव भावों से होता है अथवा भावों का रसों से इत्यादि। किन्तु इस मध्यमावस्था में भोज ने केवल आठ या नव ही नहीं अपितु जितने भाव है उन सबको रस रूप में स्वीकृत कर लिया है, जिनमें एक रति-श्रृंगार भी है। भोज के लिए सभी भाव समान रूप के है। आठ या नव स्थायी हैं, ततीस व्यभिचारी हैं, आठ सात्त्विक है इस प्रकार का भेद भोज नहीं मानते। उनके विचार से इन उन्चासों का समान रूप से रसन हो सकता है। किसी एक के रसन के समय उसका प्राधान्य हो जाता है, तथा अन्यों का अप्राधान्य। इसी को चाहें तो कह सकते है कि एक स्थायी हो जाता है, शेष उसके व्यभिचारी ही रहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में भोज ने भरतमुनि के स्थायी का रस होने वाले सिद्धान्त का भी खण्डन कर दिया है, क्योंकि जैसे स्थायियों का वैसे ही व्यभिचारियों को भी तो विभावानुभाव का संयोग मिलता है[1]—इस विचार में वे रुद्रट के 'रसनाद् रसत्वमेषाम्' इस इस सिद्धान्त का समर्थन करते-से समझ पड़ते हैं। भोज ने सब का उत्थान एक अहंकार से माना है, अतः सबकी समान हैसियत है। सभी स्थायी बन सकते है, क्योंकि सभी सत्त्व अर्थात् मन से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उन्होंने अहंकाररूपी रस से उन्चास भावों की उत्पत्ति बतायी है[2]। ये भाव जब उद्दीप्त होते है तो उनसे परिवेष्टित वह अहंकार या शृङ्गार लपटों से प्रोद्भासित अग्नि की भांति रसिकों द्वारा आस्वादित होता है[3]। इसके आस्वादन के लिए पूर्व जन्म के अहंकार या श्रृंगार का संस्कार चाहिए। जिनमें वह संस्कार होता है वे (अहङ्कारी ही) श्रृंगारी कहलाते हैं, और वे ही इन मध्यमावस्था के रत्यादि भावों का आस्वादन कर सकते हैं। उस श्रृंगार की यह मध्यमावस्था, भावनावस्था या भावावस्था कहलाती है। उस अवस्था की प्रकर्ष-दशा या ऊंची दशा ही रस-दशा है, जो वही है जो प्रथम दशा थी—(श्रृंगारिणो हि रत्यादयो जायन्ते, न अश्रृंगारी हि रमते, रमयते, उत्सहते, स्निह्यतीति। ते तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। यावत् संभवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रस इति—श्रृ० प्र०)। वह एक प्रकार से समन्वयदशा कही जायगी। अर्थात् भाव पुनः एकमात्र प्रारम्भिक रस-दशा में वापस पहुंच जाते हैं, जहां से वे निकले थे। प्रकर्ष प्राप्त कर वे भावनादशा को उत्तीर्ण कर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रेमन् दशा में या अहङ्कार दशा में पुनः विलीन हो जाते हैं। प्रेमन् की दशा में प्रत्येक भाव प्रेमन् रूप हो जाता है—जिसे आत्मप्रेम, अहङ्कार, अभिमान, श्रृंगार आदि चाहे जो नाम दें।[4] भोज का मत है कि उनका यह अहङ्कार=भावप्रकर्ष=प्रेमन् व्यवस्थ रस दण्डी के क्रमशः तीन भावालङ्कारों ऊर्जस्वि, रसवत् और प्रेयस् पर अवलंबित है।

---

१. श्रृ० प्र०

२. तत एते रत्यादयो जायन्ते रत्यादीनामयमेवप्रभवः इति—श्रृ० प्र०

३. श्रृ० प्र०। ४. श्रृ० प्र०, पृ० ३५२।

भोज ने अपने इस रससिद्धान्त में सांख्यदर्शन की बड़ी सहायता ली है। सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार (अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा) रस भी आत्मा का धर्मरूप ही कहा जायगा। तभी तो किसी को 'रसिक' किसी को 'अरसिक' कहा जाता है।[१] इसके अतिरिक्त भोज का अहङ्कार सांख्यों का तीसरा तत्त्व ही है --"प्रकृते र्महांस्ततोऽहंकारः" इसे ही सांख्य में अभिमान भी कहते हैं। अभिमानोऽहंकारः। सां० कारिका—२४।

भोज का यह अहङ्कारसिद्धान्त ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भोज रसिक को ही रस का आश्रय मानते हैं, काव्य को नहीं—'(रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः। ते च शरीरिणां चैतन्यवतां न काव्यस्य)'[२] अहङ्काररूप रस से रामादि में सब भाव उठते हैं। अतः वे भाव भी (उपचारात्) रस कहे जाते हैं। इसी प्रकार (उपचारात् ही) जिस काव्य में ये भाव व्यक्त किये जाते हैं, वह भी रस या रसाश्रय कहा जायगा। अभिनय करने वाला नट भी रसवान् है। कविता तो रसमयी है ही।[३]

भोज भी दण्डी और लोल्लट की भांति, स्थायीभाव के प्रकर्ष को रस मानते हैं। वह अभिनेता में, अभिनेय में, कवि में, काव्य में तथा रसिक में रहता है। वह अकेले सहृदय में ही नहीं रहता—और न सहृदय का व्यक्तिगत हृदय-संवाद रूप ही है। हां, रस सभी व्यक्तियों में नहीं होता, सभी रसिक नहीं होते। सब में अहङ्कार शृंगार नहीं होता। यह तो पूर्वजन्म के पुण्य का फल होता है।[४] विश्वनाथ ने भी पुण्यवान् को ही रससन्दोह सुलभ माना है, जैसे पुण्यवान् योगी को ब्रह्म-दर्शन।[५] और भोज ने रस का केवल सुख रूप ही नहीं अपितु कुछ को सुख रूप और कुछ को दुःखरूप भी माना है।[६] इस प्रकार का रस या अहङ्कार तथा उससे प्रादुर्भूत भावों का संसार सहृदय, कवि तथा सामाजिक के रसिक हृदयों में निवास करता है। ऐसा रसिक या सुसंस्कृत व्यक्ति ही रस का आश्रय होता है। भोज ने रसदशा को केवल काव्य-नाटक ही तक सीमित नहीं रक्खा है, अपितु लोक-जीवन में भी उसकी सत्ता मानी है। अहङ्कार को भोज ने आत्मप्रेमरूप माना है, क्योंकि इस अहङ्कार की सारी अभिव्यक्तियाँ या चेष्टाएँ आत्मतोष के लिए होती हैं। इस रस को

---

१. असाधारणं तु प्रत्यगात्मगतानादिवासनानुबन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति, तच्च आत्मनो-अहङ्कारगुणविशेषंब्रूमः। स शृंगारः सोऽभिमानः स रसः। शृं० प्र०, पृ० ३५५

२. शृं० प्र०, पृ० ३६६

३. रसवतो रामादेः यद्वचनंतद्रसमूलत्वात् रसवत्। अभेदसमध्यारोपाच्च कविना अनु-क्रियमाणस्यतस्यअनुकरणमपिरसवत्। —शृं० प्र०, पृ० ३७०

४. शृं० प्र० वा० २।

५. पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद् रससन्ततिम्—सा० द० ३

६. रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः।

शृंगार कहते हैं, क्योंकि यह मनुष्य को संस्कृति के उच्चशिखर पर ले जाता है, जो स्वयं एक बड़ा लाभ है—येन शृंगं रीयते स शृंगारः।

तो, यही पूर्वकोटि का अहङ्कार, अभिमान या शृंगार मध्यमावस्था में अनेक भावों के रूप में परिणत हो जाता है। इसकी प्रथमतः चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए चार रूपों में अभिव्यक्ति होती है—धर्म-रूप, अर्थ-रूप, कामरूप और मोक्षरूप में। भोज ने इस अहङ्कार या अभिमान को ही चतुर्वर्ग का मूल माना है—चतुर्वर्गैककारणम्। और अतएव उन्होंने इस शृंगार के चार प्रकार बताये हैं—धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार और मोक्षशृंगार—अर्थात् मनुष्य की चतुर्वर्गफलप्राप्ति के लिए तत् तत् क्रियाकलाप। भरत ने भी काम को मूलभाव तथा सारे भावों का स्रोत बताया था, उसे चारों पुरुषार्थों का मूल बताया था तथा रतिमूलक स्त्री-पुरुष-संयोग रूप काम को शृंगार नाम दिया था।[1] किन्तु भरत को ही भोज ने अपना सम्भवतः प्रेरक नहीं माना है, क्योंकि अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार की उक्तियां एवं सिद्धान्त भरे पड़े हैं।

तो, यही अहङ्कार-शृंगार या परमार्थशृंगार भोज का शृंगाराद्वैत है। उसमें तथा रति-शृंगार में बहुत अन्तर प्रतीत होता है। शृङ्गारप्रकाश में मुख्यतः इसी का विवेचन उद्देश्य समझ पड़ता है, यद्यपि उसके उत्तरार्ध का बहुत बड़ा भाग रतिशृंगार के विवेचन में ही लग गया है। यह अहङ्कार-शृंगार ही शुद्ध निरुपाधि रसानन्द है। रति, हास आदि तो उसकी उपाधियां कही जा सकती है, जो बाद के क्षण में हम उसे देते हैं। वस्तुतस्तु रसानन्द का एक ही रूप है।

किन्तु भोज को अहङ्कार-शृंगार का तथा रतिशृंगार का कोई पृथक्-पृथक् नाम देना चाहिए था। भोज के कुछ स्वयं के विवेचन भ्रम पैदा दर देते हैं। एक ओर तो वे कहते हैं कि वीरादि रस नहीं हैं, अपितु केवल शृङ्गार ही रस है[2], मानों भोज वीर तथा अन्य छः या सात प्रसिद्ध रसों को रस कहने के लिए तैयार नहीं, किन्तु केवल रति के प्रकर्ष रूप शृंगार को ही रस मानते हैं, जैसा कि वे यह भी कहते हैं कि शृङ्गारादि दसों रस नहीं है, रस तो उनमें से केवल शृङ्गार ही भर है, और दूसरी ओर यह कहते हैं कि रतिशृंगार आदि को तो रस कहना व्यर्थ है। यदि रत्यादि प्रकर्ष रस है तो हर्षातिप्रकर्ष ने क्या अपराध किया है इत्यादि।[3] और फिर, जब भोज भरत के 'चार प्रकृत रसों से चार विकृत रसों के उत्पन्न

---

१. प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। सचेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते॥ धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च। स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगः यः कामः (कामकामः) सतुस्मृतः। यः स्त्रीपुरुषसंयोगेरतिसंयोगकारकः। स शृंगार इति ज्ञेयः उपचारकृतः शुभः॥ —ना० शा० २४।६०-६२, २२, ८६-९३

२. अतः सिद्धमेतद्—रत्यादयः शृंगारप्रभवा एवएकोनपञ्चाशद्भावाः। वीरादयोमिथ्या-रसप्रवादाः इत्यादि। शृ० प्र०, अ० १।

३. रत्यादयो यदि रसाःस्युरतिप्रकर्षे हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः। —शृ० प्र०।

होने (श्रृंगाराद्धिभवेद्धास्यः —आदि) वाले सिद्धान्त का विवेचन करने लगते हैं, तो 'श्रृङ्गाराद्धिभवेद्धास्यः' इस वाक्य में आये रति-प्रकर्ष रूप (व्यावहारिक) श्रृङ्गार को अपने अहङ्कार (पारमार्थिक) श्रृंगार के साथ एकरूप कर देते हैं, जिससे भ्रम स्पष्टतः पैदा हो जाता है। फिर वे व्यर्थ में भरत से विवाद पर उतर पड़ते हैं।[१]

इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्होंने जिस प्रकार अहङ्कार-श्रृंगार के धर्मार्थकाम-मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के अनुसार चार प्रकार किये हैं, उसी प्रकार रति-श्रृंगार या कामश्रृंगार का भी चार प्रकार कह दिया और इस प्रकार भ्रम को और भी पुष्ट कर दिया है। फिर जिन भावुक शब्दों में अहङ्कार-श्रृंगार की महिमा गाई है, प्रायः उसी प्रकार रतिश्रृंगार को भी महान् बताया है। अतः भ्रम बढ़ता ही जाता है। यद्यपि रतिश्रृंगार की प्रशंसा सभी आलङ्कारिकों ने की है, किन्तु भोज ने निःसन्देह रूप में सर्वथा कामश्रृंगार या रतिश्रृंगार की ही महत्ता बतायी है। उन्चास भावों में उन्होंने रतिभाव को ही प्रधान बताया है।[२] उन्होंने रति भाव को भावों का राजा तथा सर्वप्रकृष्ट भाव कहा है।[३] इस प्रकार श्रृ० प्र० के छत्तीस में उन्नीस अध्याय केवल रतिश्रृंगार के ही विवेचन में लगे हैं। जैसे वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म की पारमार्थिकी और व्यावहारिकी (पर और अपर ब्रह्म) दो सत्तायें होती हैं, सम्भवतः भोज ने रस की भी इसी प्रकार दो सत्तायें मानी हैं।

भोज के इस रति-श्रृंगार-सिद्धान्त का बहुत कुछ साम्य अग्निपुराण में दिखाई पड़ता है।[४] इसके अनुसार आनन्द की अभिव्यक्ति 'चैतन्य चमत्कार' अथवा 'रस' कहलाती है, और चमत्कार अथवा रस का विकार (अभिव्यक्ति) अहङ्कार कहलाता है। अहङ्कार से अभिमान की उत्पत्ति होती है,[५] और अभिमान से रति की। यह रति व्यभिचारीभाव के संयोग से श्रृंगार नाम से पुकारी जाती है।[६] और अपने-अपने स्थायिभावों से परिपुष्ट हास्य आदि इसी (रति अथवा श्रृंगार) के ही भेद हैं।[७] भरत के समान श्रृंगार, रौद्र, वीर और अद्भुतनामक चार मूल रसों को मानते हुये भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारों का मूल माना है। रति के चार रूप हैं—राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और संकोच। इनसे क्रमशः श्रृंगार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है और इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की।[८] भोज ने अहङ्कार से ही रत्यादि सभी (४९) भावों की उत्पत्ति मानी

---

१. श्रृ० प्र० वा० २, पृ० ३८०

२. तत्रापि धर्मार्थश्रृङ्गारयोः हेतुभूतत्वात् कामश्रृङ्गार एव फलभूतत्वात् प्रधानः, श्रृ० प्र०

३. समस्तभावभूर्धाभिषिक्तायाः रतेः—श्रृ० प्र० अ० ११

४. अ० पु०, अध्याय १० ।

५. अ० पु० ३३९।२, ३ ।

६. अ० पु० ३३९।४ ।

७. तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।

८. अ० पु० ३३९।६, ७ ।

थी, पर अग्निपुराणकार ने एक शृंखला और मान ली—अहङ्कार से रति की उत्पत्ति होती है, और रति से अन्य रसों की। अग्निपुराण ने अहङ्कार और अभिमान में तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर भोज ने अहङ्कार, अभिमान और शृंगार को परस्परपर्याय मानते हुए भी अहङ्कार और शृंगार में प्रकारान्तर से ही उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध स्वीकृत किया है। इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों में एक अन्तर और भी है। भोज के मत में शृंगार व्यापक अर्थ में रस का पर्याय है, पर अग्निपुराण के मत में यह रस का एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद हैं। हां, रतिभाव से सब रसों की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी, तभी प्रेमन् रूप में रस (शृंगार) की तृतीय कोटि का भी इन्हें निर्माण करना पड़ा। तात्पर्य यह है कि निरूपण-प्रकार के थोड़े बहुत अन्तर के साथ भोज और अ० पु० शृंगार को ही अन्य रसों का उत्पादक मानते हैं।

हेमचन्द्र (ई० १०८८ से ११७२ ई० के मध्य) ने शृंगार की परिभाषा में उसके स्थायी संचारी भावों, विभावों तथा भेदों का एक साथ उल्लेख किया है—"स्त्री, पुरुष तथा माल्यादि जिसके विभाव हैं, जुगुप्सा, आलस्य एवं उग्रता के अतिरिक्त जिसमें सभी व्यभिचारी भाव होते हैं, ऐसी संभोग-विप्रलम्भ-रूपा रति शृंगार कहलाती है"[१] अर्थात् समस्त विषय-ग्राम से सम्पन्न स्थिर अनुराग वाले, संप्रयोगसुखाभिलाषी प्रेमी युवक जिसमें परस्पर विभावरूप हैं, अर्थात् जो दोनों में एक रूप की है, जो प्रारम्भ से फलपर्यन्त रहती है, सुख में जिसका पर्यवसान होता है ऐसी परस्पर आस्थाबन्धरूप रति स्थायी भाव चर्वणागोचर होकर शृंगार रस कहलाती है। देवमुनि-गुरु-नृप-पुत्रादि विषयारति तो भाव-रूप ही रहती है, रसरूप नहीं।[२] इस परिभाषा में अनुभावों का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वे संभोग-विप्रलम्भ दोनों के अलग-अलग कहे जायेंगे।[३] वह संभोग-विप्रलम्भ में एकरूपा ही होती है—इसीलिए शृंगार के ये दोनों भेद गोत्व के शाबलेय और बाहुलेय की भांति ही हैं। इस प्रकार दोनों दशाओं में जो आस्थाबन्धरूप रति होती है उसके आस्वाद्यमान रूप को शृंगार कहते हैं।[४]

सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों का सर्वदा साथ रहता है। उनमें किसी एक को भी शृंगार उसी प्रकार कहते हैं जिस प्रकार ग्राम के किसी एक भाग को भी ग्राम ही कहा जाता है। वस्तुतः सम्भोग में विप्रलम्भ का भय और विप्रलम्भ में सम्भोग की आशा एवं लालसा निरन्तर बनी रहती है—इस प्रकार वे एक दूसरे को आनन्दमय बना देते हैं।

---

१. स्त्रीपुंसमाल्यादिविभावा, जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्जव्यभिचारिका रतिः संभोगविप्रलम्भात्मा शृंगारः। —का० अनु०, पृ० ८०।

२. का० अनु०, पृ० ८२।

३. अनुभावास्तु सम्भोगविप्रलम्भयोः प्रत्येकं वक्ष्यन्ते इतिइहनोक्ताः।—का० अनु०, पृ० ८३

४. का० अनु०, पृ० ८३।

अन्यथा यदि विप्रलम्भ में सम्भोग की आशा न रहे तो वह करुण ही हो जाय, उसी प्रकार यदि सम्भोग में विरह की शङ्का न रहे तो प्रिय के सदा स्वाधीन एवं अनुकूल ही रहने पर तो उसके प्रति अनादर भी होने लगे, क्योंकि मदन के स्वभाव में ही कुछ वामता (प्रतिकूलता) अवश्य रहती है, जैसा कि भरत ने कहा है—'कि चूंकि प्रेयसी में प्रतिकूल ही रहने का आग्रह होता है, चूंकि उसकी ओर से मना ही किया जाता है, और चूंकि वह दुर्लभ होती है, अतः प्रेमी का उसके प्रति उत्कृष्ट अनुराग होता है। अतएव उन दोनों दशाओं के परस्पर सम्मिलित रहने में ही सातिशय चमत्कार होता है।[1] किन्तु श्रृंगार की समस्त विभाव-सामग्री प्रबन्धकाव्यों में ही मिलती है। मुक्तकों में तो वह काल्पनिकी ही होती है।[2]

शारदातनय (ई० ११७५ से १२५० ई० के मध्य) ने प्राचीन परम्परा के अनुसार भी रसोत्पत्ति के प्रकारों का निर्देश किया है। भरत ने कैशिकीवृत्ति से श्रृंगाररस की तथा सामवेद से कैशिकीवृत्ति की उत्पत्ति बताई थी। अतः शा० त० ने एक प्रकार से श्रृंगार रस की उत्पत्ति सामवेद से कही।[3] जगत् की सृष्टि करने की इच्छा से परमात्मा ने सामवेद के मन्त्रों का स्मरण करते हुए जो अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करने की इच्छा की—उनकी विषयानुरक्त वह इच्छारूप रति ही श्रृंगार कही जाती है।[4]

भावप्रकाश के चतुर्थ एवं पञ्चम अधिकारों में शारदातनय ने श्रृंगाररस का विशेष विस्तार के साथ निरूपण किया है। सुखसाधन को भोग कहते हैं। यही भोग श्रृंगार का विशिष्ट रूप माना गया है। उपभोग तथा सम्भोग शब्द इसी भोग के पर्याय हैं। किन्तु इनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर भी है—भोग्यद्रव्य के उपभोग को भी भोग कहते हैं, और वही भोग देश-काल से समृद्ध होकर उपभोग कहलाता है, तथा कामोपचार भोग को सम्भोग कहते हैं। कामोपचार में काम का अर्थ है स्त्री-पुरुष का परस्पर सुख और उपचार कहलाता है उस सुख को देने वाला कर्म।[5] प्रमदायें सुख का आश्रय मानी गयी हैं। और चूंकि उनको आमोद देने वाला अकेला श्रृंगार ही होता है अतः उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। और उस विस्तार में उन्होंने शास्त्र एवं अनुभूति दोनों का सहारा लिया है।[6]

फिर शा० त० अपने पूर्ववर्ती आचार्य (धनञ्जय) के अनुसार श्रृंगाररस का विवेचन करते हैं—अन्योन्यानुरागी युवक-युवतियों की वही रति रमणीय देश, कला, काल, वेष, भोग

---

१. का० अनु० पृ० ८३

२. सैषा विभावादिसामग्री वस्तुतः प्रबन्ध एव प्रथते मुक्तकेषु तु काल्पनिक्येव।
—वही पृ० ८४

३. श्रृंगार उदभूत् साम्न —२।५४।

४. सामानिस्मरत स्तस्य स्वरूपव्यक्तिरात्मना। याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः॥
विषयाक्तारतिः सैव श्रृंगारइतिगीयते। भा०प्र०।

५. भा० प्र० ४।

६. वही ४।७७।

आदि के सेवन द्वारा प्रमोद रूप होकर उनकी मधुर अङ्गचेष्टाओं द्वारा प्रकृष्ट होती हुई शृंगार कहलाती है[१]।

भोज की भांति, विश्वनाथ (ई० १३०० से १३८४ के मध्य) ने भी शृंगार शब्द का व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ किया है। भोज ने शृंगार का अर्थ किया था 'जो शृंग पर अर्थात् भावों की उच्चता पर ले जाय' यह उनके सिद्धान्त के अनुसार रस का आदर्शरूप था। किन्तु विश्वनाथ ने 'शृंग' शब्द का अत्यन्त प्रचलित सींग अर्थ लेकर लोक में जैसे 'सींग निकलना' का प्रयोग लक्षणया यौवनागम तथा कामविकारागम के अर्थ में होता है, वैसे ही शृंगार का अर्थ किया शृंग अर्थात् कामभावना का आविर्भाव है हेतु जिसका—अर्थात् जो शृंग को प्राप्त करे—शृंगम् ऋच्छति। इस प्रकार 'शृंगार' शब्द में ही यौवनागम तथा तज्जन्यकाम-भाव अन्तर्निहित हैं। विश्वनाथ के इस विवेचन में एक बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ रति और शृंगार में बड़ा अन्तर है, दोनों सर्वथा भिन्न शब्द हैं। किसी मनोकूल वस्तु के प्रति मन का झुकाव 'रति' कहलाती है'[२] जो बालक, वृद्ध किसी को भी हो सकती है—उसमें काम-भावना का सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है। किन्तु वह रतिभाव तभी शृंगार कहलायेगा जब उसमें यौवन तथा कामविकार का सम्बन्ध रहेगा, जो युवक-युवती अथवा नायक-नायिका के ही बीच परस्पर सम्भव है। इस रति के भक्ति एवं वात्सल्य पहलुओं को, काम का स्पर्श न होने के कारण, शृंगार नहीं कह सकते, क्योंकि वे तो बच्चों, वृद्धों एवं आतुरों को भी होते हैं, जिनमें न सींग रहती है, न सींग का कोई चिह्न ही।

अभिनव-मम्मट के रससिद्धान्त से प्रभावित शिङ्गभूपाल ने रसा० सुधा० में (१३३० ई० के आस-पास) शृंगाररस के विभावादि सभी अंगों का विवेचन कर चुकने के बाद उस अंगीरस का उल्लेख किया है। विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों तथा व्यभिचारियों द्वारा सामाजिक की रस्यमानता को प्राप्त कर रति स्थायीभाव शृंगार कहलाता है।[३]

भानुदत्त (ई० १४५० से १५०० के मध्य) ने शृंगारविषयक अपने विचारों एवं मान्यताओं का रसमंजरी में सविस्तर तथा रसतरंगिणी में संक्षेप में प्रदर्शन किया है। उनकी शृंगार की परिभाषा है—'रति जिसका स्थायीभाव है उसे शृंगार रस कहते हैं।'[४]

कविकृष्ण शर्मा (ई० १६०० के पश्चात्) ने अपने मन्दारमरन्द-चम्पू में पहले तो रस को दो प्रकार का बताया है—अलौकिक तथा लौकिक।[५] जो केवल आत्मा और चित्त

---

१. भा० प्र० ४।८२ २. रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

३. रस सु० २।१६६ ४. रतिस्थायिभावः शृङ्गारः।—र० त० १६०

५. अलौकिको लौकिकश्चेत्येवं स द्विविधो रसः।—म० म० च० पृ० १००।

के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह तो अलौकिक है और जो बाहर की वस्तुओं के साथ चित्त के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह लौकिक है। वे ही आठ या नौ प्रकार के रस अलौकिक भी होते हैं तथा लौकिक भी।[१] फिर वे 'युवक-युवती के परस्पर पूर्ण प्रमोद को शुचि या शृंगार रस कहते हैं।[२]

शृ० म०-कार बड़े साहब अकबर खां (१६५० के आस पास) ने शृ० र० का अधिक विस्तार से निरूपण किया है "रति को अनुराग कहते हैं, वही जिसका स्थायी भाव होता है उसे शृङ्गार कहते हैं। यह अनुराग स्त्री में पुरुष का होता है और पुरुष में स्त्री का होता है। नायिका और नायक रूप आलम्बन विभाव इसके कारण रूप हैं। वसन्त, मलयानिल, स्रक्, चन्दन आदि उद्दीपन विभाव हैं—और ये दो प्रकार के कारण इसकी अभिव्यक्ति एवं अभिवृद्धि के के हेतु हैं। कटाक्ष, भ्रूक्षेप आदि इसके अनुभाव हैं। लज्जा स्मितादि व्यभिचारी भाव हैं। इन पूर्वोक्त सामग्रियों के साथ रतिस्थायिभाव, जो उस समय विगलितवेद्यान्तर रूप में हैं, रस दशा को प्राप्त होता है। उसके सम्भोग तथा विप्रलम्भ दो नाम होते हैं, जो सुख एवं उत्कण्ठा रूप हैं।"

रसार्णवसुधाकर (अथवा रसमंजरी) के मतानुसार ही शृ०म०-कार रस के दो स्वरूप की मीमांसा करते हैं—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक रस वह है जो नायक-नायिका को लोकजीवन में अनुभूत हुआ होगा, तथा अलौकिक वह है जो काव्य और नाटक में सामाजिकों में प्रकाशित होता है, अथवा अनुभूत होता है। नायक-नायिका को परस्पर संभाषण आदि बाह्यआभ्यन्तर संभोगों द्वारा परवश कर देने वाला सुख लोकजीवन में अनुभूत होता है—अतः लौकिक रस नायक-नायिका निष्ठ ही माना जायगा। काव्य की वचनरचना को सुनकर, अथवा नाट्य-अभिनय को देखकर, नायिका और नायक के कटाक्षभुजाक्षेपादि तथा लज्जास्मितादि का सामाजिकों को अनुभव होता है, उससे उनमें आनन्द अभिव्यक्त होता है—और इस प्रकार वह आनन्द लोकजीवन से पृथक् अलौकिक एवं सामाजिक-निष्ठ माना जायगा।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शृ० म०-कार इस मत से पूर्ण सहमत नहीं हैं, क्योंकि वे इसके समक्ष प्राचीन आचार्यों के मत भी अव्यवहित रूप में रखते हैं, जो स्पष्टतः उनका उत्तरपक्ष या सिद्धान्तपक्ष प्रतीत होता है। प्राचीनों ने रस को केवल अलौकिक आनन्दरूप तथा केवल सामाजिकनिष्ठ माना है।[३]

---

१. म० म० च०—पृ० १००

२. यूनो परस्परं पूर्णः प्रमोदः शुचिरुच्यते।

३. शृ० म०।

स्थायीभावरूप अनुरागके विषय में शृ० म० का मत है कि अनुराग जिसके प्रति होता है उसके वियोग में वेदना उत्पन्न करता है और उसके संगम की अभिलाषा के समय अन्य अभिलाषाएँ नहीं होतीं। ऐसे अनुराग के उत्पन्न होने में दैवयोग ही कारण होता है, सौन्दर्यादिगुण नहीं।[1] सुन्दर पुरुष भी सौन्दर्यरहित स्त्री में, गुणवान् पुरुष भी गुणरहित स्त्री में अनुरक्त होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रियां भी रूप गुण की परवाह न कर किसी से अनुराग करती हैं। अतः अनुभव के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि किसी न किसी के प्रति अनुराग का कारण देवयोग ही होता है।[2] इस प्रकार शृ० म० का सारा विवेचन व्याख्या रूप ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ (लगभग १६०० से १६६० के मध्य) ने शृंगार रस पर साधारण, संक्षिप्त एवं औपचारिक-सा विचार किया है। 'रतिस्थायिभावात्मक शृंगार रस है।' स्त्री-पुरुष इसके आलम्बन, चन्द्रिकावसन्त, विविधोपवन, एकान्तस्थान आदि उद्दीपन, प्रिय का मुखावलोकन, गुणश्रवण, गुणकीर्तन एवं अन्य सात्त्विकभाव अनुभाव तथा स्मृतिचिन्तादि व्यभिचारी होते हैं।

रामानन्द ठक्कुर (ई० १७ वीं शताब्दी) ने अपनी रसतरङ्गिणी में शृंगार को रसों में मुख्य कहा है—(रसेषु मुख्यः शृंगारः—र० त० १।४) अतः उसका ही विवेचन किया। कवि विद्याराम (१६४६ ई०) में अपनी 'रसदीर्घिका में' नवरसों में शृंगार को उसी प्रकार प्रधान बताया है जैसे देवों में भगवान् श्रीकृष्ण।[3] उन्होंने युवक और युवती के परस्पर प्रगाढ़ स्नेह को रति कहा है और अन्य किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो रति या स्नेह होता है उसे भाव कहा हैं।[4] तो वही रति भाव जब सम्पूर्ण रूप से उद्रिक्त होता है तो शृंगार रस कहलाता है अथवा युवक युवती के परस्पर योग से जो आनन्दानुभूति होती है उसे शृंगार कहते हैं।[5]

---

१. एवंविधानुरागोदेयेदैवयोग एव कारणम्, न सौन्दर्यादिगुणाः। —शृ० म०

२. तथाहि सुन्दरस्सौन्दर्यरहितायां, गुणवान् गुणरहितायामनुरक्तः, एवमेवस्त्रियः, एवमनुभवसिद्धत्वेन अनुभवसिद्धस्य अपलपितुमशक्यत्वादितिन्यायेन अनुरागं प्रतिदेव-योग एव कारणम्—शृ० म०

३. शृंगारस्तेषु मुख्यो स्ति यथा देवेषु केशवः। —रा० दी० १।१३

४. यूनोरन्योन्यसंस्नेहः प्रगाढो रतिरुच्यते।
इतरेषु रतिर्यास्यात् सा भाव इतिकथ्यते॥ —र० दी० २।२

५. रतिभावश्च सम्पूर्णः शृंगारः परिकीर्तितः।
आनन्दानुभवो वा यो यूनो योगे परस्परम्॥ —र० दी०, २।४

विश्वेश्वर भट्ट (ई० १७ वीं शताब्दी) ने अपनी रसचन्द्रिका में रस श्रृंगार की परिभाषा रसगङ्गाधर के अनुसार की है। स्त्री-पुरुष जिसके परस्पर आलम्बन हों ऐसे प्रेमनामक चित्तवृत्ति-विशेष अथवा भावविशेष को रति कहते हैं—वही रति जहां स्थायी हो उसे श्रृंगार कहते हैं।[1]

उसी प्रकार सामराज दीक्षित (ई० १७०० के लगभग) ने भी श्रृंगारामृतलहरी में रति-भाव के प्रकर्ष होने पर साक्षात् रस्यमानता को श्रृंगाररस कहा है।[2]

इनमें भरत, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भोज तथा विश्वनाथ का तो श्रृंगार स्वरूप परिभाषित करने में मौलिक योगदान है और शेष अन्य आचार्य टीकाकार ही रूप हैं। इसमें भी रुद्रट के शब्दों में स्थिर की गई परिभाषा का अधिक प्रचार दिखाई पड़ता है।

---

१. रतिर्यत्रस्थायी सश्रृंगारः। रतिश्च स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनप्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेष इति रसगंगाधरः।—र० च०, पृ० ४८

२. तत्र श्रृंगारत्वं तुरतिप्रकर्षे सति रसत्वं साक्षाद्व्याप्य जातिमत्वम्।—श्रृ० अ० ल०

चतुर्थ अध्याय

शृङ्गारस्थायिभाव

रस की अभिव्यक्ति में आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव, तथा आठ सात्त्विक भाव—ये कुल मिलाकर उन्चास भाव होते हैं। स्तम्भ आदि जो आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं, उनकी गणना भावों में तभी होती, जब वे मनोवृत्ति-रूप निरूपित किये जाते हैं, किन्तु जब शरीर-चेष्टारूप कहे जाते हैं, उस समय तो वे अनुभाव में ही अन्तर्भूत होते हैं—जैसे स्तम्भ जब मन का (मनः स्तम्भरूप) रहेगा तो बाह्य अनुभावों द्वारा अभिव्यंजनीय होकर आस्वादनीय बनेगा और भाव कहलायेगा। किन्तु जब शरीर का स्तम्भ (वपुः स्तम्भरूप) होगा तो स्वयं बाह्य चेष्टारूप होने के कारण अनुभाव-मात्र कहा जायगा। अतएव अभिनव ने एक स्थान पर तो 'तस्मात् स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका एव भावाः' कहा और एक दूसरे स्थान पर फिर वे 'स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्यो लौकिकार्थो निर्वर्तते' कहते हैं, जिसमें सात्त्विक का उल्लेख नहीं करते।

इन उन्चास भावों में भरत ने केवल आठ (या नौ) स्थायि भावों को ही रस-पदवी प्राप्त करने का अधिकार या सौभाग्य दिया है—वैसे विभावानुभाव द्वारा ही व्यञ्जना उन्चासों की होती है। यह उसी प्रकार है जैसे समान अंग प्रत्यंग वाले पुरुषों में कोई ही राजा बनता है। और जैसे उस राजा के अन्य सब आश्रित हो जाते हैं, उसी प्रकार स्थायीभाव के अन्य व्यभिचारी आदि सभी भाव परिजन रूप हो जाते हैं।[1]

यद्यपि स्थायीभावों का भरत ने रसप्रसंग में एक बार साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर दिया था, किन्तु भावों का निरूपण करते हुए उन्होंने एक बार फिर से स्थायीभावों का भावों के रूप में निरूपण किया। "एक ही प्रसङ्ग में समवेत अनेक भावों में, जिसका रूप बहुत्व

---

१. यथा नरेन्द्रोबहुजनपरिवारोऽपि स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपिपुरुषः तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनामलभते। भवति चात्र श्लोकः

यथा नराणांनृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ —ना० शा० ७।८

को प्राप्त करता है, अर्थात् जो यावत् प्रसङ्ग विद्यमान रहता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं, शेष संचारीभाव कहलाते हैं।"[1]

स्थायीभावों में सर्वप्रथम गणना रति की है, वही श्रृंगाररस का स्थायी भाव है। रति एक आमोदात्मक भाव है, जो आमोद के अनुकूल ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, (भोजन) वरभवन आदि की अनुभूति से उत्पन्न होता है। नाट्य में उसके वागङ्गादि अभिनयों (अनुभावों) का भी भरत ने इस प्रकार उल्लेख किया है—स्मितवदन, मधुर वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए। श्रृंगार रस के तो दो भेद कहे गये हैं—संयोग और विप्रलम्भ, किन्तु रति के दो प्रकार नहीं होते। वह तो सदा इष्टार्थ विषय की प्राप्ति में ही उत्पन्न होती है—संयोग, विप्रलम्भ दोनों में वह एक ही रहती है। बल्कि विप्रलम्भ में संयोग से अधिक मधुर होती है। उस रति के रहने पर वाणी में, अङ्गचेष्टाओं में माधुर्य स्वतः आ जाता है अतः उसी प्रकार रति का अभिनय भी किया जाना चाहिए। रति एक सौम्य भाव है।[2]

भरत के पश्चात् रतिस्थायीभाव का सविस्तर विवेचन करने वाले आचार्य भोज हुये हैं। उन्होंने अपने श्रृंगाराद्वैतसिद्धान्त में अहंकार को रस तो कहा है, किन्तु यह नहीं बताया है कि यही स्वयं स्थायी भी है—साधारणतया यह सिद्धान्त रूप में माना जाता है कि रस एक कलात्मक सौन्दर्यानुभूति है—सामाजिक की एक अलौकिक अनुभूति दशा है और यह दशा स्थायीभाव के प्रदर्शन द्वारा, जो एक लौकिक भाव है, दर्शक या सामाजिक के चित्त में विद्यमान उसी स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रूप है। इसी कारण स्थायी भावों का अन्य नाम है और उनके रसों का अन्य। रति स्थायी श्रृंगाररस हो जाता है, हास स्थायी हास्यरस आदि। स्थायी लौकिक दशा है, रस अलौकिक, एक सिद्ध है दूसरा साध्य।[3]

किन्तु ऐसा लगता है कि भरत के ग्रन्थ में इस प्रकार का विवेचन नहीं था। भरत ने कहा है कि ये स्थायिभाव ही रस नाम वाले हैं।[4] अतः रससूत्र के व्याख्याकार लोल्लट और शंकुक को भी इनमें इस प्रकार का कोई भेद न सूझ पड़ा। दण्डी और लोल्लट आदि विभावादिकों के द्वारा संयुक्त, एवं पुष्ट स्थायी को ही, रस कहा है[5]।

---

१. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
समन्तव्यो रसः स्थायीशेषाः संचरिणोमताः। —ना० शा० ७।११९

२. इष्टार्थ-विषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः।। —वही ७।६

३. अभिनव ने शम-स्थायि-मूलक शान्तरस के विषय में कहा है—शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् सिद्धसाध्यतया, लौकिकालौकिकत्वेन, साधारणा-साधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपिसुलभमेव।।—अ० भा० ३३६।।

४. एवम् ऐते स्थायिभावाः रससंज्ञां प्रत्यवगन्तव्याः। —ना० शा० ६

५. एवं तावत् स्थायिन एव अवस्थाविशेष इत्युक्तम्। —बहुरूप मिश्र, दशरूपक टीका।

भोज ने इन्हीं लोगों का अनुसरण किया। उनके मत में लौकिक अलौकिक नाम के दो विभाग नहीं हैं। सभी भाव हैं, और वे ही रस भी हैं। भेद केवल इतना है कि भाव विभावादि के संयोग से प्रकर्ष प्राप्त कर रस बनते हैं। किन्तु अनेक अवसरों पर भोज ने तो विभावादि के संयोग का तथा प्रकर्ष प्राप्ति का कोई उल्लेख नहीं किया और उन्हें केवल रस कह दिया। अस्तु। हम इतना निष्कर्ष अपने ढंग से निकाल सकते हैं कि भोज के इस श्रृंगार रस का स्थायी अहङ्कार है जो प्रकर्ष को प्राप्त कर श्रृंगार रस अथवा प्रेम रस कहलाता है। इसी अहङ्कार को हम चाहें तो आत्मरति भी कह सकते हैं।

रतिभाव तथा 'प्रेमन्' का ऐक्य—किन्तु भोज के रतिश्रृंगार का स्थायी भाव तो रति स्पष्ट ही है। वस्तुतस्तु भोज का 'परमाकाष्ठा' या 'उत्तराकोटि' वाला श्रृंगाररस या 'प्रेमन्' जिसमें सभी भावों का समन्वय होता हैं, रतिभाव का ही तो एक रूप है। परमार्थतः बात भी सही है। भोज के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि ही भरत का 'प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते' यह सिद्धान्तवाक्य समझ पड़ता है। भोज ने अपने अहङ्कार रस को अभिमान कहा है। वह अभिमान वस्तुत; रति ही है। अभिमानसुख आभिमानिकी रति ही तो है। काम की उत्पत्ति अभिमान या सकल्प से ही है। काम को मनसिज कहा गया है, और मनस् स्वयं संकल्पात्मक माना गया है। संकल्प ही काम का मूल है, चाहे वह काम धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष किसी विषय का हो। और काम ही सब के अन्तस् में श्वासनलिका की भांति जीवनदायक है। इस प्रकार काम का यह दार्शनिक स्वरूप भोज के श्रृंगार, अभिमान या अहङ्कार का पर्याय माना जायगा। भरत का 'प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते' वाला सिद्धान्त भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। भोज के बहुत पूर्व भरत मुनि ने प्रतिपादित कर दिया था कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी काम के ही विभिन्न स्वरूप हैं।[1] अतएव भोज ने कहा कि यह अहङ्कारश्रृंगार आत्मयोनिकाम का जीवित है, जिसे उन्होंने रति-प्रकर्ष श्रृंगार माना है।[2] इस प्रकार भोज का अहङ्कार-श्रृंगार वस्तुतः साधारण श्रृंगार या काम का ही परिष्कृत तत्त्व है। अतः साधारण श्रृंगार और यह अहङ्कार-श्रृंगार दोनों नितान्त पृथक् नहीं कहे जा सकते। तथापि भोज ने अहङ्कारश्रृंगारनामक अद्वैतरस की सत्ता सिद्ध की है, तथा उसके प्रतिपादन में अपनी पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है, और श्रृंगारप्रकाश का प्रायः दो तिहाई भाग केवल रतिश्रृंगार के

---

१. धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगः यः कामः (कामकाम) : सतुस्मृतः॥ —ना० शा०॥ श्रुति ने तो इसके भी पूर्व कहा था—"कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्", और "आत्मनस्तुकामायसर्वं प्रियं भवति" —बृ० उप०

२. अहङ्कारगुणविशेषस्यधर्मार्थफलभूततृतीयपुरुषार्थजीवितस्य श्रृंगारस्य अभिमानापरनाम्नः आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य, श्रृंगारमाहुरिहजीवितमात्मयोनेः॥

विवेचन में लगा है। यद्यपि भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में नाट्याङ्गों के विषय में सभी सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रतिश्रृंगार को ही केन्द्रबिन्दु माना है, तथा अन्य आचार्यों ने भी शृंगार को इसी प्रकार विशेष महत्त्व दिया है, किन्तु भोज ने तो 'रत्यादिभूमनिपुर्नवितथारसौक्ति' कह कर रतिशृंगार को रस ही न मानकर अपने अहङ्कार-रस की स्थापना का बीड़ा उठाया था, पर उसे कुछ यों ही तेरहवें अध्याय में ही निपटा कर शेष सारा ग्रन्थ रतिश्रृंगार के ही विवेचन में लगा दिया।

शृ० प्र० के तेरहवें से छत्तीसवें प्रकाश तक का भाग 'रति' का क्रीड़ा-क्षेत्र है। ऐसा भी सम्भव है कि निदर्शन या दिग्दर्शनमात्र के लिए ही भोज ने 'रतिश्रृंगार' को लिया हो। इसी प्रकार अन्यों का भी विवेचन हो सकता है। उनके अनुसार सभी का आनन्द अहङ्कार रस ही तो कहलायेगा। जैसा कि पहले संकेत किया गया है कि वेदान्तियों के ब्रह्म की दो प्रकार की कल्पित सत्ता की भांति भोज के शृंगार की भी दो सत्ता समझ पड़ती है—पारमार्थिकी अहङ्कारशृंगाररूपा तथा व्यावहारिकी रतिशृंगाररूपा।

भोज का रतिभाव तथा उसके भेदोपभेद—भोज ने रति-शृंगार के दो प्रकार सम्भोग और विप्रलम्भ बताये हैं। फिर आठ प्रकार की रति बताई है—नैसर्गिकी, सांसर्गिकी आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, साम्प्रयोगिकी और आभिमानिकी। ये सरस्वतीकण्ठाभरण में भी कही गई हैं। शृंगारप्रकाश में इनमें प्रत्येक की पांच क्रमिक अवस्थाओं का विवेचन है—जन्म, अनुबन्ध, प्रवृद्धि, संवृत्ति और अनुवृत्ति। स० क० में भोज ने इन पांच अवस्थाओं का इसी क्रम और नाम से उल्लेख नहीं किया है। वहां चौबीस रसान्वय विभूतियों को गिनाते समय उन्चासों भावों की दस अवस्थाएँ बताई हैं।[1] भोज ने रति को 'प्रीति' भी कहा है—'मनोनुकूलविषयो में सुखसंवेदना का नाम रति और, सम्प्रयोग पक्ष छोड़ कर, वही प्रीति भी कहलाती है।[2]' वात्स्यायन ने भी रति के पर्यायवाचियों में प्रीति का उल्लेख किया है।[3] भोज ने स० क० में रति को नैसर्गिकी आदि आठ प्रकार की बताकर, प्रीति को भी उतने ही प्रकारवाली बताया है। उसका साम्प्रयोगिकी (जैसे चुम्बन, सुरत आदि) रूप न होकर आभ्यासिकी रूप होता है—इतना ही दोनों प्रकारों में अन्तर है[4]—कामसूत्र में भी प्रीति के प्रकार किये गये हैं, किन्तु चार

---

१. त एते भावादयोदशापि रसप्रकारा हासादिष्वपि प्रायो दृश्यन्ते।
ग्रन्थगौरवभयात्क्वचित्क्वचिदुदाह्रियन्ते॥—स० क०, पृ० ५७७

२. मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः।
असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते॥ —स० क०, ५।१३८

३. रसो रतिः प्रीति र्भावो रागो वेगः समाप्तिरितिरतिपर्यायाः। —का० सू० २।१।६२

४. स० क० ५।१६५, ६

ही—अभ्यास, अभिमान, संप्रत्यय और विषय के अनुसार।[1] यदि भोज के आठ प्रकारों की मीमांसा की जाय तो वे वात्स्यायन के चार में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं।

आभ्यासिकी प्रीति का लक्षण तो उन्होंने वात्स्यायन की कारिका को उद्धृत करके किया है, अर्थात् जो शब्दादि विषयों से अतिरिक्त किसी कर्म में अभ्यास के कारण उत्पन्न होती है जैसे मृगयादि में[2]। फिर 'नैसर्गिकी रति के लिए 'कुमारसम्भव' का इयं महेन्द्र-प्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी··इत्यादि उदाहरण देकर अन्त में भोज कहते हैं कि यह नैसर्गिकी रति जन्मान्तर की वासना के कारण स्वभावत: ही किसी (नायिका या नायक) के प्रति हो जाती है।[3] और जो 'रति' किसी के प्रति इस कारण होती है कि वह उसकी किसी आत्मीय वस्तु से सम्बन्धित है उसे सांसर्गिकी रति कहते हैं। जैसे—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्तेगुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वस्पृष्टं यदिकिलभवेदङ्गमेमिस्तवेति। — (उ० मे०)

यहाँ यद्यपि वायु के शैत्य, सौरभ आदि गुण विरहियों के लिए उद्वेगकारक होते हैं (अतः यक्ष को उनसे उद्विग्न एवं क्लेशित होना चाहिये) किन्तु यह समझ कर कि ये हैमवत पवन प्रियतमा का अंगस्पर्श करके आ रहे हैं, यक्ष उनका प्रेम से आलिङ्गन करता है।

औपमानिकी रति वह है, जो रति के वास्तविक विषय (नायिका या नायक) के सदृश या उपमानभूतवस्तु में होती है, जैसे—

अपिजनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति।
न तु पुनरिव तन्मेगोचरीभूतमक्ष्णो रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः॥

यहां राम की सीता के प्रति होने वाली रति सीता के उपमानों को देखने से उनके प्रति भी होकर राम को आनन्दित करती है।[4] किन्तु वह रति, जो किसी के प्रति आत्मसंस्कार रूप में हो जाती है—शरीर तथा मन से दूर, आत्मा में अधिष्ठित हो जाती है—आध्यात्मिकी रति कहलाती है, जैसे—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामिनपरिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानंप्रत्याययतीव में चेतः॥

इसमें दुर्वासा के शाप से विवाहादिवृत्तान्त को भूल जाने वाले दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति आध्यात्मक बन गई है।[5]

---

१. अभ्यासादभिमानाच्च तथा संप्रत्ययादपि।
विषयेभ्यश्चतन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम्॥ —का० सू० २।१।१

२. स० क०, पृ० ६०४

३. अत्र जन्मान्तरवासनया निसर्गत एव भवति।

४. सेयं सीताविषयिणी रतिस्तदुपमानदर्शनेन रामं रमयति। — स० क०, पृ० ६००

५. अत्र सेयंदुर्वाससः शापाद्विस्मृतविवाहादिवृत्तान्तस्य दुष्यन्तस्यशकुन्तलायां रतिरध्यात्मंभवति। —स० क०

जब किसी के स्नेह से अभियुक्त होने पर उसके प्रति भी रति अधिक बढ़ती है तो उसे आभियोगिकी 'रति' कहते हैं। जैसे—

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै
रधिकविकसदन्तैर्विस्मयस्मेरतारैः ।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च ।।

यहां मालती के अनुरागातिशय कटाक्ष के अभियोग में माधव की अत्यधिक रति उत्पन्न हो रही है।[1] फिर सुरतव्यापार के प्रयोग से जो रति-उत्पत्ति कही जाती है, उसे साम्प्रयोगिकी कहते हैं। जैसे—उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्या ।

हुं हुं मुञ्चममेति च मन्दं जल्पितं जयति मानधनायाः ।।

यहां मानवती द्वारा 'हुं हुं' 'मुञ्च' तथा 'ममेति' शब्दों के धीरे-धीरे प्रयोग करने के कारण (लगता है मानो मान चला गया, अतः) उसके प्रति रति उत्पन्न होती है।[2]

यदि कोई (नायक या नायिका रूप) वस्तु किसी को प्रिय लगती है अथवा साधारणतया कष्टकर होती हुई भी उसको रुचिकर लगती है, तो उस (नायिका या नायक रूप) वस्तु में उस व्यक्ति की रुचि आभिमानिकी रति कही जायगी, जैसे—

इयं गेहे लक्ष्मी रियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणोमौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ।।

यहां राम की विशिष्ट प्रकार की रुचि ही अभिमान है, जिससे यह वर्णित प्रकार की रति व्यक्त हो रही है।[3] और, वैषयिकी रति वह है जो (प्रेयसी या प्रिय की किसी वस्तु के प्रति) इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—इन पांच विषयों के रूप में होती है। उनमें शब्द-विषयक, जैसे—विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोष्कन्दली-

परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्बन्धुराः ।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरःस्थल-
त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनीगीतयः[4] ।।

---

१. सेयमनुरागातिशयसूचकमालतीकटाक्षाभियोगे माधवस्य रति रतीवोत्पद्यते ।
—स० क०, पृ० ६०१

२. अत्त तर्जनार्थ-मोक्षार्थ-वारणार्थानां मन्दं मन्दं प्रयोगान् मानवत्याः सम्प्रयोगे रत्युत्पत्तिः प्रतीयते । —वही

३. अत्र रुचिविशेषोऽभिमानस्तत एवं प्राया रतयोभवन्ति । —वही । ४. वही ।

स्पर्शविषयक, जैसे—बध्नन्नङ्गेषुरोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम्
नेत्रे निमीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥[१]

रूप-विषयक, जैसे—ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्योनार्योन जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिवप्रविष्टा[२] ॥

रस-विषयक, जैसे—कस्य नो कुरुते मुग्धेपिपासाकुलितं मनः ।
अयं ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः ॥[३]

गन्ध-विषयक, जैसे—रंधणकम्मणिउणिए माजूरसुरत्तपाउलसुअन्धम् ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥[४]

प्रीति-विषय—'रति' के पूर्वोक्त प्रकारों के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब प्रकार की रतियों का विषय भोज के अनुसार नायिका या नायक ही होते हैं । उन्हीं के परस्पर स्नेह को आठ प्रकार का उदाहृत किया गया है । 'प्रीति के पात्र नायिका-नायक के अतिरिक्त अन्य पिता, भाई, पुत्रादिक होते हैं । अन्य मम्मट आदि आचार्यों ने इसे 'भाव' कहा है ।[५] बाद वाले कुछ आचार्यों ने तो इसे वात्सल्य आदि रस नाम दिया है ।[६] वात्स्यायन ने तो रति प्रीति को एक ही वस्तु माना है । अस्तु

नैसर्गिकी प्रीति स्वभाव से किसी के प्रति जन्मान्तर-वासना-रूप होती है, जैसे—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासान्
अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥

यहां (दुष्यन्त की भरत के प्रति) रति पुत्रस्नेह रूप से उत्पन्न होती है, जो जन्मान्तरवासना रूप से स्वभावतः या निसर्गतः कही जायगी ।[७] इसी प्रकार किसी (स्वजन आदि) के संसर्ग से जो किसी के प्रति प्रीति होती है उसे सांसर्गिकी प्रीति कहते हैं, जैसे—

'विश्वंभरा भगवतीभवतीमसूत
राजाप्रजापतिसमो जनकः पिता ते ।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां
येषां कुले च सविता च गुरुर्वयं च ॥

१. स० क०, पृ० ६०३ २. वही, पृ० ६०२ ३. वही, पृ० ६०२

४. रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति । —इति च्छाया

५. रति र्देवादिविषया इत्यादि—का० प्र०

६. साहित्यदर्पण—३।२५१

७. अत्र यदा यदा रतिर्जायते तदा तदा पुत्रेषु स्निह्यति पुत्ररूपेण वा जायत इति जन्मान्तर वासनारूपो निसर्गः संगच्छते । —स० क०, पृ० ६०३

यहां वसिष्ठ आदि गुरुजनों का सीता के प्रति स्नेह इसलिए कहा गया है, कि सीता का विश्वंभरा आदि से संसर्ग है।[१]

औपमानिकी प्रीति भी अपने किसी प्रिय के साथ औपम्य के कारण होती है। जैसे— कुवलय-दलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
बटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियैव सभाजयन्।
पुनरिव शिशूर्भूत्वा वत्सः समे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्।

यहां लव में जनक की प्रीति राम के साथ औपम्य (सादृश्य) के कारणहै।[२] आध्यात्मिकी प्रीति भी रति की भांति आत्म-संस्कार रूप से व्यक्त होती हैं, जैसे—

'परितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः।।'

यहा बिना पहिचाने हुए भी इन्द्र दृष्टिगोचर होकर अपने पुत्र अर्जुन को प्रसन्न करते हैं।[३] आभियोगिकी प्रीति उसे कहते हैं जो प्रीतिपात्र के किसी अभियोग (कार्य, व्यवसाय) के के कारण उसके प्रति उत्पन्न होती है, जैसे—

अज्ञात (दुर्जात) बन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतोववन्दे।।

यहां सीतान्वेषणादि अभियोग के कारण सुग्रीव, विभीषण के प्रति राम की प्रीति उदित होती है।[४]

साम्प्रयोगिकी रति के स्थान पर भोज ने आभ्यासिकी प्रीति का उल्लेख किया है जो किसी चीज के प्रति अभ्यास के कारण 'लत' आदत या हैबिट (Habit) के रूप में बन जाती है। इसका लक्षण भोज ने वही दिया है, जो वात्स्यायन को अभीष्ट है।[५] जैसे—

इतिविस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबद्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी।।

---

१. अत्र विश्वंभरादिसंसर्गात् सीतायां वसिष्ठमिश्राः स्निह्यन्ति। —स० क०, पृ० ६०३

२. अत्र रामौपम्याल्लवेजनकः प्रीयते—वही, पृ० ६०३

३. अत्राविज्ञातोऽपिवासवः स्वसूनुमर्जुनं दृष्टः प्रीणयति। वही, पृ० ६०४

४, अत्र सीतान्वेषणादेरभियोगाद्रामस्य सुग्रीवविभीषणयोः प्रीतिरुदेति।
—वही, पृ० ६०४

५. शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा। प्रीतिः साभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु इति लक्षणं घटते। —वही, पृ० ६०४

यहां दशरथ को मृगया में अभ्यासवश प्रीति है। आभिमानिकी प्रीति को संकल्पात्मिका या मानसी प्रीति भी कह सकते हैं, जो ऐसे कर्मों के प्रति होती है, जिनकी न तो 'लत' पड़ी है तथा जो न इन्द्रियों के विषय रूप हैं।[1] जैसे—

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादामनो
दृप्तानां दहनायदीपित-निजक्षात्रप्रतापाग्निभिः।
आदित्यैर्यदिविग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो
दीप्तास्त्र-स्फुरदुग्रदीधितिशिखा-नीराजितज्यंधनुः॥

यहां अभिमत शत्रु पाकर लव के पीछे जाने वाले कुश सन्तुष्ट होते हैं।[2] और, इसी प्रकार वैषयिकी 'प्रीति' वह है जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की वस्तुओं के प्रति होती है। किन्तु उनमें नायक-नायिका रूप आलम्बनत्व नहीं होता। इनमें शब्द के प्रति, जैसे—

लावण्यैः क्षणदाविराममधुरा किञ्चिद्विनिद्रालस
श्रोत्रैः सव्रणमुग्धचारणवधूदन्तच्छदावासिनः।
पीयन्ते मृदुवक्त्रपीतमरुतः पौराणरीतिक्रम
व्यालोलांगुलिरुद्धशुक्तिसुषिरश्रेणीरवा वेणवः[3]॥

स्पर्श के प्रति, जैसे—प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपंकजः।
ददौभुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरो बिलः[4]॥

रूप के प्रति, जैसे—अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानु
मंदमुखरमयूरीमुक्तसंसक्तकेकः।
शकुनिशबलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मकापर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः॥[5]

रस के प्रति, जैसे—कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्नस्त्रुतक्षीरतयाप्रसूतः सानूनिगन्धः सुरभीकरोति[6]॥

शृंगारप्रकाश के तेरहवें अध्याय के अन्त में भोज ने रतिभाव को कामरूपीकल्पवृक्ष का अंकुर तथा सौहृद-अंकुर का कन्द कहा है। और कहा है कि रति भाव सभी भावों से प्रकृष्ट होता है। अतएव समग्र कवि-वर्ग इसी की ओर दौड़ता है।[7]—

---

१. अनभ्यस्तेष्वपि पुराकर्मस्वतिशयात्मिका।
संकल्पाज्जायतेप्रीतिर्यासास्यादाभिमानिकी॥ —का० सू० १।३

२. अत्राभिमतप्रतिद्वन्द्विलाभाल्लवानुपदी कुशस्तुष्यति। —स० क०, पृ० ६०५

३. वही, पृ० ६०५ ४. वही, पृ० ६०५ ५. वही, पृ० ६०५

६. वही, पृ० ६०५

७. सैष भावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमांकुरः।
सौहृदांकुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपिऽदर्शितः।
भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्य रतिभावः प्रकृष्यते।
कविवर्गः समग्रोऽपि तमेनमनुधावति॥

शारदातनयने भावप्रकाशनमें रतिस्थायी भाव का लक्षण एवं स्वरूप आदि बहुत कुछ भोज के अनुसार किया है। मनोनुकूल विषयोंमें सुखसंवेदनरूप इच्छाको रति कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—रति तथा प्रीति। फिर निसर्ग, संसर्ग, उपमा, अभियोग, अध्यात्म, अभिमान तथा विषय-सम्बन्ध से रतिके सात प्रकार होते हैं और ऐसी रति को साम्प्रयोगिकी कहते हैं। उसी प्रकार पूर्वोक्त सात सम्बन्ध से प्रीति भी सात प्रकार की होती है, जो आभ्यासिकी कहलाती है। प्रीति प्रियता (क्रियात्व) रूप होती है और रति इच्छा रूप ही। रति सत्त्व में स्थित होती है और वही जब विभावादि से उपबृंहित हो रजोगुण से अनुगृहीत या अनुबद्ध होती है तो स्वाद्वी भासित होती है।[1] रतिनामक स्थायी भाव अपने विभावादि से वर्द्धित होकर शृङ्गाररस कहलाता है।[2] शारदातनय का कहना है कि विभिन्न आचार्यों ने रति का स्वरूप इस प्रकार का निर्धारित किया है—किन्हीं के अनुसार परस्पर अनुराग भरे युवक एवं युवती की जो परस्पर स्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मक अनुभूति है उसी को रति कहते हैं।[3] जिनको सभी ऐश्वर्यसुख सम्पन्न है, जो सभी सद्गुणों से युक्त हैं, जिनको नवयौवन है, जो उत्तम प्रकृति के हैं, जिनका श्लाघ्यसौन्दर्य है ऐसे स्त्री-पुरुष की परस्पर-विभाव वाली स्पृहानामक चित्तवृत्ति रति कही जाती है।

कुछ अन्यों के अनुसार युवकप्रेमियों की परस्पर प्रार्थनारूप परस्पर आह्लाद एवं एकान्त में विस्रम्भ (विश्वास) उत्पन्न करने वाली इच्छा को रति कहते हैं[4]। कोई सुखात्मक मनोवृत्ति को भी रति कहते हैं।[5] और कोई स्त्री-पुरुष की एकान्त में परस्पर आलाप, लीला, उपचार, चेष्टा तथा दृष्टि-विलोकन द्वारा जो अन्योन्य के प्रति भोग्यबुद्धि होती है उसे रति कहते हैं।[6] रति 'प्रेम' के कारण अंकुरित होती है, 'मान' से पल्लवित होती है, 'प्रणय' से कोरकित होती है, 'स्नेह' से पुष्पित, 'राग' से फलवती तथा 'अनुराग' से इसका भोग किया जाता है।[4] फिर शारदातनय ने 'प्रेम' से 'अनुराग' तक सभी शब्दों के लक्षण एवं स्वरूप बताये हैं। प्रेम शब्द की निरुक्ति करने पर उसमें तीन अंश मिलते हैं—प्र+इ+म। इ का अर्थ है मदन। जहां मदन प्रकर्ष के साथ समाया हो उसे प्रेम कहते हैं, और उसका अधिष्ठान है युवक-युवती की परस्पर रतिभावना[6], जो भावबन्धन प्रेमियों के परस्पर आश्रय से सघन निरूढ (दृढ़) हुआ हो, तथा जो उनमें एक के भी अपाय (विनाश) से अपायशील हो जाय उसे प्रेम कहते हैं[7]। भावबन्धन प्रेमियों का वह भावमय सम्बन्ध है जिसमें किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं रहता।[8]

---

१. भा० प्र० २।३४

२. स्थायीरत्याह्वयोभावः स्वविभावादिवर्धितः शृंगाररसनामा स्यात्। वही ४।७७-७८

३. वही ४।७८

४. वही ४।७८

५. सुखात्मिकामनोवृत्तीरतिरित्यमिधीयते। —वही ४।७८

६. वही ४।७८ ७. वही ४।७८ ८. वही ४।७८

मान का स्वरूप—प्रिय के मनोरथ का रोधन (रोकना) मान कहलाता है, जिसमें 'मा' और 'न' ये दोनों वीप्सा द्वारा रोध अर्थ द्योतित करते हैं।[1] स्त्री-पुरुष के इस मान के दो प्रकार हैं—ईर्ष्या-रूप तथा प्रणयरूप।[2] इनमें (प्रिय द्वारा) सपत्नी के दर्शन, स्पर्श तथा श्रवण के प्रति जो स्त्रियों की स्थिर असंहनीयता होती है उसे तो ईर्ष्या कहते हैं और इस ईर्ष्या के कारण जो रोध (रुकावट) होता है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं। मान का रूप बड़ा प्रिय होता है। नायक-नायिका का बाह्य एवं आभ्यन्तर उपचारों द्वारा मान के प्रकर्ष से उत्पन्न, रोष के आस्वाद (अनुमति) से कषायित (थोड़ा कलुषित अथवा सुगन्धित), प्रकर्ष को पहुंचाया हुआ प्रेम ही प्रणय कहलाता है[3], और वही प्रणयमान है।[4] इस प्रणयमान की विशेषता है कि यह नायक-नायिका दोनों का वर्णित किया जाता है। जब कि ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों का ही वर्णन किया जाता है।[5] क्योंकि यदि पुरुष का ईर्ष्यामान कहा जाय तो काव्य में ही विरसता आ जाय—'क्योंकि पुरुष को तो समाज बहुदार रूप में सह सकता है, किन्तु स्त्री को बहुपतिका रूप में केवल वेश्या ही को मान सकता है, अन्य को नहीं। अब यदि उधर ईर्ष्या हो गई तो रति तो काफूर हो जायगी, उसके स्थान पर क्रोध ही का प्रदर्शन स्थायी बन जायेगा।[6] प्रेम का स्वभाव (भोज की भांति) शारदातनय ने भी कुटिल कहा है, और फिर मान से युक्त होकर तो वह कितना कुटिल हो सकता है।[7] मान का जो द्रवार्द्रतारूप विषयों में ममतारूप निर्भय एवं निश्शङ्क भाव होता है उसे स्नेह कहते हैं।[8] मन का द्रवत्व भी दो प्रकार होता है—दर्शन से जैसे—चन्द्रमा के दर्शन से चन्द्रकान्त-मणि का। स्पर्शन से, जैसे अग्नि के स्पर्श से लाख का।[9] और आर्द्रता कहते हैं सभी अस्थाओं में मन की शीतलता को।[10] यह स्नेह भी दो प्रकार का माना गया है—कृत्रिम तथा अकृत्रिम। सोपाधि स्नेह कृत्रिम एवं निरुपाधि अकृत्रिम होता है।[11] उपाधि के हट जाने पर वह कृत्रिम स्नेह तो हट जाता है, किन्तु अकृत्रिम या स्वाभाविक स्नेह, जब तक द्रव्य (स्नेह का आश्रय अथवा दोनों पक्ष) रहता है, जब तक स्थायी रहता है। कृत्रिम स्नेह में विकार को पकड़ने की शंका बनी रहती है और स्वाभाविक में किसी विषय-विशेष

---

१. मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्युच्यतेबुधैः ॥ —भा० प्र० ४।७६
२. ईर्ष्याप्रणयभेदेन मानः स्त्रीपुंसयोर्द्विधा। —वही ४।७६
३. वही ४।७६
४. प्रेमनीतं प्रकर्षं चेत् स एव प्रणयःस्मृतः। —वही ४।७६
५. अयं प्रणयमानस्तु वर्णनीयोद्वयोरपि।
ईर्ष्यामानस्तुकविभिर्योषितामेव वर्ण्यते। —वही ४।७६
६. स पुंसां यदि वर्ण्येतवैरस्यायैव कल्पते। —वही ४।७६
७. स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमुमानान्वयेसति। —वही ४।७६
८. वही ४।८० ९. वही ४।८०
१०. आर्द्रताशिशिरत्वं यत्सर्वावस्थासु मानसम्। —वही ४।८०
११. वही ४।८०

के प्रति प्रमाद का भय रहता है।[१] इस प्रकार का यह स्नेह कहीं एकाश्रय होता है और कहीं उभयाश्रय। तिर्यक् (पशु-पक्षियों) में एकाश्रय रहता है, जो वासना मूलक (Instinctive) होता है। अतएव उसे कुछ आचार्यों ने रसाभास ही कहा है। मनुष्यों में जैसे रावण का सीता के प्रति भी इस रूप का स्नेह रसाभास ही कहा जाता है।

और ऐसा स्नेह तीन प्रकार का होता है—प्रौढ़, मध्य तथा मन्द।[२] प्रिय के विदेश स्थित होने पर अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर अथवा दुर्बल हो जाने पर जो प्रेमाश्रय को क्लेश देने वाला स्नेह होता है वह प्रौढ़स्नेह कहलाता है[३] जो स्नेह प्रिय के वियोगज दुःखों को सह कर भी बना रहे वह मध्य स्नेह कहलाता है।[४] प्रिय के व्यसन या आपत्ति के पूर्व तक ही जो स्नेह होता है वह मन्द स्नेह कहलाता है।[५] इस स्नेह के एक अन्य रूप (आश्रय की दृष्टि) से भी तीन प्रकार बताये गये हैं। स्थिर, गत्वर तथा नश्वर—जैसे 'आरम्भगुर्वी क्षयिणीक्रमेण लघ्वीपुरा वृद्धिमती च पश्चात्'। इत्यादि। जो क्रम से उत्तम, मध्यम तथा नीच पुरुषों में कार्यविशेष के कारण होते हैं।[६] उत्तम पुरुष में स्नेह बढ़ता ही रहता है प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करता, न उपकार के कारण उत्पन्न हुआ है और अतएव वह स्थिर स्नेह कहलाता है।[७] जो स्नेह बहुत उपकार करने पर उत्पन्न हुआ, प्रत्युपकार की अपेक्षा करता है, तथा कुछ ही बढ़ता है, मध्यम पुरुषों में पाया जाने वाला वह स्नेह गत्वर कहलाता है।[८] और जो स्नेह दोष-श्रवणमात्र से सौमनस्य (अनुकूल्य) छोड़ कर प्रतिकूल हो जाय, वह नीच पुरुषों का स्नेह नश्वर कहलाता है।[९] प्रायः यह देखा जाता है कि नीच आदि का स्नेह अस्थिर होता ही है तथा उत्तम का स्नेह स्थिर ही होता है।[१०]

वही स्नेह यदि गुण, द्रव्य, देश, काल आदि के कारण हृदय में रञ्जित अथवा चित्त में दीप्त होता है तो राग कहलाता है।[११] चूंकि सुख-दुःखात्मक भोग्य इसके कारण

१. स्वाभाविकेभयंतत्तद्विषयादेः प्रमादतः।—भा० प्र० ४।८०
२. स तु स्नेहस्त्रिधाप्रौढ़मध्यमन्दविभागतः।—वही ४।८०
३. वही ४।८०　　　४. वही ४।८०
५. वही ४।८०
६. स्थिरश्च गत्वरश्चेति नश्वरश्चेति सत्रिधा। उत्तमे मध्यमे नीचे तत्तत्कार्यवशाद्भवेत्।
—वही ४।८०
७. वही ४।८१
८. बहूपकारप्रभवउपकारातपेक्षते। मध्यमेवर्धितः किंचित्सस्नेहोगत्वरोभवेत्।
—वही ४।८१
९. दोषश्रवणमात्रेणसौमनस्यंविहाययः। प्रातिकूल्ये प्रवर्तेत सस्नेहो नश्वरोभवेत्।
—वही ४।८१
१०. नीचादावस्थिरः प्रायः स्नेहोज्यायसि तु स्थिरः।—वही ४।८१
११. वही ४।८१

केवल सुखरूप ही माना जाता है, अतः विषय एवं आत्माको एक रंग में रंगने के कारण इसे राग कहते हैं।[1] वह नीली, कुसुमा तथा मञ्जिष्ठा के रागों के समान तीन प्रकार का होता है।[2] इनका लक्षण प्रायः पूर्ववर्ती आचार्यों का जैसा है। इनमें नीलीराग वह है जो धोने से तो न छूटे, किन्तु अत्यधिक सुशोभित भी न हो।[3] जो धोने से छूट जाय किन्तु आंख को देखने से सुशोभित लगे, उसे कुसुमाराग कहते हैं।[4] किन्तु जो न धोने से छूटे और सुशोभित भी बहुत लगे वह मञ्जिष्ठाराग कहा गया है।[5] मञ्जिष्ठाराग सर्वश्रेष्ठ, नीली-राग मध्यम तथा कुसुमाराग अधम माना गया है।[6]

जब वही राग निरन्तर अविच्छिन्न रूप में अनुवर्तित होता है, अथवा जब राग अनु-रूप रहता है तो उसे अनुराग कहते हैं।[7] वह अनुराग युवक-युवतियों का परस्पर स्वसंवेद्य होता है, किन्तु अन्य के प्रति अनुराग शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति (लक्षणा) द्वारा समझ जाना चाहिए।[8] अन्त में अपनी बात की प्रामाणिकता बताते हुए शारदातनय कहते हैं कि ये प्रेम, (मान, प्रणय स्नेह, राग, अनुराग) आदि सभी पूर्वनिरूपित भाव शृंगाररस के आलम्बन का आश्रय लेते हैं (अर्थात् आलम्बन इनका विषय होता है।) ऐसा भट्टाभिनवगुप्तार्यपाद ने ही प्रकाशित किया है।[9]

स्थायीभावों के प्रसंग में शिङ्गभूपाल ने रति का विवेचन कुछ भोज के अनुसार इस प्रकार किया है—युवकयुवतियों की परस्पर की स्थायिनी इच्छा को रति कहते हैं। यह रति निसर्ग से, अभियोग से, संसर्ग से, अभिमान से, उपमा से, अध्यात्मरूप से तथा विषयों द्वारा होती है।[10] इस रति में कटाक्षपात, भ्रूक्षेप, प्रियवाक् आदि विक्रियायें (अनुभाव) होती हैं। भोज की सम्प्रयोग-रति को शि० भू० ने शब्दादिकों में अन्तर्भूत कर लिया तथा उसे पृथक् रति नहीं माना है।[11] यही रति क्रमशः विकसित होती हुई अंकुर, पल्लव, कलिका, प्रसून फल तथा भोग अवस्थाको प्राप्त करती है और उन अवस्थाओं के इसके विभिन्न रूप क्रमशः इस प्रकार माने जाते हैं—प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग तथा

---

1. भा० प्र० ४।८१ 2. नीली कुसुमामञ्जिष्ठारागौपम्येनसत्रिधा। —वही ४।८१

3. वही ४।८१ 4. वही ४।८१

5. अतीवशोभते यस्तुनापेति क्षालितोऽपि सन्
स एव कविभिः सर्वै र्मञ्जिष्ठाराग उच्यते।—वही ४।८१

6. वही ४।८१ 7. वही ४।८२ 8. वही, ४।८२

9. एते प्रेमादयोभावाः शृंगारालम्बनाश्रयाः।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेव प्रकाशिताः। —वही ४।८२

10. र० सु० १।१९६ 11. वही २।१८

अनुराग ।[१] यह सब विवेचन भोज के अनुकरण पर किया गया है ।[२] शि० भू० ने प्रीति को रति का भेद नहीं माना है, क्योंकि असम्प्रयोग विषय वाली प्रीति तो हर्ष से पृथक् कुछ है ही नहीं ।[३]

भोज ने आठ या नौ के अतिरिक्त कुछ और भी स्थायीभाव गिनाये थे । शि० भू० ने उन्हें नहीं माना है । उन्हीं में से एक स्नेह भी है । भोज ने इसे प्रेयो-रस का स्थायी भाव तथा रति और प्रीति की मूल प्रकृति माना था । किन्तु शि० भू० का कहना है कि स्नेह तो रति की ही चौथी विकसित दशा है या कुसुमदशा है । अतः 'यदेवरोचतेमह्यम्—आदि तथाकथित प्रेयोरस के उदाहरणों में स्नेह का रतिरूप में ही आस्वादन होता है, और जब स्नेह स्थायीभाव रति का ही एक रूप है तो प्रेयोरस भी शृंगाररस से पृथक् नहीं यह अपने आप सिद्ध हो गया ।[४]

भानुदत्त ने इष्ट वस्तु के प्रति अभिलाष से उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार को रति कहा है ।[५] स्थायी भावों के लक्षणों में भानुदत्त ने सर्वत्र 'अपरिपूर्ण' या 'परिमित', विशेषण लगा दिया है, जो सम्भवतः स्थायीभाव का रसदशा से भेद या अन्तर बताने के लिए किया गया समझ पड़ता है—क्योंकि कोई स्थायी भाव जब अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है तब तो रस ही कहलाने लगता है । अतः भावदशा अथवा स्थायीभावदशा में उसकी अपूर्णावस्था ही होनी चाहिए । और यह रतिस्थायी भाव कहीं देखने से कहीं सुनने से और कहीं स्मरण से उत्पन्न होता है ।[६]

शृंगारमञ्जरीकार बड़े साहब अकबर खां ने रति को अनुराग कहा है । वह अनुराग तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम तथा अधम । इनमें उत्तमानुराग वह है, जो उदय होकर संयोग दशा में अत्यन्त अभिवृद्धि पाकर वियोग में दस प्रसिद्ध वियोग अवस्था को उत्पन्न करे, सदा याद आये ।[७] मध्यानुराग वह है, जो वियोग में वेदना उत्पन्न करे तथा संयोग में चित्त को स्वस्थ रक्खे ।[८] और जो वियोग में थोड़ी वेदना उत्पन्न करे तथा संयोग में विस्मृति उत्पन्न करवाये वह अधमानुराग है ।[९]

---

१. र० सु० १।११०-१२०   २. वही २।११०-१२०

३. वही २।१२१-२२   ४. वही, पृ० १६८

५. तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः । —र० त० १

६. सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन । —वही १

७. तत्रानुरागोदयादनन्तरं संयोगेऽत्यन्तमभिवृद्धः सन् वियोगे दशावस्थाजनकस्सदा विस्मृतिविघटक उत्तमानुरागः । —शृ० म०, पृ० ५३

८. वियोगेवेदनाजनकः सन् संयोगे चित्तस्वास्थ्यदायकोमध्यमानुरागः । —वही पृ० ५३

९. वियोगे ईषद्-वेदनाजनकस्संयोगे प्रतिदिनंयूनोर्विस्मृतिघटकश्चाधमानुरागः ।

—वही पृ० ५३

यह अनुराग फिर निमित्तभेदसे चारप्रकारका होताहै—श्रवणानुराग, दर्शनानुराग, चित्रानुराग तथा स्वप्नानुराग। सौन्दर्यादिगुणाकर्णनजन्य श्रवणानुराग, विलोकनजन्य दर्शनानुराग, चित्रलिखित प्रियदर्शनजन्यचित्रानुराग, तथा स्वप्नावगतप्रियावलोकजन्य स्वप्नानुराग होताहै।

रतिका लक्षण पण्डितराजने इसप्रकार कियाहै—रतिस्थायीभाव प्रेमनामक एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है, जिसके स्त्री-पुरुष परस्पर आलम्बन होतेहैं।[1] इसी प्रसंगमें उन्होंने रतिभावके सम्बन्धमें अपना एक और मत भी स्पष्ट कियाहै। मम्मटने देवादिविषयक रतिस्थायीको तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी भावोंको 'भाव' नाम दियाथा। पण्डितराजने इस विषयको मूलतः ही सुस्पष्ट कियाहै। उन्होंने गुरुदेवतापुत्रादिविषयक रतिभावको व्यभिचारीभाव ही मानाहै उसे स्थायी माना ही नहीं है।[2] और व्यभिचारियोंकी संख्या चौंतीस मानीहै, तैंतीस ही नहीं।

स्त्री-पुरुष के वियोगके समय उनको परस्पर के जीवित रहनेका ज्ञान रहनेपर रतिभाव विच्छिन्न न होकर विक्लवता से पोषित होता हुआ प्रधानरूपमें स्थित रहताहै, अतः उसे विप्रलम्भशृंगार कहाजायगा और वहां वह वैक्लव्य केवल संचारीभावके रूप में रहेगा। किन्तु उनमेंसे किसीके मृत होने का ज्ञान होजानेपर वैक्लव्य (शोक) ही प्रधान होजायगा। तब रतिभाव उसका पोषक (संचारी) रूप होजाताहै, और उसे करुण रस कहा जायगा।[3] इस प्रकार उन्होंने विप्रलम्भ का करुण-विप्रलम्भ भेद स्वीकार नहीं कियाहै। उसे करुण ही कहाहै। किन्तु प्रियके मरणका ज्ञान होनेपर भी यदि देवताकी कृपाआदिसे उसके पुनः उज्जीवित होने (या मिलने) का ज्ञान होताहै तो, चूंकि आलम्बन का सदाकेलिए विनाश नहीं होता, वहां चिरप्रवास-जैसा विप्रलम्भ ही मानाजायगा, करुण नहीं।[4] जैसे चन्द्रापीडके प्रति कहेगये महाश्वेताके वाक्योंमें विप्रलम्भ ही माना जायगा।[5] पण्डितराजने इसविषयमें पूर्व के साहित्यदर्पणकारआदि आचार्योंका कुछ मत उद्धृत कियाहै, जो पूर्वोक्त महाश्वेतादि प्रसंगमें करुणविप्रलम्भनामक एक नया रस (अथवा विप्रलम्भ का विशिष्ट भेद) बतातेहैं।[6] ऐसा प्रतीत होताहै कि पण्डितराज स्वयं इस मतसे बहुत सहमत नहीं हैं।

---

१. स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषोरतिः स्थायिभावः।—र० ग० १

२. गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।—वही १

३. स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैक्लव्यं तु सञ्चारिमात्रम्। मृतत्व-ज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य-वैक्लव्यस्येतिकरुण एव।—वही १

४. यदा तु सत्यपिमृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथंचित्स्यात् तदा लम्बनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवासइव विप्रलम्भ एव न स करुणः।—वही १

५. यथा चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु।—वही १

६. केचित्तु रसान्तरमेवात्रकरुणविप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।—वही १

विद्याराम ने रस की ही सूक्ष्मरूप की स्थिति को स्थायीभाव कहा है, जो रसरूप स्थिति की अपेक्षा देर तक स्थित होने के कारण ही स्थायी कही जाती है।[१] उनमें भी युवक एवं युवती के परस्पर प्रगाढ़ स्नेह को रति कहते हैं, अन्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्नेह या प्रीति को भाव कहते हैं, रति नहीं।[२] यही रति सर्वतः पूर्णता को प्राप्त होकर शृंगार रस कहलाती है।

वस्तुतः रति एक बड़ा व्यापक भाव अथवा भाव-संघात है, और इस दृष्टि से विचार करने पर हम नये रूप में सुनाई पड़ने वाले रसों में अनेक स्थायी भावों को रति में ही समेट सकते हैं। स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, प्रीति, मैत्री, श्रद्धा, सौहार्द, सभी रति के ही विशेष रूप हैं।[३] एक मत से यही रति भाव शान्तरस का भी स्थायी माना गया है, किन्तु वहां रति का अर्थ आत्मरति समझना चाहिए। जब कोई व्यक्ति अपनी ही आत्मा को सर्वत्र देखता है तो उसे सम्पूर्ण विश्व से प्रेम हो जाता है, किसी से जुगुप्सा नहीं होती।[४]अभिनव ने इसआत्मरतिको मोक्षसाधन माना है तथा शान्तरसका स्थायी भाव माना है, क्योंकि गीता के अनुसार शान्त अथवा कृतकार्य वही व्यक्ति है, जो आत्मरति अथवा आत्मतृप्त है।[५]

हरिपालदेव ने शृंगार, सम्भोग तथा विप्रलम्भ—तीन पृथक्-पृथक् रस ही मान लिये हैं, जिनके क्रमशः आह्लाद, प्रीति तथा अरति स्थायीभाव बताये हैं। इनमें आह्लाद तो रति का ही रूपान्तर अथवा नामान्तर कहा जायगा। किन्तु विप्रलम्भ का स्थायीभाव 'अरति' को बताना ही भ्रान्ति है, क्योंकि विप्रलम्भ में भी रति की अन्तर्धारा तो बनी ही रहती है, अन्यथा विप्रलम्भ तथा करुण में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा। अतएव कवि कर्णपूर का कहना है कि विप्रलम्भ में रति ही स्थायी है। दूर रहने पर भी रति स्वतः सिद्ध रूप से विद्यमान रहती है।[६]

---

१. रसानां सूक्ष्मरूपाणि स्थायिभावाश्च सम्मताः।
स्थायित्वव्यपदेशोऽत्रस्थायित्वाद्रसरूपतः। —र० दी० १।१५

२. यूनोरन्योन्यसंस्नेहः प्रगाढ़ो रति रुच्यते।
इतरेषु रतिर्यास्यात् साभाव इति कथ्यते॥ —वही २।२

३. रतिश्चेतोरंजकता सुखभोगानुकूल्यकृत्।
सा प्रीति-मैत्री-सौहार्द-भाव-संज्ञाश्च गच्छति। —अलं० कौ०, अ० ५, पृ० १२४
तथा—स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यम् इति हि रतेरेव विशेषाः। हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ६८।

४. यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।—गीता

५. तत्र अनाहतानन्दमयस्वात्मविषयारतिरेव मोक्षसाधनमितिसैवशान्तेस्थायिनीति। तथोक्तम्—
यश्चात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्यनं विद्यते॥ —अ० भा०, वा० १, पृ० ३३५

६. विप्रलम्भेरतिरेवस्थायी ..... विप्रकर्षे पि रतेः स्वतस्सिद्धत्वात्॥ —अलं० कौ०

पञ्चम अध्याय

शृङ्गारविभाव

विभाव—भरतने विभावका अर्थ कारण कियाहै। कारण, निमित्त और हेतु उसके पर्याय बतायेहैं।[1] इसप्रकार 'विभाव्यन्ते विशिष्टितया ज्ञायन्ते वागाद्यभिनयसहिताः स्थायि-व्यभिचारिणो भावा यैस्ते ऋतुमाल्यादयो विभावाः' यह विभावकी व्युत्पत्ति होगी। वास्तवमें ये वागादिक, जो अभिनय हैं, वे तो अनेक कारणोंसे उत्पन्न होतेहैं—जैसे हास, रतिक्रोध हर्षादिकोंके कारण होताहै, आँसू, घामधूमरोगआदि अनेक कारणों से होताहै। तो हँसी या आँसूके अभिनयसे किस भावकी प्रतीति कीजाय? किन्तु विभावसे तो सीधे वही भाव झट से प्रतीत होउठताहै।[2] अतएव उसेही विभाव कहतेहैं, क्योंकि उसीसे भाव विभावित या विज्ञात हुआ है।

शृंगार के विभाव—नाट्यशास्त्रमें सम्भोग शृंगारके विभावोंको तो गिनायागया है, किन्तु वहां कहीं आलम्बन, उद्दीपन विभाग करके कुछ नहीं कहागयाहै, और अभिनवने तो विभावके आलम्बन उद्दीपन यह भेद काल्पनिक मानेहैं। वस्तुतस्तु सभी समुदित रूपमें विभाव हीहैं। मुनिने इसको कहीं किसी प्रकार नहीं सूचित कियाहै। और यह ठीक भी है। एक ही रूपकमें उद्यानऋतुमाल्यादिदर्शनसे एक ही रस निष्पन्न होताहै। क्योंकि उनकी उस रसके प्रति विभावतामें कोई भेद नहीं।[3] किन्तु उत्तम स्त्री-पुरुष उसके परस्पर आलम्बन है ही। उनके लिए उपयोगी ये उद्दीपन विभाव हैं—वसन्तादि ऋतुयें, कुसुममाल्यादि कामो-द्दीपक अनुलेपन, कटकादि अलङ्कार, विदूषकविटचेटादि इष्टजन, विषय (इन्द्रियोंके) जैसे

---

१. विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। —ना० शा०

२. अभिनयानामनेकहेतुजत्वम्। तद्यथा—हार्षादिभ्यो हासः घर्मधूमरोगादिभ्यो बाष्पः। तद्बाष्पात् किं प्रतीयताम्। विभावात्तुझटित्येव निश्चयः।—भारती

३. एवंच सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति अतएव मुनिना नायं क्वचिद् विभाग उक्तः सूचितोवा। युक्तं चैतत्। यथैकत्रैवरूपके-उद्यानर्तुमाल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेकोरसः स्यात्। विभावाभेदात्। —वही

गीत वाद्यादि, यद्यपि माल्यादि भी विषयके ही अन्तर्गत हैं, तथापि, उनकी विशिष्ट प्रधानता के कारण, उन्हें पृथक् कहदियाहै; वरभवन, जैसे हरम अथवा प्रासादादि। यहां वरभवन देश-विदेशका उपलक्षणमात्र समझाजानाचाहिये। इन सबका उपभोग करना उपवनमें जाना, वहांके आनन्दका अनुभव करना, वहां परस्पर श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीलादि करना।[1] (आदिका अर्थ है जैसे हंसादि पक्षियोंके जोड़े तथा चित्रपुस्तकादिको देखना) ये सभी शृंगाररसके विभाव मानेजातेहैं। इनमें, जो हृद्यतम होताहै, उसकी पूर्णता होनेपर उत्तम पात्रकी रतिका उदय होताहै। इसीलिए 'रत्नावली'में हर्षने हर्म्यवर्णन, उद्यानगमन, काम-देवपूजा, वसन्तादि सबका संग्रह कियाहै।

स्त्रियोंके नानाशील—सुखेच्छु अथवा सुखकामी शृंगारी पुरुषके सुखका मूल स्त्रियां होतीहैं। भरतने यहां सुखाधार उन स्त्रियोंको सामुद्रिकशास्त्रोक्त अथवा वात्स्यायनोक्त प्रकारसे नानाशील अथवा स्वभाववाली गिनायाहै। काव्यनाटकोंमें उन नायिकाओंका वर्णन करते समय कविगण प्रायः उनके ऐसे लक्षणोंका निर्देश करते देखे जातेहैं, जो शास्त्रोक्त पूर्वोक्त किसी-न-किसी विशिष्ट शीलके अनुसारही होताहै। अतः उनका वास्तविक रूप शास्त्रसे जानना अत्यावश्यक है। भरतके अनुसार उनका शील-स्वरूप देवादि बाईस प्रकारकाहै।[2]

इस निरूपणमें भरतने सामुद्रकशास्त्रादिका ही अनुसरण कियाहै। उनका कहना है कि स्त्रियोंका वास्तविक सत्त्व जानकर ही उनसे उस प्रकार (रतिमें) व्यवहार करनाचाहिए।[3] क्योंकि यथाशील कियागया स्वल्प भी रत्यादि हर्षप्रद होताहै, अन्यथा कियागया तो अत्यधिक भी अतोषप्रद होताहै।[4] मनुष्य पशुओंसे उन्नतप्राणी है। केवलपाशविक चेष्टायें उसको सन्तोष नहीं देसकतीहैं। रतिकेलिए भी स्त्री-पुरुषका परस्परहृदयाकर्षण अत्यावश्यक है। तदर्थ कियागया व्यापार 'उपचार' कहलाताहै। धर्म अर्जित करनेकेलिए तप कियाजाता है, और सुख प्राप्त करनेकेलिए धर्म कियाजाताहै, तथा सभी सुखोंकी मूल प्रमदायें मानी गयीं हैं, क्योंकि इन्हींमें रति-सुख मिलताहै, पुत्रादि उत्पन्न कियेजातेहैं तथा धनधान्यादिका उपयोग होता है। कामके हेतु स्त्री, पुरुष दोनों होतेहैं। यद्यपि स्त्रियोंके तथा पुरुषोंके विचित्र स्वभाव होतेहैं और अतएव प्रतिव्यक्ति स्वभावका लेखा लगाना असम्भव है, किन्तु सभी मानव तीन प्रकारकी प्रकृतिके भीतर ही सम्मिलित हैं। अतः भरतने तीन प्रकृतियों का विवेचन कियाहै। कामोपचार शृंगाररस-पर्यवसायी होताहै, जो नायक-विशेषमें ही (अथवा

---

१. तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीड़ालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। —ना० शा०, अ० ६

२. देवदानवगन्धर्व-रक्षोनागपतत्रिणाम्।
पिशाचयक्षव्यालानां नरवानरहस्तिनाम्॥
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः॥ —ना० शा० २२।१००—१०१

३. वही २२।१४५। ४. वही २२।१४६।

-तद्रूपही) है। अतः उन नायकोंका भी भेद कथनीय है। और उस नायकका अन्त.पुर अथवा बाहर कितना तथा किसनामवाला परिवार होताहै इत्यादि सब कुछ कवि एवं नटको ज्ञातव्य होताहै।[1] अतः भरतने नायक-नायिका-प्रकृति-परिवारका विचार बड़े विस्तारसे कियाहै। नाटकोंमें नायकतो प्रायः राजा या कोई राजन्य (क्षत्रिय) युवा ही होताहै, औरउसका केवल आभ्यन्तर कामोपचार होताहै। अतः उसके अन्तःपुरसे सम्बद्ध स्त्रियों एवंश्रृंगार-सहायोंका निरूपण कियाहै। यद्यपि राजाओंका बाह्योपचारहोताहीहै, अतः उनकाभी नायक-सम्बन्धसे ही निरूपण कर दिया गया है। अस्तु!

स्त्रीपुरुषप्रकृतियां—संक्षेपमें, स्त्रियों एवं पुरुषों दोनोंकी प्रकृति(स्वभाव) तीन प्रकारकी होतीहै—उत्तमा, मध्यमा, तथा अधमा। पुरुषों की उत्तमा प्रकृति—जितेन्द्रिया, ज्ञानवती, नानाशिल्पविचक्षणा, दक्षिणा, महालक्ष्या, भीता (अथवा दीनोंकी परिसान्त्वनी), नाना शास्त्रार्थसम्पन्ना, गाम्भीर्यौदार्यशालिनी तथा स्थैर्यत्यागगुणोपेता होतीहै।[2] मध्यमा-प्रकृति—लोकोपचार-चतुरा, शिल्पशास्त्रविशारदा तथा विज्ञानमाधुर्ययुता अथवा (साधारणगुणोपेता) कही गयीहै।[3]और अधमा प्रकृति—रूक्षवाक्, दुःशीला, कुसत्त्वा, स्थूलबुद्धि, क्रोधना, घातका, मित्रघ्ना, अतिमानिनी, पिशुना, उद्धतवाक्या, अकृतज्ञा, अलसा, मान्य और अमान्यमें भेद न जाननेवाली, स्त्रीलोला, कलहप्रिया, पापकर्मा तथा परद्रव्या-पहारिणी होतीहै।[4]

इसीप्रकार स्त्रियोंकी उत्तमा-प्रकृति—मृदुभावा, अचपला, स्मितभाषिणी, अनिष्ठुरा, गुरुजनोंकी आज्ञापालनमें दक्षा, सलज्जा विनयान्विता, स्वाभाविकरूपा, अभिजन एवं माधुर्य गुणोंसे युक्त तथा गाम्भीर्य-धैर्य-सम्पना होतीहै।[5] मध्यमा-प्रकृति—पूर्वोक्त उत्तमा के ही सामन्य कोटिके कुछ गुणों से युक्ता होतीहै तथा कुछ स्वल्पदोषानुविद्धाभी होतीहै।[6] और अधमा प्रकृति भी वही है, जो अधमा पुरुषप्रकृति कहीगई है।[7]

नाटकके नपुंसक भी पात्र होतेहैं, जो कुछ मिश्र प्रकृतिके होतेहैं। प्रेष्यआदि भी स्वामीके चित्तानुवर्तनके कारण मिश्रप्रकृति ही होतेहैं। शकार तथा विट भी या तो सङ्कीर्ण (मिश्र) या अधम होतेहैं।[8] अभिनवने तो प्रेष्य विट तथा शकारको अधम ही कहाहै।[9]

श्रृंगार-नायक-भेद—इसप्रकार प्रकृतिभेद बताकर भरत (श्रृंगार)—नायकका भेद बतातेहैं। नायक चार प्रकारके होतेहैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त।[10] धीरोद्धत देवता होतेहैं, धीरललित राजालोग, धीरोदात्त, सेनापति तथा अमात्यलोग और धीरप्रशान्त ब्राह्मण तथा वणिक्। यह इसप्रकारका विवेक भरतने केवल श्रृंगाररसके संबन्ध में कियाहै। अन्यरसोंकेलिए मनुष्य नायक ही चारप्रकारके कहेगयेहैं जैसे राम-दुष्यन्त आदि धीरोदात्त, युधिष्ठिरआदि धीरप्रशान्त, भीमआदि धीरोद्धत तथा उदयनआदि धीर-ललित नायक नाट्यलोकमें प्रसिद्ध हैं।

---

१. भारती
२. ना० शा० २४।२, ३
३. वही ४
४. वही ५।७
५. वही ६, १०
६. वही ११
७. वही १२
८. वही १३, १४
९. परमार्थतस्तुप्रेष्यविटशकारा अधमा एव।—भारती।
१०. ना० शा० १७

इन (शृंगार) नायकोंके विदूषक भी चारप्रकारके होतेहैं। धीरोद्धत देवनायकोंका विदूषक 'लिङ्गी' अर्थात् ऋषि होताहै; धीरललितराजानायकोंका कोई द्विज; धीरोदात्त सेनापति (अथवा अमात्य) का राजाजीवी तथा धीरप्रशान्त ब्राह्मणनायकोंका तो शिष्य ही विदूषक होताहै।[१] ये विदूषक संकथालापकुशल तथा विप्रलम्भसुहृद् होतेहैं। नायककी यही नायकता है कि वह व्यसनमें पड़करभी अपना दुःख झेल करभी फिर अभ्युदय प्राप्त करे।[२]

शृंगार-नायिका-भेद—इसीप्रकार नाट्यशास्त्रमें (शृंगार) नायिका भी चारप्रकार की बताईगईहै—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका। उनमें भी दिव्या एवं नृपपत्नी नायिकायें—धीरा, ललिता, उदात्ता, निभृता एवं गुणोंसे युक्त होतीहैं।[३] कुलस्त्री उदात्ता एवं निभृता कहीगयीहै। तथा गणिका ललिता एवं अभ्युदात्ता होतीहै[४] राजाके अन्तःपुरका स्त्री-परिवार इसप्रकार सत्रहप्रकारका होताहै—महादेवी (पटरानी), देवियाँ, (अन्यरानियाँ), स्वामिनियाँ, स्थापितायें, भोगिनियाँ, शिल्पकारिणियाँ, नाटकीयायें, सनर्तकायें, अनुचारिकायें, परिचारिकायें, संचारिकायें, पेषणकारिकायें, महत्तरायें, प्रतीहारियाँ, कुमारियाँ, स्थविरायें तथा आयुक्तिकायें[५]। और नपुंसकादिवर्ग अट्ठारहवां प्रकार है। महादेवीआदिका लक्षण इसप्रकार कियागयाहै :—**महादेवी** (पटरानी)—एकही होतीहै, अतः एकवचनही कहा गयाहै। वह मूर्धाभिषिक्ता (मूर्धनि 'सर्वेषांप्रधानस्थाने अभिषिक्ता—भारती) कुलशील-समन्विता, गुणोंसे युक्त, वयस्स्था, मध्यमअवस्थामें वर्तमान, क्रोधना, मुक्तेर्ष्या, राजाके शील को जाननेवाली, सुखदुःख-सहा, निरन्तर शान्ति एवं स्वस्त्ययनोंद्वारा भर्ताके मंगल को चाहनेवाली, शान्ता, पतिव्रता, धीरा, तथा अन्तःपुरके हितमेंरता होतीहै।[६] **देवियां** (अन्य रानियां)—महादेवीके गुणोंसे ही युक्त होतीहैं, केवल मूर्धाभिषेक संस्कार इनका नहीं होता। ये गर्विता, अतिसौभाग्या, पतिसंभोगतत्परा, एवं सदा उज्ज्वल आकारवाली, प्रतिपक्षाभ्यसूयका, तथा वय, रूप एवं गुणोंसे सम्पन्न होतीहैं।[७] **स्वामिनियां**—सेनापतिकी अमात्योंकी अथवा भृत्योंकी तनयायें होतीहैं। वे प्रति (पति ?) सम्मान नहीं पातीं। शील, रूप तथा गुणोंसे सम्पन्न राजाका हित करनेवाली, एवं अपने गुणोंके कारण लब्धसम्माना होतींहै।[८] **स्थापितायें**—रूपयौवनशालिनी, सौभाग्यगर्वके कारण कर्कश, विभ्रम-युक्त, रतिसंभोगकुशला, प्रतिपक्ष से अभ्यसूया करनेवाली, दक्षा, भर्ताके चित्तको जाननेवाली, सदा गन्धमाल्यसे उज्ज्वल (चटक), राजाकी छन्दानुवर्तिनी, ईर्ष्या, मान तथा गर्वसे रहित, उत्थिता (?) प्रमत्ता (प्रमदशालिनी) त्यक्तालस्या, अनिष्ठुरा तथा मान्यामान्य-विशेषज्ञा होतीहै।[९] **भोगिनियां**—कुल एवं शीलके कारण पूजा पानेवाली, स्वभावसे मृदु, नात्युद्भटा, मध्यस्था, निभृता तथा क्षान्ता होतीहै।[१०] **शिल्पकारिणियां**—नानाकलाविशेषज्ञा,

---

१. ना० शा० १९, २० २. वही २२ ३. वही २४, २५
४. वही २५, २६ ५. वही २९-३२ ६. वही ३३-३५
७. वही ३५-३७ ८. वही ३८-३९ ९. वही ४०-४२
१०. वही ४३

नानाशिल्पविचक्षणा, गन्धपुष्पविभागज्ञा, लेख्यालेख्यविकल्पिका, शयनासनभागज्ञा, चतुरा, मधुरा, दक्षा, सौम्या, स्फुटा, श्लिष्टा, तथा निभृता होतीहैं।[१] **नाटकीयायें**—स्वरताललयज्ञा, परभावेङ्गितज्ञा, चतुरा, नाट्यकुशला, ऊहापोहविचक्षणा, तथा रूपयौवनसम्पन्ना होतीहैं।[२] **सनर्तका** (अथवा नर्तकियां)—हेलाभावसे विशेषसम्पन्ना, सत्त्व अभिनय तथा माधुर्यसे विभूषिता, आतोद्यकुशला, अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्ना, चौसठकलाओंसे युक्ता, चतुरा, प्रश्रयोपेता (विनयान्विता), स्त्रीदोषवर्जिता, सदाप्रगल्भा, त्यक्तालस्या, जितश्रया, नानाशिल्पप्रयोगज्ञा, नृत्तगीतविक्षणा, रूपगुणौदार्यधैर्यसौभाग्यशीलसम्पन्ना तथा पेशलमधुरस्निग्धअनुनादिकल-चित्रकण्ठा होतीहैं। बहुतसी नारियोंमें भी रूपयौवन तथा क्रान्तिमें उनके सदृश अन्य कोई नहीं दिखाईपड़ती।[३] **अनुचारिकायें**—दक्षिणा, दक्षा, तथा सभी अवस्थाओंमें राजाके पाससे न हटनेवाली होतीहैं।[४] **संचारिकायें**—अनेकप्रकारकी होतीहैं—जैसे—शय्यापाली, छत्रधारी व्यजनधारिणी संवाहिका, गन्धयोक्त्री, प्रसाधिका, आभरण-योक्त्री, तथा माल्य-संयोजिका आदि।[५] संचारिकायें—ये भी कईप्रकारकी होतीहैं—नानाकक्ष्यविचारिणियां, उपवनसंचरा, देवतायतन-क्रीडाप्रासादपरिचारिका, तथा यामकिनियाँ (पहरेदारिनियाँ)।[६] **प्रेषणकारिकायें**—जो गोप्य-अगोप्य प्रेषणकार्यों में परिचारिका नियुक्त कीजाती हैं।[७] **महत्तरायें**—जो स्तुति तथा स्वस्त्ययनद्वारा सारे अन्तःपुर की रक्षा में रत रहती हैं।[८] **प्रतीहारियां**—जो सन्धि-विग्रहसे सम्बद्ध नानाचारसमुत्थित कार्यको निवेदित करतीहैं।[९] **कुमारियां**—जो अप्राप्त रतिसंभोगा, नसम्भ्रान्ता और न उद्भट्टा निभृता तथा सलज्जा होतीहैं।[१०] **स्थविरायें**—जो पूर्ववर्ती राजाओंकी नीति या परम्पराको जाननेवाली, पूर्ववर्ती राजाओंद्वारा पूजित तथा अनु-चरित(अनुगत)रहीं।[११] और **आयुक्तिकायें**—अन्तःपुरमें स्थित विभिन्न अधिकरणों(विभागोंकी) अधीक्षिका होती हैं, जैसे—भाण्डागार, आयुधाधिकरण, फलमूल तथा औषधियों का अन्वेषणादि।[१२] अन्तःपुरकी इन सत्रहप्रकारकी स्त्रियोंमें कारुका (शिल्पकारिणी) कञ्चुकीया तथाअन्य आयुक्तिकादि अनुरक्ता, भक्ता, नानापार्श्वसमुत्थिता, विविधकार्योंमें नियुक्ता, न उद्भटा, न सम्भ्रान्ता, अलुब्धा, अनिष्ठुरा, दान्ता, क्षान्ता, प्रसन्ना, जितक्रोधा, जितेन्द्रिया, अकाम्या (परस्य कामयितुमनर्हाअशक्याश्चेति भारती) लोभहीना, तथा स्त्रीदोषों से रहिता होती है।[१३]

राजान्तःपुरके अन्यपरिवार—अन्तःपुरमें कुछ विनीत, स्वल्पसत्त्ववाले, स्त्री-स्वभाववाले, जातिसे निर्दोष, क्लीब (नपुंसक) लोग भी रहतेहैं। उन्हें 'वर्षवर' कहाजाताहै,

---

१. ना० शा० ४४-४५ २. वही ४६-४७ ३. वही ४७-५२
४. वही ५२, ५३ ५. वही ५३-५५ ६. वही ५५-५७
७. वही ५७-५८ ८. वही ५८-५९ ९. वही ५९-६०
१०. वही ६०, ६१ ११. वही ६१-६२ १२. वही ६२-६३
१३. वही ६५-६८

वे प्रेषणमें तथा कुमारी बालिकाओं के रक्षणादिकार्योंमें नियुक्त कियेजातेहैं। इनके अतिरिक्त कुछ कामसम्बन्धी दोषोंसे रहित कुशल, वृद्ध ब्राह्मणभी रानियोंके प्रयोजनोंमें प्रयोक्तव्य होतेहैं। यह तो हुआ राजाओंका अट्ठारहप्रकारका अन्तःपुर, जिसका उपयोग शृंगाररसके सम्बन्धमें कियाजाता है।

राजबाह्यपरिवार—भरतने राजाओं के बाह्यपरिवारका भी सविस्तर विवेचन कियाहै। उनका भी शृंगाररसके सम्बन्धमें उपयोग कियाजाताहै। वे हैं—राजा (इस राजा शब्दका अर्थ अभिनवने युवराज कियाहै—(युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्तः—भारती) सेनापति, पुरोधा, मन्त्रिगण, सचिव, प्राड्विवाक तथा कुमाराधिकृत (७४)। उनके लक्षण इसप्रकार कियेगये हैं। **राजा**—अर्थात् युवराज—बलवान् बुद्धिसम्पन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रिय दक्ष, प्रगल्भ धृतिमान्, शुचि, दीर्घदर्शी, महोत्साह, कृतज्ञ, प्रियवाक्, मृदु, लोकपाल, व्रतधर, कर्ममार्ग-विशारद, उत्थित, अप्रमत्त, वृद्धसेवी, अर्थशास्त्रविद् परभावज्ञ, शूर, रक्षासमन्वित, ऊहा-पोहविचारी, नानाशिल्पप्रयोजक, नीतिशास्त्रकुशल, प्रजामें अनुरागवान्, धर्मज्ञ तथा अव्यसनी होताहै।[1] **पुरोधा** तथा **मन्त्रीगण**—कुलीन, बुद्धिसम्पन्न, नानाशास्त्रविपश्चित्, स्निग्ध, दूसरों द्वारा जो बहकाये नजासकें, अप्रमत्त, देशज्ञ, अलुब्ध, विनीत, शुचि (पवित्र, अथवा ईमानदार) तथा धार्मिक होतेहैं। **सचिव**—दक्ष, प्रियंवद, भक्त, शुचि, श्रमवर्जित (?) विनीत, कुशल, दान्त तथा प्रभु होतेहैं। **सेनापति**—बुद्धिमान्, नीतिसम्पन्न, त्यक्तालस्य, प्रियंवद, पररन्ध्र-विधिज्ञ, यात्रा (आक्रमण) कालविशेषजित्, अर्थशास्त्रकुशल, अनुरक्त, कुलीन, देशवित् तथा कालवित् होना चाहिए। **प्राड्विवाक**—झगड़ेके विषयमें जो निर्णय पूछे उसे प्राश् कहतेहैं, जो वादीऔर प्रतिवादी होतेहैं। उनका विवेक जो कहे उसे प्राड्विवाक या न्यायाधीश जज कहते हैं।[3] अतः व्यवहारार्थ(मुकदमेके विषय)—तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, मध्यस्थ, धार्मिक, धीर कार्याकार्यविवेकी, क्षान्त, दान्त, जितक्रोध तथा सर्वत्र समदर्शी द्विजोंको धर्मासन (न्यायकी कुर्सी)पर बैठानाचाहिए।[4] **कुमाराधिकृत** (कुमार अर्थात् राजकुमारोंकी रक्षाकेलिए नियुक्त अधिकारी (कुमाराणां राजपुत्राणां रक्षार्थमधिकृताः—भारती) उत्थित, अप्रमत्त, त्यक्तालस्य, जितश्रम, स्निग्ध, क्षान्त, विनीत, मध्यस्थ, निपुण, नयज्ञ (नयो आर्थशास्त्र नयहेतुत्वात्—भारती) विनयज्ञ, (विनयोऽत्रधर्मशास्त्रम्-भारती) ऊहापोहविचक्षण, तथा सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न होते हैं।[4] भरतने संक्षेपमें इनका लक्षण बताकर भी इतना कहदियाहै कि इनका विशेष विस्तारपूर्वक लक्षण बृहस्पति (बार्हस्पत्योशनसादेरित्यर्थः) प्रोक्त मतसे निश्चय कर लेना चाहिए।

राजाकी आठप्रकारकी नायिकाएँ—उचितवासकमें, अथवा स्त्रियोंके ऋतुकालके

---

१. ना० शा० २४।७६-८० २. वही ८०-८१

३. पृच्छन्तिविवादपदेनिर्णयमितिप्राशोविवदितारस्तेषांविवेचकउच्यते यैस्ते प्राड्विवाकाः ?
—भारती।

४. ना० शा० ८४-८६

समय धर्मवृत्ति नरेश प्रेष्या (वेश्या, दूतीआदि) तथा इष्टाका भी सेवन करताहै।[1] ये सब आठप्रकारकी नायिकायें होतीहैं :—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका।[2] इनके लक्षण संक्षेपमें इस प्रकार हैं:—वासकसज्जा—जो रतिसम्भोगके प्रति साभिलाषहो प्रसन्न होकर उचितवासकमें अपना मण्डन करतीहै।[3] विरहोत्कण्ठिता—जिसका प्रिय अनेककार्यव्यासङ्गके कारण उसके पास नहीं आरहाहै, अतः जो उसके न आनेसे दुःखार्त है।[4] स्वाधीनभर्तृका—जिसका नायक सुखरससे आबद्धहो उसके पासही रहताहै, अतएव जो सान्द्रामोदमयी अथवा हर्षसौभाग्याभिमानगर्विता होतीहै।[5] कलहान्तरिता—जिसका ईर्ष्याकलहके कारण निकला प्रिय पास नहीं आता, अतः जो अमर्षाक्रान्त है।[6] खण्डिता—जिसका प्रिय अन्यनारियोंके सङ्गके कारण उचित 'वासक' में नहीं आता, अतः जो उसके अनागमसे दुःखार्त रहतीहै।[7] विप्रलब्धा—जिसका प्रिय दूतीद्वारा अथवा अन्यके द्वारा भी सङ्केत देकर किसी कारणवश नहीं आता।[8] प्रोषितभर्तृका—जिसका प्रिय नानाकार्यवशात् परदेशस्थ होताहै, अतः जो उसकी भावनासे केशोंका श्रृंगारआदि नहीं कियेरहती।[9] और अभिसारिका—जो यौवनकृत या मद्यकृत मदके कारण तथा मदनवश लाज छोड़कर प्रियके पास जाती (अभिसार करती)है।[10]

बादके आचार्य तो ये आठ भेद सामान्यतया सभी नायिकाओंका करने लगे।

वेश्याप्रकृतिभेद—भरतने सभी वेश्या नारियोंकी भी तीनप्रकारकी प्रकृति बताई है—उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा। उत्तमा—वह है, जो प्रिय (नायक) के विप्रिय करनेपर भी अप्रिय नहीं बोलती, दीर्घकालतक रोष नहीं करती, कलाओंमें विचक्षणा होतीहै, अच्छे शील, शोभा तथा कुलवाले पुरुषोंद्वारा चाहीजातीहै, उचित कारणपर रोष करतीहै, ईर्ष्यारहित बात करतीहै, कामतन्त्रोंमें कुशल, दक्षिणा तथा रूपवती होतीहै, कार्यकालकी विशेषज्ञ तथा सुभगा होतीहै।[11] मध्यमा—वह है, जो उन पुरुषोंको स्वयंभी चाहतीहै जो उसे चाहतेहैं, कामोपचारों में कुशला होतीहै, प्रतिपक्षसे अभ्यसूया करतीहै, ईर्ष्यातुरा, अनभृता, क्षणक्रोधा, अतिगर्विता तथा क्षणप्रसादा होतीहै।[12] और अधमा—वह है, जो अनुचित कोप करनेवाली, दुष्टशीला, अतिमानिनी, चपला, परुषा तथा दीर्घरोषा होती है।[13]

स्त्रीयौवनविभाग—स्त्रियोंके यौवनके भी चार विभाग (नैपथ्य, रूप, चेष्टा एवं गुणोंके अनुसार) कियेगयेहैं। अभिनवने बीसवर्षतक प्रथम यौवन, तीसतक द्वितीय, चालीस तक तृतीय तथा पचास तक चतुर्थ यौवन विभागकियाहै। (प्रथमं यौवनं यावद्विंशति। एवं त्रिंशच्चत्वारिंशत्पंचाशदादिविभागः—भारती)। प्रथमयौवन में ऊरु, गण्ड, जघन, अधर तथा

१. ना० शा० २२।२१०, २. वही २२।२११-१२ ३. वही २२।२१३
४. वही २२।२१४ ५. वही २२।२१५ ६. वही २२।२१६,
७. वही २१७ ८. वही २१८ ९. वही २१९
१०. वही २२।२२० ११. वही २३।३६-३८ १२. वही २३।३९-४०
१३. वही २३।४१

स्तनोंमें पीनता, कर्कशता (कठोरता) अथवा रतिमनोज्ञता होतीहै। और मनमें शृंगारविषयक समुल्लास रहताहै। द्वितीय यौवनमें अंगोंमें पूर्णावयवता, पयोधरोंमें पीनता, कटिमें नति आ जातीहै। यह कामदेव अथवा शृंगारका सारभूत यौवन है। तृतीय यौवनमें सर्वश्रीसंयुक्तता, रतिकरणोत्पादनता, रतिगुणाढ्यता तथा कामाप्यायितशोभा होतीहै। और चतुर्थ यौवन में गण्ड, जघन तथा स्तनोंमें तो अम्लानता, किन्तु लावण्यमें कुछ ऊनता और कामके प्रति निरुत्साहत्व आ जाता है। अतएव कहा है—

नव-यौवने व्यतीते तथा द्वितीये तृतीये वापि
शृंगारशत्रुभूतं यौवनमेतच्चतुर्थं तु ॥[1]

यौवनविभागोंमेंचेष्टाएँ—उनकी चेष्टाएँ भी यौवनके प्रत्येक विभागमें विभिन्न होतीहैं। प्रथम यौवनमें वह दशनादिकृत्यको अत्यधिक नहीं सह सकती, स्त्रियों (पति?) से न नाराज होतीहै न प्रसन्नही तथा सौम्यगुणोंमें अवसक्ता होतीहै। द्वितीय यौवनमें कुछ मान, कुछ क्रोध तथा कुछ मत्सर करतीहै और क्रोध होनेपर चुप होजातीहै। तृतीय यौवनमें रति सम्भोगमें दक्षा, प्रतिपक्षके प्रति द्रोह करनेवाली, रतिगुणाढ्या (अर्थात् कामतन्त्रप्रयोगप्रगल्भा) तथा अनिभृतगर्वितचेष्टावाली होतीहै। और चतुर्थयौवनमें नारी चित्तग्रहण में समर्था, कामाभिज्ञा तथा अमत्सरोपेता होतीहै और सदा नायकका अविरहही चाहतीहै।[2]

स्त्रीप्रयोगके अनुसार पुरुषोंके प्रकार—इसीप्रकार स्त्रीप्रयोगके विषयमें पुरुष भी पांचप्रकारके कहे गयेहैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, नीच तथा प्रवृत्तक[3]। चतुर पुरुष वह है, जो दुःखक्लेशसहिष्णु, प्रणयक्रोधप्रसादनकुशल तथा रतिउपचारोंमें निपुण होताहै। उत्तम पुरुष नारीका विप्रिय नहीं करता, अज्ञातईप्सितहृदय अर्थात् गम्भीरहृदयवाला, स्मृतिमान्, धृतिमान्, मधुर, त्यागी, न राग न मदके वशमें होताहै तथा नारीसे अपमानित होनेपर विरक्त होजाताहै। मध्यम पुरुष वह है, जो सर्वथा मध्यस्थभावसे ही नारीमें अनुरक्त होता है, और कुछ दोष देखकर विरक्त भी होजाताहै। मध्यमका एक अन्य रूपभी निरूपित किया गयाहै—'काले दाता ह्यवमानितोपिनक्रोधमतितरामेति। दृष्ट्वा व्यलीकमात्रं विरज्यते मध्यमोऽयमपि ॥'[4] अधम पुरुष वह है, जो नारीसे अपमानित होकर भी निर्लज्जताके कारण बिना चेहरेपर किसीप्रकारके विकारको दिखाये पुनः उसके पास पहुंचता है। उस नायिकाको अन्य पुरुषसङ्क्रान्तस्नेहा जानकर भी मित्रोंद्वारा मनाकियेजानेपरभी, जो उसमें अतिशय अनुरक्त होताहै।[5] और संप्रवृत्तक या संप्रवृद्धक वह है, जो भय, अमर्ष आदिकी परवाह न करे, मूर्खस्वभाववाला, सदा खींसे निकाले, एकान्तदृढ़ग्राही, कामतन्त्रोंमें निर्लज्ज, रतिकलहसंप्रहारोंमें अकर्कश तथा औरतोंका खिलौना (Buffoon) होताहै। इस सारे विवेचनमें भरतने कामशास्त्र की मान्यताओंको अपनायाहै। यह सारा प्रपञ्च तदनुसारही हुआहै। स्त्रियोंके विविध शील तथा गूढ अभिप्रायवाले हृदयको जानकर ही यथाशय उनका संगम करनाचाहिए। उनके अनु-

१. ना० शा० २३।४३-४६ २. वही २३।४८-५१ ३. वही २३।५३
४. वही २३।५८ ५. वही २३।५९-६०

रागबिरागको जानकर ही, तदनुसार कियेगये उपक्रमों द्वारा यथाकामतन्त्र उनका उपभोग करे।[1]

रुद्रट का नायकविवेचन—नायकनायिकाविवेचन में रुद्रटका महत्त्वपूर्ण मौलिक योगदान रहा, जो परवर्ती आचार्योंकेलिए उपजीव्य हुआ। रुद्रटके शृंगाराश्रयनायकनायिका वर्णनकी अवतरणिका देतेहुए नमिसाधुने लिखाहै—'शृंगारश्च नायकाश्रय इति तस्य गुणानाह' अर्थात् शृंगारकी स्थिति नायकमें रहती है, अतः नायकके लक्षणआदिका विवेचन करतेहैं। सम्भवतः नायकाश्रयमें नायकशब्द एकशेष समासमें है—नायकश्च नायिका च। उचित यह कहनाथा कि 'शृंगारश्चपुंनार्योर्व्यवहारः इति यथाक्रमं तयोः पुरुषस्य नार्याश्च गुणानाह।'

शृंगारनायकका स्वरूप एवं प्रकार—शृंगारका नायक या पुमान् काव्यका नायक होताहै। और हमें यह कभी नहीं भूलनाचाहिए कि काव्य या नाटकका नायक एक आदर्श पुरुष होताहै। लोकका शृंगारवृत्तिवाला व्यक्तिभी यदि शृंगारकाव्यका नायकरूपसे वर्णित कियाजायगा तो वह आदर्श शृंगारी होगा। अतः रुद्रटके मतसे शृंगारका नायक रतिसम्बन्धी उपचारोंमें चतुर, उच्चकुलका, सुरूप, नीरोग, मानशील, नागरिक (अग्राम्य) एवं चटकीले वेशवाला अनुद्धतचेष्टाओंवाला, गम्भीररसभाव, सुभग (प्रिय), कलाओंमें कुशल, युवा, त्यागशील, प्रियभाषी, कार्यदक्ष, गम्यास्त्रियोंका विश्वासभाजन तथा लोकविख्यात होताहै।[2]—उन्होंने नायकके उत्तम, मध्यम तथा हीन या अधम भेद भी कियेहैं—नायकानां हीनमध्योत्तमानाम्।[3] शृंगारका नायक किसीस्त्रीसे सम्बद्ध होगाही। अतः स्त्रीसम्बन्धकी दृष्टिसे नायक चारप्रकारका होताहै—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इनमें, स्थिर प्रेमके कारण अन्यरमणीसे सम्बन्ध न रखनेवाला 'अनुकूल' नायक कहलाताहै।[4] 'दक्षिण' नायक वह है, जो अपनी पहलेकी नायिकाके प्रति सद्भाव, गौरवभाव, भय (अदब) एवं प्रेम अक्षुण्ण रखतेहुए भी अन्य नायिकामें मन लगाताहै।[5] जो (सामने) प्रिय बातें अधिक करे, किन्तु चोरीचोरी अप्रिय (अन्य नायिकासे प्रेमआदि) करे, देखनेमें तो निरपराध लगे, किन्तु कार्य सभी कुटिल ही करे उसे 'शठ' नायक कहतेहैं।[6] और 'धृष्ट'(या ढीठ, निर्लज्ज) नायक वह है, जो अपनी पहलेकी नायिकाका अहित (दूसरीसे प्रेम रूप) करकेभी निर्भय रहताहै, डाटनेपर भी नहीं लजाता, और जब उसके दोषोंको उससे बतायाजाय तो कहताहै कि यह सब झूठहै।[7] भरत ने इसी प्रसंगमें चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम तथा संप्रवृत्तक भेद करके कुछ इस दिशामें संकेत-सा किया था।

शृंगारनायकके सहायक—शृंगाररसके काव्योंमें नायकके क्रीडासहायक तीनप्रकार के कर्मसचिव होतेहैं, जो नायक के भक्त, उसकी बातको गुप्त रखनेवाले, परिहासवचनमें

---

१. ना० शा० २३।६३-६४ २. का० अ० १२ ३. वही १२।४७
४. तत्र प्रेम्णः स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीकः। —वही १२।६ ५. वही १२।१०
६. वही १२।११ ७. वही २।१२

कुशल, ईमानदार, वाक्‌पटु (लोगोंके अथवा नायकके) चित्तको समझनेवाले, तथा प्रतिभावान् होतेहैं।[1] ये नर्मसचिव तीनप्रकारके होतेहैं—पीठमर्द, विट और विदूषक। इनमें पीठमर्द तो नायकके ही गुणोंसे युक्त तथा उसका अनुचर होता है। विटमें एकादशविद्यायें होतीहैं।[2] विदूषकके कुछ अपने विशेषगुणही होतेहैं। वह नायकका खिलौना-जैसा होताहै। वह प्रकृत्या, मूर्ख तथा हास्यजनक आकार, वेष एवं बातोंवाला होताहै।[3]

नायिकानिरूपण—इसप्रकार संक्षेपमें पुरुष या नायकका विवेचनकरके रुद्रटने नारी या नायिकाका विवेचन कियाहै—क्योंकि 'अन्योन्यानुरक्तयोः पुंनार्योः रतिप्रकृति र्व्यवहारः शृंगारः' उनकी शृंगारकी परिभाषा है। नायिकायें प्रथम तीन प्रकारकी होतीहैं—आत्मसक्ता अन्यसक्ता तथा सर्वसक्ता। इन्हींको दूसरेशब्दोंमें स्वकीया, परकीया और सामान्या कहतेहैं। रुद्रटका यह विवेचन भरतके विवेचनसे स्वतन्त्र मौलिकसा है। ये सभी लज्जाशीला होतीहैं, तथा जैसे नायकके सहायक नर्मसचिव होतेहैं, वैसेही इनकी भी सहायक सखियां होतीहैं।[4] आत्मीया (स्वकीया) नायिका—पवित्र और परम्पराका पालन करनेवाली, अपने चरित्रका सहारा लेनेवाली, सरलता एवं क्षमासे युक्त होतीहै। वह तीन प्रकारकी होतीहैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा, जो सम्भवतः वयःक्रमके अनुसार किया गयाहै।[5] नायिका-वर्णनमें जिसप्रकार अन्य आचार्योंने, उसीप्रकार रुद्रटने भी वात्स्यायनकामसूत्रसे मुख्यतया सहायता लीहै। आत्मीया मुग्धा नायिका—नवयौवनके कारण मदनविकारोंमें सकौतुक, सुरतक्रीड़ाके कौशलसे अपरिचित, किंचित् साध्वस (भय आशङ्काआदि) के कारण अपने प्रेम को छिपाये रहनेवाली होतीहै।[7] उसकी अन्य चेष्टाओंका वर्णन रुद्रटने इसप्रकार किया है—मुग्धा शय्यापर प्रतिकूल मुख करके पड़तीहै, प्रियके आलिङ्गनके समय कांपतीहुई अपने अङ्गों को तथा चुम्बनके समय अपने मुखको हटालेतीहै। बहुत पूछनेपर कुछ अस्पष्ट बोलतीहै। जब नायक दूसरी नायिकाके साथ प्रेमक्रीडा करताहै तो मुग्धा गुस्सेमें उसके सम्मुख केवल रोतीहै और किसी सरल उपायसे ही प्रसन्न भी होजातीहै।[4] आत्मीया मध्या नायिका का—यौवन पूर्ण विकसित रहताहै, भवनक्रीडाओंके प्रति उसको बड़ा उत्साह रहताहै, कुछ-कुछ प्रगल्भताभी दिखायी पड़ने लगतीहै, सुरतक्रीड़ाओंमें कुछ कुशलताभी आजातीहै। सुरतव्यापारमें थक भी जातीहै, रतिक्रीडामें नायकके अंगोंमें मानो प्रविष्टसी होजातीहै, सुरतावसान में सानन्द आंखें बन्द किये मानों बेहोशसी होजातीहै। (नायिकाकी ये चेष्टाएँ केवल काव्यमें वर्णित कीजासकतीहैं, उनका नाटकोंमें प्रदर्शन नहीं किया जासकताहै।) फिर रुद्रटने प्रियके प्रति मानके विषयमें मध्याके तीन भेद बतायेहैं—धीरा, मध्या और अधीरा। धीरा प्रियके सापराध होनेपर कोप करतीहै। तथा तीखी वक्रोक्तियों (फबतियों) को सुनाकर उसे चोट पहुंचाती है, और अधीरा कठोर बचन कहती तथा मध्या रोती हुई उपालम्भ देतीहै।[8]—

१. का० अ० १२।१३ २. नामिसाधु की टीका द्रष्टव्य। ३. का० अ० १२।१४, १५
४. वही २।१६ ५. वही १२।१७ ६. वही १२।१८
७. वही १२।१९, २० ८. वही १२।२१-२३

आत्मीयाप्रगल्भा नायिका रतिकर्ममें पण्डिता, समर्थ तथा व्यवहारदक्ष होतीहै । उसके मनमें सदा नायकभरा रहताहै । वह विलाससम्बन्धी सूक्ष्म विस्तारोंकी अभिज्ञ होतीहै । सुरत क्रीड़ामें उसे कोई घबड़ाहट नहीं होती और नायकके अंगोंसे ऐसे चिपकतीहै मानो विलीन हो गयी (द्रवतामिव याति) । सुरतमें उसे इतनाभी चेत नहीं रहताहै कि 'कोऽयम् काहम् किमेतदिति' । सापराधप्रियपर धीरा प्रगल्भा कुपित होकर अपने रुष्ट आकारको छिपाये उसका आदर करतीहै । अपने कोपको प्रकट नहीं होनेदेती, तथा एकान्तमें प्रियसे उदासीनही रहती है । मध्या प्रगल्भा साभिप्राय प्रियवचनोंसे प्रियको चोट पहुंचातीहै और अधीरा प्रगल्भा तो प्रियको डाँटतीभी है और मारती भी ।[1] मध्या और प्रगल्भाके ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दो भेद और होतेहैं, किन्तु मुग्धाके कोई अन्य भेद नहीं हैं, काव्योंमें इसीरूपमें इनकी प्रसिद्धि हैं[2] । काव्योंमें नायकका व्यवहार उन (ज्येष्ठा और कनिष्ठाओं)से दाक्षिण्य और प्रेमके साथही होता है । पुर्नविवाहिता तो, अक्षतयोनि होनेके कारण, आत्मीयाके मुग्धा भेदमें ही संगृहीतहै । इसे ही रुद्रभट्टने पुनर्भू भी कहा है । इसके विद्यमानभी भेद नहीं किये जातेहैं ।

परकीया—परकीयाके दो प्रकार होतेहैं—कन्या तथा परोढा । ये दोनों नायकको देखकर या सुनकर उसके प्रति तीव्र मदनभावसे भर जाती हैं । उनको नायकका दर्शन या तो साक्षात् होजाताहै या चित्रमें, या स्वप्नमें अथवा इन्द्रजालके द्वारा । इसीप्रकार नायकके विषयमें वे स्थानविशेष एवं कालविशेषमें सुनतीहैं ।[3] परकीया कन्या की कुछ विशिष्टतायें होतीहैं । कन्या नायकको देखकर न उसकी ओर देख सकतीहै, न बोलतेहुए नायकसे बोलसकती है, बल्कि सखीसे बात करेगी या सखी उससे बात करतीरहेगी । जब नायक उसे नहीं देखता होतातो उसे स्नेहभरे विकसित नेत्रोंसे एकटक देखतीहै । जब नायक दूरसे देख रहाहो उस समय किसी शिशुको गोदमें लेकर उसे चिपकातीहै । बिना किसीनिमित्तके हंसतीहुई सखीसे बड़े आदरके साथ कुछ यूंही वातें करतीहै । अपनेकिसी रम्य अंग (कुचबाहुमूलनाभिआदि) को किसी बहाने दिखातीहै । अथवा सखीद्वारा बिखेरे अपने केश, कर्णभूषण, काञ्चीआदिको संभालतीहै । बड़ी अदाओंके साथ मृदु चेष्टायें करतीहै ।[4] परकीया परोढा भी अनुरागवश उन सारी चेष्टाओंको करतीहै, जिन्हें कन्या करतीहै । किन्तु उसमें प्रागल्भ्य होताहै, अतः वह नायकके सम्मुख स्वयं मिलने जातीहै । नायकको देखनेमात्रसे वह आनन्दातिरेकसे भर जाती है, प्रस्नुतजघनस्थला एवं आर्द्रवसना होजातीहै । उससमय उसकेनेत्र एकटक होजातेहैं । कन्या में और अन्योढा में यहभी एक अन्तर है कि कन्या स्वयं नायकसे मिलने (अभियोग), चाहे कितनीभी मदनव्यथित क्यों न हो, कभी नहीं जाती । उसकी उस दुरवस्थाका निवेदन उसी की कोई स्नेहमयी सखी नायकसे करतीहै ।[5]

सर्वसक्ता अथवा वेश्या—वेश्या तो सबकी अङ्गना होतीहै । प्रेममें भी उसे धनकी चाह होतीहै । उसे न निर्गुणसे द्वेष होताहै और न गुणीसे राग । जिस पुरुषको गम्य समझतीहै

---

१. का० अ० १२।१४-२७ २. वही १२।२८ ३. वही १२।३०, ३१

४. वही १२।३२-३५ ५. वही १२।३६-३८

उसके साथ अनुरक्ता की भांति चिपककर उसे प्रसन्न करतीहै, और जब उसका सारा धन निचोड़ लेतीहै तो उसे धीरेधीरे निकालने लगतीहै।

रुद्रटके अनुसार स्वाधीनपतिकादि नायिकाभेद—इसके पश्चात् नमिसाधुने चौदह ऐसी कारिकाओंको उद्धृत कियाहै, जो नायिकाके स्वाधीनपतिकाआदि आठ भेद और बतातीहैं, तथा जिन्हें उन्होंने स्वयं 'प्रक्षिप्त' भी कहाहै। रुद्रटने भी और आठ अधिक भेद कियेहैं। उन्होंने सर्वप्रथम तो स्वकीया, परकीया, वेश्या—तीनोंके अभिसारिका और खण्डिता दो भेद किये। इस प्रकार वे छःप्रकारकी हुईं। फिर केवल स्वकीयाके स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका दो भेद किये और कुल मिलाकर आठ प्रकार हुए।[१] अभिसारिका वह है, जो दूती या दूत के साथ अथवा अकेलीही प्रियके पास संकेतित स्थानपर पहुंचती है।[२] पुरुषका अभिसरण तो नायकके प्रकारोंमें चलाजायगा, उससे नायिकाका प्रकार मानना कुछ विशेष उचित नहीं समझपड़ता। अभिसरणभी तीनोंका विभिन्न प्रकारका होताहै। जब वेश्या अभिसार करतीहै तो काञ्ची, नूपुरकी झनकार करतीहुई खुलेआम जातीहै, किन्तु जब स्वकीया या परकीया अभिसार करतीहै तो वृष्टिमें, अंधेरेमें अथवा चांदनीमें अपनेको छिपायेहुए जातीहै।[३] फिर, जिस नायिकाके निरवच्छिन्न प्रेम-प्रवाहको उसका प्रिय, किसी अन्य नायिकासे आसक्तिके कारण खण्डित करदे, उसे 'खण्डिता' नायिका कहतेहैं। उसकीबड़ी कहानियां होतीहैं।[४] और, जिसका प्रिय उसके अधीन प्रसन्न होकर उसके साथ क्रीडायें करताहै वह रतिलालसा एवं मण्डनलालसामें आसक्त स्वाधीनपति नायिका कहीजातीहै।[५] तथा प्रोषितपतिका वह है, जिसका प्रिय नियत या अनियत अवधिके लिए परदेश गयाहै, जायगा या जा रहाहै। हां, वह वापस आताहै अथवा आयेगा अवश्य।[६]

रुद्रभट्टका नायकनायिकाविवेचन प्रायः रुद्रटकाजैसाही हुआ है तथापि कुछ उनका अपना भी वैशिष्ट्य है—बादके आचार्योंने इस व्यवस्थाका अनुसरण अधिक किया है। उसका संक्षेपरूप कुछ इसप्रकार है:—नायकके तीन प्रकार—उत्तम, मध्यम तथा हीन (प्रायः भरत की भांति)। फिर स्त्रीसम्बन्धकी दृष्टिसे नायकके चार प्रकार—अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट (कुछकुछ भरतके चार चतुर, उत्तम आदिके आधारपर) हैं।

पुनर्भूनायिका—रुद्रभट्ट ने एक पुनर्भूनायिका का उल्लेख किया है। उसे मुग्धाके समानही स्वरूपवाली कहकर उसका पृथक् विवेचन आवश्यक नहीं बतायाहै[७]। वात्स्यायनने

---

१. का० अ० १२।४१ २. वही १२।४२ ३. वही १२।४३

४. वही १२।४४ ५. वही १२।४५

६. सा स्यात् प्रोषितपतिका यस्या देशान्तरंयातः।
नियतानियतावधिको यास्यति यात्येत्युपेष्यति च॥ —वही १२।४६

७. एकाकारामतामुग्धा पुनर्भूश्च यतोऽनयोः।
अतिसूक्ष्मतयाभेदः कविर्भिर्नप्रदर्शितः॥ —शृ० ति० १।४६

पुनर्भूका विवेचन अपने कामसूत्रमें कियाथा, किन्तु भरतादिने इसका उल्लेख नहीं किया था। वह केवल मुग्धाही क्यों? अक्षतयोनि अवस्थामें तो मुग्धा हो सकतीहै, किन्तु अन्य अवस्थामें तो वहभी मध्या प्रगल्भाही समझीजायगी। रुदभट्ट कीभी परकीया दो प्रकारकी होती है—कन्या तथा परोढा। वे नायकको देखकर या उसके विषयमें सुनकर उसके प्रति कामार्त (स्निग्ध) होजाती हैं। देखना तीन प्रकारसे होताहै—साक्षात्, चित्रमें तथा स्वप्नमें। और किसी विशेष स्थानपर अथवा विशेष समयमें ढंगसे सुनना होताहै।[1] रुद्रभट्टने इतनी विशेषता उसकी स्पष्ट कीहै कि कन्या मुग्धाही की कोटिकी होतीहै; अतः बहुत मदनव्यथित होकर भी प्रियके पास स्वयं जानेका साहस नहीं करती।[2] कन्याकी मुग्ध मनोहर चेष्टायें रुद्रटकीसी हैं।[3] रुद्रभट्टने स्वकीयादि तीनों नायिकाओंके भेदक तत्त्वकाभी उल्लेख कियाहै—स्वकीया का अपनापति सर्वथा उसका शरण होताहै, वह अनन्यशरणा होतीहै। पराङ्गना अपने प्रिय (Paramour)से केवल प्रेम चाहतीहै—धन नहीं। (इसीलिए परकीया प्रेमियोंको बड़ी जंचती है) और सामान्या तो केवल धन चाहतीहै—प्रेम आदि कुछ नहीं।[4]

सामान्यवनिता—सामान्यवनिता अथवा वेश्या का निरूपण शृंगारतिलक में कुछ अधिक विस्तारसे हुआहै, जिसका अनुसरण शारदातनयआदिने भी किया। वेश्या केवल धन चाहतीहै। इसे न निर्गुणसे विद्वेष न गुणीसे अनुराग। यहां एक प्रश्न उठताहै कि जब इसके प्रेममें रति नहीं तो वह शृंगाराभास कहलायेगा। (कुछ आचार्योंने ऐसाही मानाथा) अतः रुद्रभट्ट कहते हैं कि उनका भी कहीं कहीं अनुराग होता है। किन्तु धनके लिए वे अपने कृत्रिम भावोंसे ग्राम्यनायकको लुभा लेतीहैं। ब्रह्मचर्यवानप्रस्थआदिका बाना धारण करनेवाले(लिङ्गी) अपनी कामवासनाको समाजमें छिपानेवाले, अपने पुरषत्वकी ख्यापनावाले वस्तुतः नपुंसक, बिना मिहनतकी कमाई खानेवाले (चोरजुआरी आदि) तथा बापकी दौलतसे फूलेहुएआदि ऐसे ग्राम्यसुखलिप्सुओंको जानकर उनके धनको दुहकर अन्त उन्हें इसप्रकार छोड़ देतीहैं जैसे पहले कोई परिचयही नहीं था। वे मूर्ख इनकेलिए तड़पते रहतेहैं। किन्तु उनमें धनपरायणता होते हुए भी वे कलाकेलि में ऐसी कुशल होती हैं कि उनके साथ रमण करनेवाले उन वैशियोंको अन्य स्त्रियां भूलही जातीहैं, और उन्हें पूर्ण रतिआनन्द प्राप्त होताहै।[5] स्वीया (कुलाङ्गना)में नायकको ईर्ष्याकी उत्तेजना नहीं होती, परकीयामें निःशङ्क रतिक्रीड़ा नहीं हो पाती, किन्तु वेश्यामें ये दोनों ही वस्तुएँ मिलती हैं। इसीलिए तो उन्हें मदनसर्वस्व कहाजाता

---

१. शृ० ति० १।५०, ५१

२. नाभियुङ्क्ते स्वयं कन्या मुग्धात्वाहुःस्थितापि तम्। —वही १।६०

३. वही १।५३-५७

४. अनन्यशरणा स्वीया धनाहार्यपराङ्गना।
अस्यास्तु केवलं प्रेम तेनैषा रागिणां मता।
सामान्यवनितावेश्या सा वित्तं परमिच्छति। —वही १।६०, ६२

५. वही १।६४-६८

है ।[1] इसको भावप्रकाशनमें शारदातनयने अविकल उद्धृत कियाहै । इसी प्रसंगमें वेश्याके प्रति कुछ भावुक उक्तियां भी रुद्रभट्ट कहपायेहैं—क्रुद्ध रुद्रकी नेत्राग्निज्वालाने जिस कामको भस्म करदियाथा, उसे वेश्याकटाक्षोंने फिरसे जिलादिया । युक्तिपूर्वक सम्भालकर सेवन करनेपर वेश्यायें आनन्दप्रद होतीहैं, अन्यथा तो विनाशही कर डालतीहैं । स्वभावतः वे दुर्विज्ञेयरहस्य बनी रहतीहैं । इसीलिए वेश्याको विषसदृश कहाजाताहै ।[2]

प्रोषितपतिकादि भेद—रुद्रटने प्रोषितपतिकाआदि नायिकाओंका प्रकार कुछ अपने ढंगसे कियाथा । उन्होंने इनमेंसे केवल चारका उल्लेख कियाहै, किन्तु शृंगारतिलकमें रुद्रभट्ट ने ये प्रकार सभीके मानेहैं, जो एकप्रकारसे उनकी आठ अवस्थायें होतीहैं ।[3] अन्तर इतनाहै कि कलहान्तरिताके स्थानपर सन्धिता या अतिसन्धिता नाम रक्खा है[4] (नमिसाधुने जिसका उल्लेख किया है) तथा प्रोषितपतिकाके स्थानपर प्रोषितप्रेयसी । इनके लक्षण भी सब प्रायः भरत तथा कुछ यथासम्भव रुद्रटके अनुसारही हुएहैं ।[5] अन्ततः संकलन रूपमें नायिकाओंकी संख्या रुद्रभट्टके अनुसार इसप्रकार होगी—स्वीयाके तेरह, पराङ्गनाके दो तथा वेश्याका एक प्रकार । पुनः इन सोलहोंके आठआठ प्रकार । और फिरइन एकसौअट्ठाईसमें भी प्रत्येक के उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा तीनतीन भेद । इस प्रकार कुल भेद तीनसौचौरासी हुए ।[6] इनके अतिरिक्त जाति, काल, वय, अवस्था, भाव, मदन तथा नायक की दृष्टि से विवेचन करनेपर असंख्य भेद होसकतेहैं, किन्तु विस्तारके भयसे उन्हें नहीं प्रदर्शित कियागया ।

शृंगारनायिकाकी सखियां—शृंगाररस में नायिका की ये सखियां कहलाती हैं—कारु, (चित्रकलादिप्रवीण रंगरेजिन, धोबिनआदि) दासी, नटी, धात्री, पड़ोसिन, शिल्पिनी, बाला था प्रव्रजिता ।[7] सखीके ये गुण होतेहैं—कलाकौशल, उत्साह, भक्ति, चित्तज्ञता, स्मृति, माधुर्य, नर्मविज्ञान तथा वाग्मिता । उसके ये कार्य होतेहैं—विनोद, मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ, प्रसादन, संगम तथा विरहमें आश्वासन देना ।[8]

दशरूपकके अनुसार नायक-प्रकार—शृंगाररसका नायक प्रायः धीरललितही होताहै । उसका राज्यभार मंत्रियोंपर रहताहै अतः वह स्वयं निश्चिन्त होता है। गीतआदि कलामें प्रवीण, सुखी अर्थात् भोगप्रवण तथा शृंगारप्रधान होनेके कारण सुकु-

---

१. ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य निःशंककेलिर्नपराङ्गनासु ।
वेश्यासु चैतद्द्वितयं प्रसिद्धं सर्वस्वमेतास्तदहोस्मरस्य ।। —शृ० ति० १।६९

२. आनन्दयन्ति युक्त्याताः सेविताघ्नन्तिचान्यथा !
दुर्विज्ञेयाः प्रकृत्यैवतस्माद्वेश्याविषोपमाः ।। वही—१।७०, ७१

३. ता एवात्र भवन्त्यष्टाववस्थाभिःपुनः । —वही १।७३

४. वही १।७७ ५. वही १।७४-८६ ६. वही १।८७-८८

७. कारुर्दासीनटीधात्री प्रातिवेश्या च शिल्पिनी ।
बाला प्रव्रजिता चेति स्त्रीणां ज्ञेयः सखीजनः ।। —वही २।६५

८. वही २।६६, ६७

भार आचरणवाला एवं कोमलस्वभाववाला होताहै।[1] जैसे रत्नावली नाटिकामें[2]—"राज्यके सारेशत्रु जीतेजाचुकेहैं। राज्यैशासनका भार सुयोग्य मंत्रीको सौंप दियागयाहै। प्रजा सुपालित एवं सुप्रसन्न है। उसके सारे उपद्रव शान्त हैं। वसन्त ऋतु आईहै। प्रद्योतपुत्री (वासवदत्ता) है। तुम हो। मेरे प्रेम(काम)को सर्वथा सन्तोषहै। मेरेलिए यह महान् उत्सवकी बेला है।"—इस प्रकार उदयन एक टकसाली धीरललित नायक चित्रित हुएहैं। नल, उदयन, श्रीकृष्णआदि कुछ नायक संस्कृतकाव्योंमें शृंगारकी दुनियाँके राजा मानेगयेहैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शृंगारका नायक केवल धीरललितही होताहै। ललित, शान्त, उदात्तआदि तो नायक का स्वभाव होताहै। मालतीमाधव, मृच्छकटिक, नागानन्दआदिके नायक शान्तउदात्तरूपही हैं। क्योंकि नायकके विनय, माधुर्यआदि, जो सामान्य गुण कहेगयेहैं, उनका रहना तो परमावश्यक है। उनमेंही लालित्य, शान्तिआदि गुणोंके अतिशय उद्रिक्त होनेपर ये चार प्रकार हो जातेहैं। अतः धीरललितआदिमें शृंगारआदि रसोंकी एकान्तनिष्ठा नहीं समझनीचाहिये, वे केवल बाहुल्यके द्योतक होसकतेहैं। अतएव भरतने शृंगारनायकके भी उदात्तादि चारों प्रकार बतायेथे। धनंजयके अनुसार दक्षिण, शठ और धृष्ट ये तीन अवस्थाभेद उस शृंगारी नायक के हैं, जिसकी एकसे अधिक नायिकाएँ हैं। और ये तीन प्रकारके रूप (क्रमशः) ज्येष्ठानायिका के प्रतिही होतेहैं, नवीनाको तो वह अपना निर्व्याज स्नेहभाव सर्वथा समर्पितकरही देताहैं। इसीप्रसङ्गमें धनंजयने नायकका एक वह प्रकारभी बतायाहै, जो 'अनुकूल' कहाजाताहै। इस नायककी केवल एकही नायिका होतीहै। किन्तु धनिकने बहादुर नायकको भी जबतक अन्य नायिकासे उसका अनुराग नहीं प्रारम्भ होता 'अनुकूल' कोटिमें रक्खाहै। फिर तीनों अवस्थायें भी (क्रमशः) उसीकी होतीहैं। कभीकभी बहादुरभी नायक ज्येष्ठाके प्रति सदा दक्षिणही रहता है, उदाहरणार्थ—रत्नावलीआदि नाटिकाओंके नायक वत्सराज उदयन। कामदेवपूजातक तो वत्सराज अनुकूलकोटिके नायक हैं। इसके पश्चात् दूसरी नायिकासे प्रेम होनेपर वे दक्षिण कोटिके होजातेहैं। यद्यपि यह आपत्ति कीजासकतीहैकि पहले वत्सराजका छिपछिपकर रत्नावलीसे प्रेम करनेमें तथा फिर पता चलजानेपर व्यक्तरूपसे प्रेम करनेपर उनका वासवदत्ताके प्रति क्रमसे 'शठ' एवं 'धृष्ट' रूप भी मानाजासकताहै। किन्तु इसका समाधान वत्सराजके व्यवहारसेही होजाताहै—रत्नावलीनाटिकाकी समाप्तितक वासवदत्ताके प्रति उनका व्यवहार सहृदयतापूर्णही रहताहै, अतः वे अन्यानुरागी होनेके कारण चाहे भले वासवदत्ताके विप्रियकारीहों, किन्तुहैं दक्षिणही, 'शठ' या 'धृष्ट' नहीं।[3] और एकनायकका अपनीज्येष्ठा कनिष्ठा अनेक नायिकाओंके प्रति स्नेहका होना प्रायः महाकविप्रबन्धोंमें वर्णित हुआहै—जैसे 'स्नाता तिष्ठति' इस पद्यमें बिना किसीविशेषके प्रति पक्षपात किये सभीके प्रति प्रायः तुल्यस्नेहनिबन्धन दिखाया गया है।[4]

---

१. द० रू० २।३

२. राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवेन्यस्तः समस्तोभरः—इत्यादि ।रत्नावली १ अङ्क

३. अवलोक ४. वही

कन्याको अन्या या अन्यस्त्री(परकीया) इसलिए कहाहै कि वह विवाहके पूर्व पिताभाई आदिके अधीन होतीहै। अतः सुलभ नहीं होती। संस्कृतप्रबन्धकाव्योंमें परोढाप्रेमका चित्रण नहीं करते, क्योंकि वह समाजके जीवनआदर्श एवं मर्यादाके प्रतिकूल पड़ताहै। किन्तु वस्तु-स्थितिकी भी उपेक्षा नहीं कीजानीचाहिए। लोकमें परकीयाप्रेमी देखाजाताहै। अतः कवियोंने कभीकभी मुक्तक (फुटकल) पद्योंमें परकीयाके प्रेमकी भी झांकी दीहै। कन्याप्रेमका प्रबन्धके प्रधान तथा गौण दोनों रूपमें वर्णन कियाजा सकताहै।[1] किन्तु कन्याप्रेम हमेशा छिपछिपकरही होताहै, क्योंकि एकतो कन्याके अभिभावकोंका भय होताहै, दूसरे नायकको अपनी ज्येष्ठा नायिकाका भय होताहै। अभिभावकभयसे प्रच्छन्न कन्याप्रेमका उदाहरण मालती-माधवमें मालतीके प्रति माधवका प्रेम है, तथा ज्येष्ठाभयसे प्रेमका उदाहरण रत्नावलीमें साग-रिकाके प्रति वत्सराजका प्रेम है। किन्तु कन्याप्रेमका वर्णन करते समय इतना अवश्य ध्यान रखना पड़ताहै कि अन्तमें उन दोनोंको पतिपत्नीके रूपमें सम्बद्ध करायाजाय अर्थात् उस प्रेमकी परिणति विवाहके रूपमें होनीचाहिए।

धनंजयने तीसरे प्रकारकी नायिका साधारणस्त्री या गणिका कहीहै, जो संगीतनृत्यादि कलामेंचतुर, प्रगल्भ एवंधूर्त होतीहै। धनंजयने इसकाविशेष विवेचनकरना आवश्यक न समझा, क्योंकि वह वात्स्यायन तथा भरतआदिके ग्रन्थोंसे विशेष विस्तारके साथ जाना जासकताहै। हां, संक्षेपमें इतना बता दिया कि गणिकाका प्रेम किनसे और कैसा होताहै—जो लोग छिपकर कामतृप्ति करना चाहतेहैं (जैसे वेदपाठी, श्रोत्रिय, बनिये, संन्यासीआदि), जो बिना प्रयासके धन पा जातेहैं तथा सुखकी अभिलाषा रखतेहैं, मूर्ख, स्वतन्त्र या निरंकुश, अहंकारी तथा षण्डक अर्थात् नपुंसकआदि। इन लोगोंके साथ गणिका ऐसे व्यवहारकरतीहै, मानों उनसे सचमुच प्रेम करतीहै, किन्तु तभीतक जबतक उनकेपास पैसाहै। और जब उन्हें भली प्रकार दुहलेतीहै तो अपनी मां या अन्य किसीके द्वारा उन्हें घरसे निकलवादेतीहै।[2] प्रहसन के अतिरिक्त प्रकरण आदिमें तो इसको नायकविशेषसे अनुरक्तारूपमेंही दिखातेहैं (जैसे—मृच्छकटिकमें वसन्तसेना चारुदत्तके साथ अनुरक्त कहीगयीहै) किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखाजायतो मृच्छकटिकमें वसन्त-सेना केवल जन्म या नामभरको गणिकाहै। उसका व्यापार तो अन्य कुलीन महिलाकीही भांति दिखाया गयाहै। प्रहसनमें गणिका अनुरागशून्यही दिखायीजातीहै, किन्तु जब नाटकका नायक कोई दिव्यकोटिका पुरुष हो, अथवा राजा हो, तो वहां गणिकाके प्रेमका निबन्धन नहीं करना चाहिए।[3]

भरतने वासकसज्जाआदि आठप्रकारकी नायिकायें बताईथीं। धनंजयने उनकी आठों को अपनातेहुए पूर्वोक्तप्रकारकी नायिकाओंके ये आठअवस्थाभेद कियेहैं। भरतने भी नाटकके

---

१. अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसेक्वचित्।
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्याद्ङ्गाङ्गिसंश्रयम्॥ —द० रू० २।२०-२१

२. वही २।२२

३. रक्तैव त्वप्रहसने, नैषादिव्यनृपाश्रये। —वही २।२३

नायिकाओंकी ये आठ अवस्थायेंही बताईथीं ।[1] किन्तु धनंजयका विवेचन थोड़ा व्यवस्थित समझ पड़ताहै । उनका कहनाहै कि पूर्वोक्तोंकी स्वाधीनपतिकाआदि आठ अवस्थायें होतीहैं ।[2] पूर्वोक्त स्वान्याआदि भेदका इन आठ प्रकारोंसे क्या सम्बन्धहै तथा इनकी संख्या आठही क्यों मानी जाय, कुछ कम ज्यादा क्यों नहीं होसकती, इत्यादि विषयपर धनिकने बड़ा युक्तिपूर्ण विवेचन कियाहै । "स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका ये आठ स्वीयाआदिकी अवस्थायेंहैं । वैसे तो नायिकाओंके पूर्वोक्त भेद (मुग्धामध्याआदि) भी अवस्थाकेही द्योतक हैं, किन्तु इनका अवस्था नाम इसलिए दियागयाहै कि पूर्वोक्त अवस्थाओंको धर्मी मानलिया गयाहै, और इनको धर्म । अब जैसे गुण गुणीमें रहताहै तथा जैसे विशेषण विशेष्यके साथ सम्बद्ध होताहै, उसीप्रकार ये स्वाधीनपतिकाआदि अवस्थायें मुग्धामध्याआदिकी होतीहैं । और ये अवस्थायें आठही होतीहैं । इनमें किसीका किसीदूसरीमें अन्तर्भाव नहीं होसकता, जैसे—वासकसज्जा और स्वाधीनपतिका एक नहीं मानी जासकतीं, क्योंकि स्वाधीनपतिकाका पति उसके पास होताहै, जबकि वासकसज्जाका पति नायिकाके समीपमें नहींहोता । वासकसज्जा प्रियकी प्रतीक्षा में साजसज्जासे विभूषित होतीहै । उसकापति आनेवाला होताहै, इसप्रकार वह एष्यत्प्रिया है । अब यदि एष्यत्प्रियाको भी स्वाधीनपतिका मान लियाजाय तो फिर प्रोषितप्रिया भी अलग भेद न माना जानाचाहिए । हमारेपास देशकालके व्यवधानकी दूरी नापने का कोई मापदण्ड नहीं, जिससेकि हम अमुक दूरी रहनेपर आसत्ति कहें और अमुक दूरीपर दूरस्थता । इसीप्रकार खण्डिता भी एक स्वतन्त्र भेदहैं, क्योंकि खण्डिता वही है न, जिसके प्रियके अपराधका पता लगजाताहै । अतः वह नायिका जिसके प्रियके अपराधका पता नहीं चलता, अर्थात् जो अविदितप्रियव्यलीका है, वह खण्डिता नहीं कहलासकती । जो नायिका किसी नायकके साथ रतिक्रीड़ामें प्रवृत्त है, या भोगेच्छासे युक्तहै, उसे प्रोषितप्रिया नहीं कहाजासकता । और वह अभिसारिका का नहीं कहीजासकतीहै, क्योंकि न वह स्वयं नायकके पास जातीहै और न नायकको अपने पास बुलातीहै । इसीप्रकार उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता)भी पूर्वोक्त स्वाधीन-पतिका, वासकसज्जा, प्रोषितप्रिया, खण्डिता या अभिसारिकासे भिन्न है । जो नायिका नायक के आनेके उचितसमयके व्यतीतहो जानेपर उसके न आनेसे व्याकुल रहतीहै, वह वासकसज्जा नहीं मानीजासकती । उसे विरहोत्कण्ठिताही माननाहोगा । इसीतरह विप्रलब्धाका प्रिय आने का वादा करकेभी नहीं आयाहै, इसप्रकार यहां प्रतारणाकी अधिकता पाईजातीहै । अतः विप्रलब्धा वासकसज्जा तथा उत्कण्ठिता दोनोंसे भिन्नहै । खण्डिता नायिका अपने प्रियके पर-नारीसम्भोगरूप अपराधको जान जातीहै । कलहान्तरितामें भी यह बात तो खण्डिताके समान ही पाईजातीहै, किन्तु वह नायकके अनुनय विनय करने परभी नहीं मानती है, न प्रसन्न होती है, किन्तु बादमें जब नायक चलाजाताहै तो पश्चात्तापके कारण प्रसन्न होजातीहै । इसप्रकार

---

१. आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रयाः । —ना० शा० २४।२१३

२. आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ।—द० रू० २।२३

कलहान्तरिता भी खण्डिता से भिन्न सिद्ध होती है। अतः यह सिद्ध होताहै कि नायिकाओंकी आठही अवस्थाएँ होती हैं।

भरतने बड़े विस्तारके साथ इन आठों अवस्थाओंकी नायिकाओंमें प्रत्येकके स्वभाव एवं शैलीके व्यंजक चिंता, निश्वासआदिके अभिनयका भी 'कामतन्त्र' नामसे निरूपण किया है। धनञ्जयने उसीको संक्षेपमें इसप्रकार आठोंकी एकएक चेष्टाका उल्लेख कियाहै, जिनमें छः तो दुःख या क्लेशरूप होनेके कारण अभूषण, कही जासकतीहैं और दो भूषणरूप। इनका क्रम इस प्रकार है—

स्वाधीनपतिका	—	क्रीडोज्ज्वल्य	भूषण
वासकसज्जा	—	प्रहर्षित	
विरहोत्कण्ठिता	—	चिन्ता	अभूषण
खण्डिता	—	निःश्वास	
कलहान्तरिता	—	खेद	
विप्रलब्धा	—	अश्रु	
प्रोषितप्रिया	—	वैवर्ण्य	
अभिसारिका	—	ग्लानि[1]	

फिर धनिकने स्वकीया, परकीयाआदिकी स्वाधीनपतिकाआदि आठ अवस्थाओं की व्यवस्थाका विवेचन कियाहै। स्वकीयाकी तो ये आठों अवस्थायें हो सकतीहैं, किन्तु कन्या तथा परोढा-रूप परकीया नायिका संकेतस्थलपर प्रियसे मिलनेके पूर्व विरहोत्कण्ठिताकी, तथा बादमें विदूषक, दूती, सखीआदिके साथ प्रियके पास छिपकर जानेके कारण अभिसारिकाकी कोटिमें आती है। कभी नायक संकेतस्थलपर नहीं आपाया तो वह विप्रलब्धा होजातीहै। इस तरह परकीया नायिकाकी तीनही अवस्थाएँ होतीहैं, आठ नहीं। इसका प्रिय स्वाधीन नहीं होता अतः दूसरी अवस्थाएँ इसमें नहीं पाईजासकतीं। परकीया नायिकाको प्रियके समागम न होनेके पूर्व ही प्रियके दूरदेशस्थ होनेपर, प्रोषितप्रिया नहीं मानाजायगा, क्योंकि वह उसका उत्कण्ठित रूपही है, अतः वह उत्कण्ठिताही मानी जायगी, क्योंकि अभी तक उसे प्रिय प्राप्त नहीं होसकाहै, तथा उसके अधीन नहींहै।

रतिका आलम्बनविभाव नायक—भोजने श‍ृंगारप्रकाश के पन्द्रहवें प्रकाश में रति भावका विस्तारके साथ विवेचन कियाहै। इस प्रकाशमें आलम्बन विभाव तथा नायकनायिका का सविस्तर वर्णन कियागयाहै। यह विषय स०कं० में भी संक्षेपमें उल्लिखित है। ये विषय प्रायः भरतके अनुसार हुएहैं। विभाव दोप्रकारके होतेहैं—आलम्बन तथा उद्दीपन। आलम्बन दो प्रकारके होतेहैं—नायक और नायिका। नायकके चार प्रधान प्रकार होतेहैं—धीरोदात्त,

---

१. चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षिते॥ —द० रू० २।२८

धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त (शृ० प्र०, पृ० ८५)। फिर ये चारप्रकारके नायक भी गुण, प्रकृति, प्रवृत्ति और परिग्रहके अनुसार अनेकप्रकारके होतेहैं। गुण महाकुलीनताआदि चौबीस कहे गयेहैं।[1] इन गुणोंकी दृष्टिसे मनुष्योंको उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन कोटियोंमें विभक्त कियागयाहै।[2] प्रकृतिके अनुसार तीनप्रकारके—सात्त्विक, राजस तथा तामस ;[3] प्रकृतिकेअनुसार चार प्रकारके – शठ, धृष्ट, अनुकूल तथा दक्षिण;[4] परिग्रह अर्थात् पत्नियोंकी दृष्टिसे दो प्रकारके—साधारण तथा अनन्यजानि (या असाधारण);[5] धीरताकी दृष्टिसे चार प्रसिद्ध प्रकारके—उद्धत, ललित, शान्त तथा उदात्त[6] नायक बतायेगयेहैं। इन पूर्वोक्त प्रकारोंसे नायकका परिगणन करनेपर कुल संख्या एकसौचार होतीहै (उदात्त आठ, उद्धत चौवालिस, ललित चौवालिस, तथा प्रशान्त आठ)।

रतिका आलम्बनविभाव नायिका—इसीप्रकार नायिकाओंके भी अनेक दृष्टियोंसे प्रकार किये गयेहैं—गुणकी दृष्टिसे नायिका उत्तम मध्यम और अधम तीनप्रकार कही गयीहैं। अवस्था और कौशलकी दृष्टिसे उसके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा ये तीन प्रकार बतायेगयेहैं।[7] इसीप्रकार धैर्यके विचारसे धीरा और अधीरा ; परिग्रह (पत्नी) रूपमें स्वा और अन्यदीया ; विवाहके विचारसे ऊढा और अनूढा ; क्रमकी दृष्टिसे ज्येष्ठा तथा कनीयसी; मानकी मात्रासे उद्धता, उदात्ता, शान्ता और ललिता; वृत्ति (चरित्र)की दृष्टिसे सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी; जीविका (आजीव) के विचारसे गणिका, रूपाजीवा और विलासिनी; तथा अवस्था (परिस्थितिकी दृष्टिसे) खण्डिताआदि प्रसिद्ध आठप्रकारहैं—खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रोषितभर्तृका तथा विरहोत्कण्ठिता। फिर खण्डिताआदि आठोंके लक्षण प्रायः भरतआदि जैसे ही दिये गयेहैं। और अन्तमें सब जोड़कर बत्तीस प्रकारकी नायिकायें बताई गईहैं।

इस प्रसंगमें शृ०प्र० के विवेचनमें कुछ अन्तर समझ पड़ताहै। वहां पहले तो चार भेद किये गये—स्वकीया, परकीया, पुनर्भू तथा सामान्या। फिर प्रथम दो(स्वकीया और परकीया) के उत्तमा, मध्यमा भेद किये गयेहैं। पुनर्भूके अक्षता, क्षता, यातायाता तथा यायावरा ये चार भेद किये गयेहैं। सामन्याके ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या ये पांच प्रकार बतायेगयेहैं। वेश्याके तीन प्रकार होतेहैं गणिका, विलासिनी और रूपाजीवा। इन विभिन्न भेदोंको मिलादेनेसे स्वकीया एक सौ तैंतालीस प्रकारकी होतीहैं। काव्यनाटकों तथा लोकमें भी विभिन्न प्रकारकी नायिकाओंकी चेष्टाओं एवं स्वरूपों को देखकर ही सम्भवतः भोजने इस

---

१. सरस्वती कण्ठाभरणमें तो बारह गुण गिनायेगयेहैं। —स० क० ५।१२२, १-३

२. वही ५।१०७ ३. वही ५।१०७ ४. वही ५।१०९

५. वही ५।१०८ ६. वही ५।१०६ ७. शृ० प्र० १३६

निरूपणमें इतना विस्तार कियाहै। भोजका वैशिष्ट विभिन्न दृष्टियोंसे व्यवस्था करनेमें समझना चाहिए। भोजने भी शृंगारप्रकाशमें वात्स्यायनकी भांति स्वकीयाकी प्रशंसा कीहै।[1] परकीयाके भी इसीप्रकार एकसौतैंतालीस भेद तथा उदाहरण दियेगयेहैं तथा पुनर्भू और सामान्या के भी यथासम्भव उत्तमादिभेद किये गयेहैं। फिर खण्डिताआदि आठ भेद, जिनका निरूपण सरस्वतीकण्ठाभरणमें हुआहै, शृंगारप्रकाशमें भी कहे गयेहैं, किन्तु उनके क्रममें अन्तर है, जो इस प्रकारहै—वासकसज्जा, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रोषितपतिका, विरहोत्कण्ठिता तथा स्वाधीनपतिका। इसप्रकार पन्द्रहवें प्रकाशमें उन्होंने आलम्बनविभावके नायकनायिका दोनों पहलुओंका विवेचन समाप्त कर दियाहै। इसप्रकाशका नाम ही भोजने रत्यालम्बनविभावप्रकाश दियाहै।

रति के उद्दीपनविभाव—फिर शृ० प्र० के सोलहवेंप्रकाश में उद्दीपनविभावका विवेचन है। सरस्वतीकण्ठाभरणमें इसका केवल कुछ अंश ही अतिशय संक्षिप्त रूपमें कहागयाहै। शृंगारप्रकाशमें ऋतु, देश, काल, कलाआदिका भूयान् विस्तार किया गयाहै। ऋतुएँ—संख्यासे छः हैं। प्रत्येककी चार अवस्थाएँ—सन्धि, उत्पत्ति (राजशेखर ने इसे 'शैशव' कहा है), प्रौढ़ि, अवसिति (राजशेखरने उसे अनुवृत्ति कहा है)। फिर छहोंकी चारों अवस्थाओंके उदाहरण दिये गयेहैं। माल्य, अङ्गरागआदि अन्य उद्दीपनोंका भी उदाहरण दिया गयाहै। देश में ग्राम, पत्तन (नगर), उपवन, पर्वत, सरित्, सागरादिका उदाहरण प्रस्तुत किया गयाहै। कालमें—रात्रिआदिका। भोजने इन पूर्वोक्तोंकी प्रशंसा की है और फिर आगे उद्दीपन रूपमें कलाओं का विचार कियाहै। चौंसठ कलाएँ (चतुष्षष्टि कला) मूल कलाएँहैं। उन्हें इन वर्गोंमें बांटा है—चौबीस कर्माश्रय कलाएँ, बीस द्यूताश्रय कलाएँ (जिनमें पन्द्रह निर्जीव तथा पांच सजीव), सोलह शयनोपचारिकी और चार उत्तरकलाएँ। इनके अतिरिक्त बहुसंख्यक अन्य भी अवान्तर कलाएँ हैं, जिनका विवेचन कलाविषयक ग्रन्थोंमें हुआहै। भोजका कहनाहै कि ग्रन्थ गौरवके डरसे हम उनका विवेचन नहीं कर रहेहैं (१) भोजने कलाओं के विवेचनमें कामसूत्र की जयमंगलाटीकाका ही प्रायः अनुसरण कियाहै—कामसूत्रका भी नहीं।[2] तदनन्तर उद्दीपनों में चार वयः या अवस्थाओंका सोदाहरण निरूपण कियाहै। वह है सन्धि, उत्पत्ति, प्रौढ़ि एवं अतिप्रौढि। फिर वयस्योपदेश, सन्देश, उपचार, दैवसम्मत और उपचारस्मरणका विवेचन कियगयाहै। भोजने अपने इस उद्दीपनविवेचनको सर्वथा पूर्ण नहीं कहाहै—हो भी कैसे सकता था। ऋतुओं का यह वर्णन तो शृंगाररसका जीवक है।

नायक—भोजने कामशृंगारनायक धीरललितके चौवालीस प्रकार या भेद बताये हैं। फिर लालित्य पदकी व्याख्या कीहै, जो उसके चित्तका वैशिष्ट्य है तथा जो उसकी सारी चेष्टाओं को प्रभावित करताहै। अन्य नायकोंकी भांति धीरललितके सभी गुणोंका उल्लेख

१. श्रुतिप्रवृत्तिर्धर्मः तथार्थोपत्यलक्षणः।
प्रायोविस्रम्भजः कामः स्वकीयास्वेवतिष्ठति ॥ शृ० प्र०

२. का० सू० १।३।१५, पृ० २८, २९

कियाहै । फिर उत्तम, मध्यम् तथा कनिष्ठ नायकोंसे सम्बद्ध उन्चास भावोंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । धीरललितके गुण लक्षणसहित दो वर्गोंमें इसप्रकार विभक्त हैं— प्रथम वर्गमें अभ्युदयादिसे प्रमोद, शोकादिसे वैक्लव्य, व्यसन (कष्ट, विपत्ति) आदिसे दीनता, विलासों में तथा व्यसनों (लतों) में अभिनिवेश (शौक) विषयों के प्रति अत्यासक्ति, धर्म तथा अर्थ के प्रति नात्यादर, व्यर्थ के लोगों का संसर्ग, हंसीमजाकमें प्रवृत्ति (रुचि), शरीर की भी अपेक्षा न करना, सर्वनाश होजाने पर भी अननुतापभाव, सुलभवस्तुओंके प्रति अपमानभावना, दुर्लभ वस्तुओंके प्रति आकांक्षा, अपने वर्णन (प्रशंसा) में उत्कर्ष, चाटुबोलनेमें प्रगल्भता, जात्यादिके कारण अभिमान हैं । द्वितीय वर्गमें आठ विशेष गुण दिये हैं—सुवेषता, संप्रियता, यौवन, स्थूललक्षता (वदान्यता) प्रियंवदता, लालित्य, माधुर्य तथा दृढ़भक्तिता ।

मोक्षशृंगारमें नायिका स्वकीया तथा नायक धीरप्रशान्त होता है । फिर धीरप्रशान्त के गुणोंका दोवर्गोंमें सविस्तर निरूपण कियागयाहै—विशेष गुण—क्षमा, वशित्व, सन्तोष, प्रशम, शौच, आर्जव, वैशारद्य, तथा वैराग्य ।

नायकनायिकाके प्रकारगुणआदि—भोजके नायक, प्रतिनायक, उपनायक एवं अनुनायक—इनचारोंमें प्रत्येक धीरोदात्तआदि चार प्रकारोंमें विभक्त होनेके कारण उनकी कुलसंख्या सोलह बताईगईहै । नायिकाभी (नायककी ही भांति) नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका और अनुनायिका पहले चार प्रकार की, फिर उदात्ता, उद्धता, ललिता और शान्ता चार प्रकार से सोलह प्रकारकी बताईगई है । फिर नायकके जातिअन्वयआदि गुणोंका पुनः सोदाहरण विवरण दियागयाहै । नायिकाके इन सोलह गुणोंका भी उल्लेख किया गयाहै—महाकुलीनता, रूपसम्पत्ति, यौवन, सुवेषता, सौभाग्य, शुचिता, शीलसम्पत्, प्रियंवदता, चातुर्य, वाग्मिता, शास्त्रज्ञान, अदीनवाक्यता, अविकत्थनत्व, मानिता, कृतज्ञता, दृढ़भक्तित्व ।

शृंगारके आलम्बन—शारदातनयने प्रत्येक रसके विभावोंका अलग-अलग नामकरण कियाहै, उनमें शृंगाररसके विभावोंको 'ललित' तथा हास्यरसके 'ललिताभास' संज्ञा दी है ।[1] शृंगारके ये ललितसंज्ञक विभाव इन्द्रियोंके विषय बनकर मनको आह्लाद देतेहैं तथा शृंगारोत्कर्षके साधक होतेहैं । इसप्रसंगमें शारदातनयने प्रत्येकरसके आलम्बनविभावोंका विशिष्टरूपसे उल्लेख भी करदियाहै—यद्यपि इसप्रकारका उल्लेख अन्य आचार्योंने नहीं कियाहै, क्योंकि कभीकभी ऐसाभी देखागयाहै कि कोई एक पदार्थ किसीके लिए एक भावका आलम्बन बनताहै, वही दूसरेकेलिए दूसरे भावका । यही हाल अनुभावों तथा संचारियोंका भी है, अतएत भरतके रससूत्रमें रससिद्धिकेलिए सब मिलकर एक पदसे निर्दिष्ट हुए हैं ।[2]

---

१. ललितालिताभासा भावाः शृंगारहास्ययोः । भा० प्र० १।४

२. जैसाकि आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—
व्याघ्रादयोविभावा भयानकस्येववीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयो अनुभावाः शृंगारस्येव करुणभयानकानाम् इति पृथग्अनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टा । —का० प्र०

किन्तु शारदातनयने सभी रसोंके आलम्बनोंका पृथक्‌पृथक् विशिष्ट रूपसे उल्लेख किया है। उनमें श्रृंगाररसका आलम्बनरूप यौवनभरी मधुर तथा सुकुमार युवतियां अथवा युवक होतेहैं।

नायकके भेद—नायक तीन प्रकारका होताहै—ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ। उनमें सब गुणोंसे युक्त नायक ज्येष्ठ कहलाताहै, दोतीन या पांचछः गुणोंसे हीन मध्यम तथा बहुत अधिक गुणोंसे हीन अधम कहलाताहै।[1] फिर धीरोदात्तादि क्रमसे नायक चार प्रकारके माने गये हैं—धीरललित, धीरशान्त, दीरोदात्त तथा धीरोद्धत। इनमें किसीमें आभिगामिक गुण अधिक होतेहैं, सांग्रामिक कम, किसीमें सांग्रामिक अधिक होतेहैं, आभिगामिक कम। इनमें 'ललित' वह नायकहै जो राजभोगोंके विषयमें सचिन्त रहे, यौवन की पूर्णतासे सुशोभित हो, विलासी रतिप्रिय तथा भोगरसिक हो।[2] 'शान्त' वह है, जो कलासक्त, क्षमायुक्त, कहींकहीं गम्भीर तथा कहींकहीं ललितआदि गुणोंसे युक्त होता है।[3] 'उदात्त' वह है, जो महासत्त्व, अतिगम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढाहङ्कार तथा दृढ़व्रत हो।[4] और आत्म-श्लाघी, चंचल, प्रचण्ड, मायाशील, छद्मपरायण, मात्सर्यवाला तथा अहङ्कारी नायक धीरोद्धत कहाजाताहै। इनमें श्रृंगारी 'ललित' नायककी यह विशेषता होती है कि वह संगीत तथा अन्तःपुरमें आसक्त होताहै। युद्धादिमें उसकी बड़ी आस्था नहीं होती। उसकी कार्यसिद्धि अमात्यके अधीन होतीहै।[5] फिर श्रृंगाररस की अपेक्षासे उन नायकोंका नायिकाओंके प्रति व्यापारोंके अनुसार अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—ये चार प्रकार होतेहैं।[6] ये इस प्रकार सोलहभेदवाले नायक प्रत्येक ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ भेदसे तीनतीन प्रकार के होतेहैं और कुल नायकसंख्या अड़तालीस हो जाती है।[7]

उपनायक तथा अन्य सहायक—पताकानायकको उपनायक कहतेहैं। वह नायक का ही भक्त तथा अनुचर होता है और उससे गुणों में कुछ घटकर होता है।[8] नायक के कामसचिव पीठमर्द, विट, विदूषक तथा सखीआदि परिवारजन होतेहैं।[9] फिर विटविदूषक पीठमर्द आदिका वही रूप बतायागयाहै, जो प्रायः पूर्वके आचार्योंने बतायाथा। इन नायक-नायिकाओंके परस्पर विषयमें दूतीका कार्य येलोग करतेहैं—कथिनी, लिङ्गिनी, दासी, कुमारी, कारुशिल्पिनी, पाषण्डिनी, प्रातिवेश्या (पड़ोसिन), सखी, रङ्गोपजीविनी, धात्रेयिका तथा प्रेक्षणिका।[10] फिर कैसे व्यक्तिको दूत या दूती न बनाये, दूतके क्या गुण अपेक्षित हैं, तथा कहां प्रथममिलन उचित है आदिका निर्देश कियागयाहै।[11]

---

१. भा० प्र० ४।९१-९२
२. वही ४।९२
३. वही ४।९२
४. वही ४।९२
५. वही ४।९२, ९३
६. वही ४।९३-९४
७. वही ४।९३
८. वही ४।९३
९. वही ४।९३
१०. वही ४।९४
११. वही ४।९४

नायिकाभेद—नायिकाके भी पहले तो स्वीया, अन्या, साधारणा तीन भेद किये गये।[1] इनमें स्वीयाके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा ये तीनप्रकार होतेहैं।[2] मध्याके अधीरा, धीरा तथा धीराधीरा ये तीन भेद किये गयेहैं।[3] प्रगल्भाके ज्येष्ठा, मध्यमा तथा कनिष्ठा ये तीन प्रकार होतेहैं।[4] फिर इन दोनों (मध्या तथा प्रगल्भाके) उदात्त, ललित और शान्ति (शान्त) ये तीन भेद हुयेहैं।[5] अन्या नायिका दोप्रकारकी होतीहै—ऊढा तथा कन्यका।[6] और साधारणस्त्री गणिकाको कहतेहैं, जो एक ही प्रकारकी होती है, उसके भेद नहीं होते।[7] इस प्रकार स्वीया की तरह, अन्याके दो तथा साधारणा (वेश्या) के एक प्रकार होतेहैं।[8] फिर खण्डितेत्यादिअवस्थाभेद से उनके आठ प्रकार और होतेहैं, तथा उत्तम, मध्यम, अधम रूपसे सबके तीन-तीन प्रकार और अधिकहैं। इस प्रकार कुल योग (१६ × ८ × ३ = ३८४) तीन सौ चौरासी होताहै। शारदातनयने यह मत रुद्रटाचार्य (रुद्रभट्ट) के अनुसार दिया है।[9]

शारदातनयने कुछ मनीषियोंके मतसे अन्या (परकीया)के केवल तीन भेदका भी उल्लेख कियाहै। उनके अनुसार प्रथमअवस्थामें परकीया विरहोन्मना होतीहै, फिर (दूसरी अवस्थामें) अभिसारिका होकर प्रियसे संकेतस्थलपर मिलतीहै और (तीसरी अवस्थामें) जब संकेतमें प्रिय नहीं मिलता तो विप्रलब्धा बनतीहै। पराधीन होनेके कारण परकीयाकी अन्य अवस्थाएँ होती ही नहीं।[10] यदि कोई स्त्री अपने सच्चरित्रको त्यागकर चिरकाल तक एक पुरुषका सहवास करे तो वह स्त्री भी अन्या (परकीया) होजातीहै, और इसप्रकारकी गणिका भी अन्या (परकीया) ही कहलातीहै[11]।

साधारणस्त्रीविवेचन—साधारणस्त्रीको ही गणिका कहतेहैं। वह परकीय धन चाहतीहै। उसे न निर्गुणसे कोई विद्वेष और न गुणवान्से कोई राग। शारदातनयका कहनाहै कि गणिकासम्बन्धी यह श्रृंगाररस वस्तुतः श्रृंगाराभास माना जायगा ऐसा रुद्रटका मत है।[12] "वेश्या यद्यपि रागशून्य होतीहै, किन्तु उसका, कलाकेलिकौशलके कारण, परस्त्रीत्व भुलाकर उसकेप्रति लोगोंका मनोरम सुरत होताहै। क्रुद्ध पिनाकीकी नेत्राग्निज्वालासे भस्म हुए कामको, मैं समझता हूं, पुनः इन वेश्याओंकी नजरोंने ही जिलायाहै। कलाओं, विलासों, विदग्धताओंका निवासरूप तथा पुरुषोंके सौभाग्य एवं वैदग्ध्यकी निकषरूप इन गणिकाओंको किसने रचा है? नायकको कुलाङ्गनाके प्रति 'ईर्ष्या' नहीं होती, क्योंकि उसमें अन्य प्रेमकी शंका

१. भा० प्र० ४।६४ २. वही ४।६५ ३. वही ४।६४
४. वही ४।६५ ५. वही ४।६५ ६. वही ४।६५
७. वही ४।६५ ८. वही ४।६५ ९. वही ४।६५
१०. वही ४।६५
११. स्वीयं सुवृत्तमुल्लङ्घ्य यथैकेन चिरंवसेत्।
सान्यास्याद् गणिकाऽप्येवं भवेत् सान्याभविष्यति॥ वही ४।६५
१२. वही ४।६५

नहीं होती, परकीयाओंके साथ निर्भय रति नहीं होपाती, किन्तु वेश्याके साथ ईर्ष्या भी चलती है तथा निर्भय रति भी होतीहै, अतः ये ही वस्तुतः मदनकी सर्वस्व हैं।[१]

स्वकीयात्वआदिका विवेक—अग्निको साक्षी बनाकर जिस समानकुलशीलवाले व्यक्तिने उद्‌वहन किया उसकी तो वह स्वीया होतीहै, किन्तु दूसरेको पति (उपपति) बनाने पर वह (नये पतिकी) अन्या (परकीया) होजातीहै।[२] इसीप्रकार कन्या यदि (चरित्र) व्यतिक्रम करतीहै तो अन्या कहलातीहै, कुलाङ्गना नहीं। वह अन्या यदि केवल भोगेच्छु है तो स्वीयारूप है, यदि भोग और धन दोनों चाहतीहै तो अन्यारूप तथा यदि केवल धनेच्छु है तो गणिकारूप। कविको उसीरूपमें उसे वर्णित करना चाहिए।[३]

नायिकाके उदात्ताआदि भेद—आगे शारदातनय कहतेहैं कि कुछ आचार्य उनके उदात्ताआदि प्रकार भी मानतेहैं। वे प्रायः कार्यवश सबके दिखाईपड़तेहैं।[४]—इन नायिकाओं की अवस्थाओंमें परस्पर अति स्वल्प अन्तर होनेके कारण बहुत भेदविचार नहीं कियागयाहै। कन्या तथा परोढाकी चेष्टाओंकों मुग्धाकी चेष्टाओंमें कहदियाजायगा, वेश्या तथा अन्या की चेष्टायें रक्ता और अरक्ताके प्रसंगमें कहेंगे।[५] 'उदात्ता' नायिकामें ये गुण होतेहैं—वह केश, वस्त्र, अङ्गचारुता, माल्य तथा अलङ्करणके विषयमें बड़ी रुचि रखतीहै। शय्या, आभरण, प्रसाधनको जुटानेवाली होतीहै। उसका स्नेह स्थिर होताहै। आश्रितोके प्रति वात्सल्यभाव रखतीहै एवं उन्हें कृतज्ञताके साथ दानआदिभी देतीहै।[६] यह माननीयोंका सम्मान करतीहै। सदा उत्सवोंको मनाया करतीहै। भाईबन्धुओंकी भीड़से प्रसन्न होतीहै। वचन प्रिय बोलती है।[७] 'उद्धता' को अपने सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या तथा भोगसुखों का अहंकार होताहै। विद्यासम्पन्न, सत्कुलमें उत्पन्न अपने अन्यबन्धुजनोंका भी वह अपमान करतीहै। वह गर्व एवं अभिमानसे भरी, मायाकपटपरायण, अपनेही पेटको भरनेवाली, घोर स्वभाववाली होतीहै।[८] 'शान्ता' नायिका सुखानुभूतिवाली, सदासन्तुष्ट, मानापमानमें तुल्यरूप, किसीके प्रति सासूय नहीं, अहंकार तथा अभिमानरहित, मात्सर्यरहित, अपकारकरने वालोंका भी उपकार करनेवाली, तथा बन्धुओंके प्रति उचित उपचारका निर्वाहकरने वाली

---

१. ईर्ष्याकुलस्त्रीषु न नायकस्य निश्शङ्ककेलिर्नपराङ्गनासु।
वेश्यासुचैतद्‌द्वितयं प्ररूढं सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य ॥ —भा० प्र० ४।९६

२. समानकुलशीलेन येनोढा वह्निसाक्षिकम्।
सा स्वीया तस्य सैवान्या भवेद् भर्तृव्यतिक्रमे ॥ —वही ४।९६

३. व्यतिक्रमे तु कन्या या साप्यन्या न कुलाङ्गना।
भोगेप्सवः स्युः स्वीयाश्चेदन्या भोगधनेप्सवः ॥
अर्थेप्सवः स्युर्गणिकास्तास्तथा वर्णयेत् कविः ॥ —वही ४।९६

४. वही ४।९७

५. अल्पवैषम्यतोऽवस्थाभिदा न पृथगीरिताः। —वही ४।९७

६. वही ४।९७ ७. वही ४।९८ ८. वही ४।९८

होतीहै ।[1] और 'ललिता' वह नायिकाहै, जो रूपयौवनसम्पन्न हो सखियोंके साथ केलिमें सोत्साह रहे, विविध वस्त्र, अंगराग, माल्य, ऋतु, समुद्रतट, पर्वत तथा नदीआदिकी रुचि वाली हो, सम्भोगकी रसिक हो, हेला तथा हावभावसे भरी हो, और कलाशिल्पमें सम्पन्न हो ।[2] शारदातनयका पूर्वोक्त चार प्रकारका नायिकाभेद उनकी मौलिक उद्भावना समझ पड़तीहै, जो उदात्तआदि चार प्रकारके नायकभेदोंके आधारपर किया गया समझपड़ताहै । ये पूर्वोक्त (उत्तमादि) गुण वस्तुतः सभी नायिकाओंमें देखेजासकतेहैं । स्वकीयामें ये छिपे या दबे रहतेहैं । परकीयामेंमध्यरूपमें तथा साधारणा या वेश्यामें तो प्रथितरूपमें दिखाई पड़ते हैं ।[3]

नायिकायौवनके चार प्रकार—भरतकी भांति शारदातनयने भी स्त्रियोंका यौवन चार प्रकारका कहाहै, अथवा यों कहें कि यौवनके चार पड़ाव बतायेहैं ।[4] और पुरुषोंका यौवन तो सोलहसे बत्तीस वर्षतक मानाजाताहै तथा उसमें चेष्टाएँ प्रायः एकरूप ही हुआ करतीहैं । हां, सम्पत्ति, प्रकृति तथा गुणोंके कारण उनमें विशिष्टता अवश्य आजातीहै ।[5]

स्नेहपात्र होने योग्य पुरुष तथा स्त्री—महोदय, महाभाग, कृतज्ञ, रूपवान्, युवा मानी, सुशील, सुभग, विदग्ध, वंशवान्, अभीक, अल्पनिद्र, मधुरवाक्, नायक स्त्रियोंका अभि-गम्य होताहै ।[6] उसीप्रकार विज्ञानसम्पन्ना, रूपसम्पन्ना, यौवनसम्पन्ना, देशकालविभागज्ञा कला एवं शिल्पमें विचक्षणा, कार्य तथा अकार्यके वैशिष्ट्यको जाननेवाली, भावावबोधचतुरा विनयान्विता, लज्जाशीला, क्षमायुक्ता, लोकयात्राका अनुपालन करनेवाली नायिकाभी पुरुषों का स्नेहपात्र बनती है ।[7]

वैशिक नायक तथा उसके प्रकार—शारदातनयने इसी प्रसंगमें वैशिकनायकका स्वरूप बतायाहै—भरतने इसे सामान्य पुरुषगुणके रूपमें कहाथा और इसके पांच प्रकार बतायेथे । शारदातनयके अनुसार शास्त्रवेत्ता, शीलसम्पन्न, रूपवान्, प्रियदर्शन, विक्रमी, धृतिमान्, वय, वेष तथा कुलसे सम्पन्न, सुगन्धप्रेमी, मधुर, त्यागी, सहिष्णु, अविकत्थन, अशंकित प्रियालापी, चतुर, सुभग, शुचि, कामोपचारकुशल, दक्षिण, देशकालवेत्ता, अदीनवाक्य बोलनेवाला, प्रिय-वाक्, वाग्मी, दक्ष, प्रियंवद, अलुब्ध, सुखभोगी, श्रद्धावान्, दृढ़व्रती, गम्य स्त्रियोंके प्रतिभी विश्वास न रखनेवाला, तथा मानी पुरुष वैशिक होताहै । उसे वैशिक इसलिए कहतेहैं कि वह सभी कलाओंको विशिष्टरूपसे जानता है. अथवा इसलिए कि वह वेश्योपचारमें कुशल होता है ।[8] वैशिक तीन प्रकारका होताहै—उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ ।

प्रणय एवं कोपमें नायकके प्रति संबोधन—फिर शारदातनयने भी भरतकी भांति नायिकाओं द्वारा प्रियको प्रणयमें दीगयी संज्ञाओंका उल्लेख कियाहै—प्रणयी, दयित, कान्त,

---

१. भा० प्र० ४।६८ २. वही ४।६८ ३. वही ४।१०२

४. स्त्रीणां प्रायेण सर्वासां यौवनं च चतुर्विधम् । —वही ५।१०३

५. वही ५।१०५ ६. वही ५।१०५ ७. वही ५।१०५-१०६

८. वही ५।१०६

नाथ, स्वामी, प्रिय सुहृत्, नन्दन, जीवितेश, सुभग तथा रुचिरक्षादि।[१] इनका अलगअलग लक्षण भी पूर्ववत्ही है।[२] इसीप्रकार कोपमें प्रियको जो उपाधियां दी जातीहैं, उनका भी उल्लेखहै—वाम, विरूप, दुश्शील, निर्लज्ज, निष्ठुर, शठ, धृष्ट, दुराचार।[३] इनके भी अपने लक्षण दियेगयेहैं।

नायिकाओंके शीलभेद—फिर सभी नायिकाओंका स्वभाव (सत्त्व) (भरत के अनुसारही) बतायागयाहै। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पक्षी, पिशाच, नाग, व्याल, नर, वानर, हस्ती, मृग, मीन, उष्ट्र, मकर, खर, सूकर, अश्व, महिष, अज, गोआदिके समानशीलवाली स्त्रियां होतीहैं।[४] यहां शारदातनयने भरतका[५] ही पूर्णरूपेण अनुगमन कियाहै। काव्यशास्त्र में, मेरी समझमें, इनकी इसप्रकार मीमाँसाकी कोई आवश्यकता नहीं थी। लक्षण भी प्राय: उन्हीं शब्दोंमें कियागयाहै।[६] और अन्तमें तो कह भी दियाहै—'एवं प्रदर्शितं शीलं स्त्रीणां भरतवर्त्मना।' इस विषयमें भरतने कामशास्त्रकी दुहाई दीहै, और शारदातनयने भरतकी। हां, इनका ढंग अपना-अपना है। उत्तम प्रकृतिके ही पुरुष और स्त्री इस शृंगारके आश्रय एवं आलम्बन होतेहैं। इसको और स्फुट करते हुए वे कहतेहैं—परोढा नायिका तथा अनुरागहीना वेश्या नायिकाको छोड़कर सभी नायिकाएँ एवं दक्षिणआदि (उत्तम) नायक इसके उचित अलम्बन तथा चन्दन, मधुकरगुंजरितआदि उद्दीपन मानेगयेहैं।

नायकविवेचन—साहित्यदर्पणमें नायकनायिकाविषयका विवेचन सामान्यरसके आलम्बन में हुआहै। और इस प्रसंगमें विश्वनाथका सारा विवेचन शृंगारतिलक तथा दशकरूपक एवं शारदातनयके ही आधार पर हुआहै। विश्वनाथने नायिकाभेदमें किसी आचार्य (शारदातनय)का मतान्तर प्रस्तुत कियाहै। उनका मतहै कि कन्यका तथा परोढा प्रकारकी दोनों परकीया नायिकाओंकी स्वाधीनपतिकाआदि आठ अवस्थाएँ न होकर तीनही युक्तिसंगत होती हैं। वे इस प्रकार होंगी—संकेत होचुकनेपर मिलनेतक उनकी विरहोत्कण्ठिताकी अवस्था होतीहै। फिर विदूषकआदिके साथ अभिसरण करनेपर अभिसारिकाकी अवस्था और किसी कारणवश नायकके संकेत स्थानपर न पहुंचनेपर विप्रलब्धाकी अवस्था होतीहै। क्योंकि ये (कन्यका तथा परोढा) दोनों प्रकारकी नायिकाएँ अस्वाधीनपतिकाही रहती हैं। किन्तु यह मत तभी ठीक होता जब स्वाधीनपतिकाआदिमें प्रयुक्त पति शब्द भर्ताका वाचक मानागयाहोता। वस्तुतस्तु यहां यह पति शब्द प्रिय या कामुक अर्थमें ही लक्षणया प्रयुक्त है। अतः स्वाधीनपतिकाका अर्थ हुआ स्वाधीनकामुका। और यह अवस्था कन्यका तथा परोढा के लिए, पिता तथा पतिके घरमें रहते हुए भी सम्भव है। वहां वे प्रच्छन्नरूपमें दूसरेसे प्रेम कर सकती हैं। और तब खण्डिताआदि सभी अवस्थाएँ होंगीही। नायिकाओंके पूर्वोक्तप्रकारमें कभीकभी

---

१. भा० प्र० ५।१०७ २. वही ५।१०७-८ ३. वही ५।१०८
४. वही ५।१०९ ५. ना० शा० २४।९३—१३५
६. भा० प्र० ५।१०९—११२

काव्यनाटकोंमें साङ्कर्य भी देखाजाताहै।[1]

नायिकाके अलङ्कार—फिर सा० द०में नायिकाओंके अट्ठाईस अलंकार भी प्रायः भरतएवं शारदातनयके अनुसार कहे गयेहैं। ये उनके यौवनकी शोभाहैं। इन अलंकारोंके तीन वर्गहैं—अङ्गज, अयत्नज तथा स्वभावज। इनमें भाव, हाव तथा हेला ये तीन 'अङ्गज' अलंकार हैं। सात 'अयत्नज' अलंकार कहे गयेहैं शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य। और अट्ठारह 'स्वभावज' अलंकार गिने गयेहैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित तथा केलि। इनमें तीन अंगज तथा सात अयत्नज ये दस अलंकार नायकके भी यौवन में होते हैं।[2] इनके लक्षणआदि प्रायः पूर्व आचार्योंके अनुसार ही हुए हैं।

प्रतापरुद्रयशोभूषणमें विद्यानाथका विवेचन संक्षेपमें शृं० ति० एवं दशरूपकका अनुगामी है। अतः उसका कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं।

शिङ्गभूपालने तो नायकके निरूपणसे ही अपने ग्रन्थका प्रारम्भ किया है। नाट्यमें नायकप्राणरूपहोताहै। वही उसका रसोत्कर्ष है। शिङ्गभूपालने शृंङ्गाररसके नायकका विवेचन इसप्रकार प्रारम्भ कियाहै—'शृंगारकी अपेक्षा तो नायक तीन प्रकारके होतेहैं—पति, उपपति तथा वैशिक[3]। विधिपूर्वक पाणिग्रहण करने वाला नायक पति कहलाताहै। अपने व्यवहारके अनुसार वह भी चार प्रकारका कहा गयाहै—अनुकूल, शठ, धृष्ट तथा दक्षिण[4]। यहां शिङ्गभूपालने धीरोदात्तादिको भी शृङ्गाररसके भेदोंके अनुसार विभक्त कियाहै जैसे, एकभार्यावाला अनुकूलप्रकारका पति धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त तथा धीरोद्धत चारोमें होगा। इसीप्रकार शठ, धृष्ट तथा दक्षिणमें भी होंगे। इनके लक्षण तो पूर्वआचार्योंकी ही भांति हैं[5] सदाचार का उल्लंघनकर स्त्री विधिविरुद्धरूपसे जिसके साथ संगम करती है (जिसे अपना पति बनातीहै) उसे उपपति कहते हैं।[6] उपपतिके दक्षिण अनुकूल तथा धृष्ट भेद तो, अनियत होनेके कारण, उचित नहीं हैं। वह केवलशठ ही होता है।[7] शृंगाररसका तीसरा नायक वैशिक कहलाताहै। र०सु०में उसका पर्याप्त विस्तारके साथ ववेचन हुआ है—कुछ तो शृङ्गारतिलकके आधारपर और अधिक भावप्रकाशनके अनुसार।

परोढाके विषयमें शि० भू०का कहनाहै कि वह एकसे व्याहीगई होकर भी दूसरेके साथ सम्भोगकी अभिलाषा रखतीहै। उसका वर्णन सप्तशती (गाथा सप्तशती) आदि क्षुद्र

---

१. क्वचिदन्योन्यसांकर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते। —सा० द० ।३

२. वही ३।८६-९३ ३. र० सु० १।७६-८० ४. वही १।७८-८१

५. वही १।८१-८२ ६. वही १।८३

७. दाक्षिण्यमानुकूल्यं च धार्ष्ट्यंचानियतत्वतः।
तोचितान्यस्यशाठ्यं स्यादन्यचित्तत्वसम्भवात्॥ वही १।८४

(फुटकर) प्रबन्धों (रचनाओं) में कियाजाताहै।[1]

गणिका भी दोप्रकारकी होतीहै— रक्ता तथा विरक्ता।[2] नाटकमें रक्ता वेश्याका अप्रधानरूपसे वर्णन कियाजाताहै, जैसे (मालविकाग्निमित्रमें) राजाअग्निमित्रकी इरावतीका।[3] और नाटकके अतिरिक्त अन्यरूपकोंमें तो उसके प्रधान अप्रधान दोनों रूप हो सकतेहैं। किन्तु यदि दिव्या वेश्या है तो प्रधानरूपसे ही वर्णित होगी।[4] और, विरक्ता तो प्रहसनके पात्रोंमें वर्णित कीजातीहै। उसके धौर्त्य आदि गुण उसकेलिए उपयोगी होतेहैं।[5] वह श्रोत्रियआदि (प्रच्छन्नकामभावनावाले) रतिसुखके पीछे मूढ, बाल, पाषण्डी, नपुंसकआदिको, जबतक धनी देखतीहै, अनुरक्तासी प्रसन्न करतीहै, किन्तु जब धन दुह लेतीहै तो अपनी माता (अथवा किसी अभिभावक) से निकलवा देतीहै।[6] इसप्रसंगमें शि०भू०ने एक मार्मिक विवाद छेड़ाहै—"कुछ आचार्योंका कहनाहै कि गुणीनायकके साथ भी गणिकाको कोई अनुराग नहीं होता। और ऐसी अरक्ताका समावेश करनेपर रसाभासका प्रसंग आ सकताहै। अतः नाटकआदिमें उसका वर्णन नहीं करनाचाहिए। जैसाकि कहाजाताहै कि सामान्य वनिता वेश्या होतीहै। वह केवल द्रव्य चाहतीहै। उसे न निर्गुणसे कोई द्वेष, न गुणीसे कोई अनुराग। अतः उसके प्रेमको सदा श्रृंगाराभास ही कहाजायगा, शृङ्गाररस कभी नहीं। शिङ्गभूपाल उसका प्रतिपादन करते हुए अपना मत देतेहैं कि नायिका उसीको माना जाताहै, जिसमें (नायकके प्रति) भावानुबन्ध (प्रेमभाव) हो। वेश्याको भी प्रकरणआदि रूपकोंकी नायिका मानागयाहै। अतः उसका भी नायककेप्रति सच्चा प्रेम होताहै। तभी तो उसमें शृङ्गाररस माना जाताहै। यदि उसमें सच्चा प्रेम न होगा तो वह नायिका भी न होगी, और तब प्रकरणका रस रसाभास हो जायगा। और फलतः वह एक नीरस रचना मानीजायगी। फिर रस (श्रृंगार) की तो दस अवस्थाएं कहीगयीहैं। वे सब जब दिखाईपड़ें तो उसे तो सच्चा ही प्रेम समझना चाहिए। अतः वेश्याका भी गुणीनायकमें भावानुबन्ध होताहोहै।[7]" इसविषयमें उन्होंने रुद्रट (रुद्रभट्ट) की 'ईर्ष्याकुलस्त्रीषु' वाली कारिकाको प्रमाण रूपमें उद्धृत कियाहै, क्योंकि पूर्वपक्षीने उन्हींकी 'सामान्यवनिता वेश्या' आदि कारिकाको उद्धृत करके अपना मत स्थापित कियाथा।[8] रुद्रभट्टके मतको रुद्रटका अथवा रुद्रभट्टको रुद्रट माननेवालोंमें शारदातनय तथा शिङ्गभूपाल दो प्रधान श्रृंगारव्याख्याता आचार्य हुएहैं। दोनोंके लिए इसविषयमें 'शृङ्गारतिलक' ही सबसे प्रधान प्रामाणिक ग्रन्थ था। और दोनोंने उसे रुद्रटकी कृति कहाहै। अस्तु !

परकीयाकी केवल तीन ही अवस्थायें—नायिकाकी इसप्रकार तीनसौचौरासी ही संख्या शिङ्गभूपालने भी बतायीहै।[9] इस संख्याकलनमें एकमतान्तरका भी शि० भू०ने उल्लेख कियाहै, जिसके अनुसार परकीयाकी केवल तीन ही अवस्थायें होतीहैं (आठ नहीं)।

---

१. र० सु० १।१०६ २. वही १।११० ३. वही १।१११
४. वही १।११२ ५. वही १।११३ ६. वही १।११४
७. वही १।११-२० ८. वही १, पृ० ३ ९. वही १।१५८-१५९

पहले तो वह विरहोत्कण्ठिता होतीहै, फिर स्वयं अभिसार करतीहै, और संकेतसे परिभ्रष्ट होनेपर विप्रलब्धा होतीहै। उसका प्रिय पराधीन होता है, अतः उसकी (स्वाधीनपतिकाआदि) अन्य अवस्थायें सम्भव नहीं हैं।[1]

शृंगारके उद्दीपनविभाव—शि०भू०के अनुसार शृंगाररसका उद्दीपन चारप्रकार का होताहै। इनमें तीन उसके आलम्बन के समाश्रित होतेहैं तथा चौथा पृथक् ही रहताहै ये हैं—गुण, चेष्टा, अलङ्कार तथा तटस्थ[2]। इनमें आलम्बनके ये गुण उद्दीपन होतेहैं—यौवन, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, मार्दव तथा सौकुमार्य।[3] दूसरे प्रकारका उद्दीपन आलम्बनकी चेष्टाएंहैं। वे लीला विलासआदि अनेक हैं, जिनका विवेचन आगे अनुभावोंके प्रकरणमें कियाजायगा[4]। तीसरे उद्दीपन हैं आलम्बनके अलङ्कार, जो वस्त्र, आभूषण, माल्य तथा अनुलेपनरूपसे चारप्रकारके होतेहैं।[5] तटस्थ उद्दीपन तो वे ही प्रसिद्ध वस्तुएं हैं—चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिलकी कूक आम्र (तथा अशोकआदि) मन्दमारुत, भ्रमण, लतामण्डप, भूगेह, दीर्घिका, मेघगर्जन (तथा विद्युत्) प्रासादगर्भ, संगीत, क्रीडाआदि, सरित्आदि इसीप्रकारकी यथाकाल उपभोगकेलिए उपयोगी वस्तुएं[6]।

शृंगारका आलम्बनविभावनायिका—भानुदत्तनेतोशृंगारकेविभावोंका बड़ा विपुल विवेचन कियाहै, अपितु उनका एक पूरा ग्रन्थ ही प्रायः इसीविषयका विवेचन करताहै। उनकी रसमञ्जरी केवल नायकनायिकाविषयको लेकर ही लिखीगईहै। उनके पूर्व यह विवेचन साहित्यशास्त्रके आचार्य या तो नाटक या रसके प्रसङ्गमें करतेआएथे। भा० द० ने अपना एक सम्पूर्णग्रन्थ इसविषयमें लगाकर इसका एक पृथक् स्वतन्त्र विषयके रूपमें विवेचन करनेकी प्रथा चलाई, जिसका अनुसरण उनके पश्चात् कुछ संस्कृतके आचार्योंने किया और अधिकतया हिन्दीआदि बोलचालकी भाषाके आचार्योंने किया। शृङ्गारके परस्पर आलम्बन हैं नायिका तथा नायक—नायिकाएं तीन प्रकारकी होतीहैं—**स्वीया**, **परकीया** तथा **सामान्या**। स्वीया नायिकावह है, जो केवल अपने पतिमें अनुरक्त हो। यहां यह शंका होती है कि जो स्त्री विवाहित तो है, किन्तु परगामिनी भी है, अर्थात् पति एवं उपपति दोनोंमें अनुरक्तहै, उसकी गणना स्वीयारूपमें न होपायेगी। अतः यहां यह स्पष्ट रूपसे समझलेना चाहिए कि स्वीया केवल वही कहीजासकतीहै जो पतिव्रता हो। पूर्वोक्त नायिका तो परगामिनी भी है, अतः उसे नायिकाके परिगणनमें परकीयाकीही कोटि में रक्खा जायगा।[7] स्वीया की चेष्टाएं होतीहै—पतिकी शुश्रूषा, अपने शीलका संरक्षण आर्जव तथा क्षमा।[8] स्वीयाभी तीनप्रकारकी (अवस्थावाली) होतीहैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा। मुग्धा स्वीया वह है, जिसमें यौवन अंकुरित हुआहो।[9] और वह मुग्धा भी दोप्रकारकी मानीगयीहैं—अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना, अर्थात् एक वह जिसमें अपने यौवनागमका होश न हो, जो अल्हड़हो, और

१. र० सु० १, पृ० ३७ २. वही १।१६२ ३. वही १।१६३
४. वही १, पृ० ४४ ५. वही १।१८७ ६. वही १८७-१८६
७. र० म०, पृ० ५ ८. वही पृ० ५ ९. तत्रांकुरितयौवना मुग्धा—वही, पृ० ७

दूसरी वह, जिसे यह चेत होगयाहो कि उसमें यौवन आरहाहै। वह मुग्धा ही एक अन्य दृष्टिसे नवोढा तथा विश्रब्धनवोढा दो अन्य प्रकार की भी होतीहै। नवोढा वह है, जिसकी रति लज्जा अर्थात् सहजशीलता एवं भय अर्थात् पूर्वसे अपरिचित पतिके सङ्गमसे नितान्त शंकासे भरी होती है।[1] और जब कुछदिनके परिचयसे पतिके प्रति विश्वास एवं विनय आजाता है, तो वही विश्रब्धनवोढा होजातीहै।[2] इसप्रकार मुग्धाकी रतिमें लज्जा, भय तथा विश्रम्भका क्रमिक अवतार होताहै। और प्रगल्भा स्वीया वह है, जो केवल अपने पतिके प्रति रतिक्रीड़ाओंमें प्रवीण हो।[3] वेश्या तथा कुलटा भी केलिकलाकोविद होतीहैं, किन्तु उनका पति-मात्रविषयक कोविदत्व नहीं होता, अतः वे इस प्रगल्भासे भिन्न हैं।[4] इस प्रगल्भाकी विशेषता है कि उसका सम्भोगमें आनन्द सम्मोहनावस्थातक पहुंचजाताहै। भानुदत्तके अनुसार ये धीरादिभेद जैसे स्वीयाके वैसे ही परकीया एवं सामान्याके भी मानेजाने चाहिए। इसविषयमें उन्होंने उस प्राचीन मतका प्रतिवाद किया, जिसमें ये भेद केवल स्वीया के ही कहेगएहैं। भानुदत्तने उस मतको युक्ति-संगत नहीं मानाहै। उनका कहनाहै कि ये धीरत्वअधीरत्वआदि गुण मान से सम्बन्ध रखतेहैं। यदि परकीया (तथा सामान्या) मान कर सकतीहैं तो धीरत्वादिका होना भी आवश्यक ही होगा। और इसको इनकार कियाही नहीं जा सकता कि परकीयामें भी मान होता है।[5]

फिर ये भी (स्वीयागत) मध्या और प्रगल्भाके धीराआदि भेद प्रत्येक ज्येष्ठा और कनिष्ठारूप से दोदो प्रकार के होतेहैं।[6] जो विवाहित पतिसे अधिक स्नेह पातीहै वह ज्येष्ठा है तथा जो पतीसे कम स्नेह पातीहै वह कनिष्ठा है।[7] ये ज्येष्ठाकनिष्ठाभेद स्वीयाके ही होतेहैं, सामान्यवनिता (तथा परकीया) के अपने प्रिय या उपपतिसे अधिक या कम स्नेह पानेपर भी उन्हें ज्येष्ठाकनिष्ठावर्गोंमें नहीं रखाजाता, क्योंकि वह परिणीता नहीं होती।[8] परकीयाकी सारी चेष्टाएं गुप्त ही चलतीहैं[9]। गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता आदि नायिकाएं परकीयामें ही अन्तर्भूत होजातीहैं। अथवा यों कहें कि ये परकीयाके ही प्रकार हैं।[10] इनमें गुप्ता परकीया तीनप्रकारकी होतीहैं—वृत्तसुरतगोपना, वर्तिष्यमाण-सुरतगोपना तथा वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना। विदग्धाके भी दो भेद हैं—वाग्विदग्धा तथा

---

१. सैव क्रमशः क्रमशोलज्जाभयपराधीनरति र्नवोढा। र० म० पृ० ८

२. सैव क्रमशः सप्रश्रयाविश्रब्धनवोढा। वही पृ० ६

३. पतिमात्रविषयककेलिकलाकलापकोविदाप्रगल्भा—वही पृ० २१

४. वेश्यायां कुलटायां च पतिमात्रविषयत्वाभावान्नातिव्याप्तिः—वही पृ० २१

५. वही पृ० २६ ६. वही,पृ० ४२ : । ७. वही

८. अधिकस्नेहासुन्यूनस्नेहासुसामान्यवनितासु नातिव्याप्तिः परणीतपदेनव्यावर्तनात् —वही पृ० ४३

९. वही पृ० ४६ १०. वही पृ० ५२

क्रियाविदग्धा। इसीप्रकार अनुशयानाके तीन प्रकार गिनायेजातेहैं—वर्तमानसंकेतस्थानके विघटन से, भविष्यमें संकेतस्थान न मिलेगा इस शंकासे तथा अपनी अनुपस्थितिमें प्रियका संकेतस्थल पर जानेका अनुमानकर।[1] फिर इन पूर्वोक्त नायिकाओंके अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता तथा मानवती—ये तीन भेद होतेहैं।[2] वक्रोक्तिगर्विता भी दोप्रकारकी होतीहै प्रेमगर्विता तथा सौन्दर्यगर्विता।[3]

मानवतियोंमें मान होताहै। प्रियके अपराधकी सूचिका चेष्टाको मान कहतेहैं।[4] वह तीनप्रकार का होताहै—लघु, मध्यम और गुरु। जो आकस्मिक कुतूहलादि अल्प उपायों द्वारा ही दूर कियाजासके वह लघु, जो अन्यथावाद शपथआदि कष्टतर उपायों द्वारा वह मध्यम तथा जो भूषणदान चरणपतनआदि कष्टमय उपायों द्वारा वह गुरु मान कहलाताहै।[5] नायिका-का कोई मान असाध्य नहीं कहाजासकता, क्योंकि तब तो फिर मानों एक आश्रय से रति हट ही गइ, और वह इसप्रकार रसाभास होजायगा।[6] लघुमान नायक द्वारा अन्यस्त्री को ताकने-आदि से उत्पन्न होताहै, भूलसे दूसरी नायिकाका नाम लेलेनेआदिसे मध्यमान होता है तथा अन्यनायिकाके संगचिह्नादिमें गुरु मान उत्पन्न होता है।[7]

कुछ आचार्योंने फिर इन पूर्वोक्त नायिकाभेदोंमें जातिके अनुसार दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्यारूप से तीनतीन प्रकार कियेथे। दिव्या, जैसे इन्द्राणी आदि, अदिव्या (या मानवी) जैसे मालतीआदि तथा दिव्यादिव्या, जैसे सीताआदि (अवतार)। और इसप्रकार संख्या ११५२ बताई थी। इसे भानुदत्तने स्वीकार नहीं किया है। उनका तर्क है कि नायिकाके भेद उसकी अवस्था या दशाविशेषके भेदसे ही कियेजानेचाहिए, जातिभेदसे नहीं, क्योंकि जातिभेदसे भेद माननेपर तो नायकोंके भी इसीप्रकार अनन्त भेद होजायेंगे। क्योंकि जातिभेदमें तो इन्द्रआदि भी दिव्य, माधवआदि अदिव्य तथा रामआदि दिव्यादिव्य नायक होंगे।[8]

यहां एक प्रश्न उठताहै कि जैसे मुग्धा नायिकाके धीरा, अधीराआदि भेद नहीं माने-जाते, क्योंकि उसमें धीरात्वआदिकेलिए पायेजानेवाले सभी आवश्यक तत्त्व नहीं होते, वैसे ही प्रोषितभर्तृकाआदि आठप्रकार भी उसके नहीं होने चाहिए, क्योंकि इन अवस्थाओंकेलिए जो जो तत्त्व आवश्यक होतेहैं वे भी तो उसमें उसीप्रकार नहीं होते। भानुदत्तने इसको स्वीकार (अभ्युपगम)-सा करतेहुए इसप्रकार समाधान कियाहै कि केवल प्राचीन आचार्योंकी परम्परा निभानेकेलिए (मुग्धाके) नवोढा (विश्रब्धनवोढा) भेदको ध्यानमें रखकर मुग्धाके भी ये भेद कियेगयेहैं।[9]

---

१. र० म० पृ० ६२ २. वही पृ० ७४ ३. वही पृ० ७६

४. प्रियापराधसूचिकाचेष्टा मानः —वही पृ० ७६ ५. वही पृ० ८१

६. असाध्यस्तु रसाभासः —वही, पृ० ८०

७. अपरस्त्रीदर्शनादिजन्मा लघुः, गोत्रस्खनादिजन्मामध्यमः, अपरस्त्रीसंगजन्मा गुरुः। —वही, पृ० ८०

८. वही, पृ० ८८-८६ ९. वही, पृ० ६०

नायिकाओंके पूर्वोक्त भेदोपभेदविवेचनमें एक बात पुनः स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि ये प्रोषितपतिकादि आठ भेद अवस्था या प्रेमदशाकी दृष्टिसे किये जातेहैं, जो मुग्धादि सभी पूर्वोक्तप्रकारकी नायिकाओंके सम्भव होंगे। किन्तु मुग्धादि भेद कुछ अपना वैशिष्ट्य रखतेहैं, जो उनके आठोंमें मिलेंगे। जिससे वे पृथक् प्रकार (Type) गिनेजातेहैं, और ये प्रोषित-पतिकादि आठों उनसबके यहां सेवामें उपस्थित रहतेहैं। मुग्धामें लज्जाकी प्रधानता होतीहै, मध्यामें लज्जा और मदनका साम्य रहताहै, प्रगल्भामें प्राकाश्य (या धृष्टता) -का प्राधान्य रहताहै; धीरामें धैर्य, अधीरामें अधैर्य, धीराधीरामें धैर्याधैर्य; ज्येष्ठामें स्नेहाधिक्य, कनिष्ठामें स्नेहन्यूनत्व, परोढामें रहस्यगोपन; मुग्धाकी भाँति कन्यामें लज्जा तथा सामान्य वनिता (वेश्या) में धनप्राप्ति प्रधान होतीहै।[1]

पूर्वोक्त आठ अवस्थाओंके अनुसार आठप्रकारकी नायिकाओंके अतिरिक्त एक नवें प्रकारकी भी नायिका होतीहै—प्रवत्स्यत्पतिका।[2] इसका पूर्ववर्णित किसी भी प्रकारमें अन्तर्भाव नहीं कियाजासकता। प्रिय उसके पासमें है, अतः प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा तथा उत्कासे वह पृथक् है। उसने अपने प्रियसे न कलह कियाहै, न उसका अपमान ही, अतः कलहान्तरितासे भी वह पृथक् है। प्रिय अन्य सम्भोगचिह्नितरूपमें उसके पास नहीं आया है, अतएव उसे कोप नहीं है, अपितु काकुवचन कातरप्रेक्षणआदि हैं। प्रियसे मिलनेको न वार नियत है, अतएव न सज्जीकरण है, अपितु निर्वेदआदि स्पष्ट दिखायीपड़तेहैं, अतः उसे वासक-सज्जा भी नहीं कहसकते। अभी अगले ही क्षण प्रियसे वियोग होजायगा; अतः वह स्वाधीन-पतिका भी नहीं, क्योंकि स्वाधीनपतिका अपने प्रियसे कभी वियुक्त नहीं होती यही आचार्यमत (सम्प्रदाय) है। बल्कि पति जानेलगे तो भी स्वाधीनपतिका उसे रोकलेतीहै, अन्यथा पति (प्रिय)-पर उसकी स्वाधीनता कैसी? किन्तु इस प्रवत्स्यत्पतिकाका तो प्रिय अवश्य विदेश जायगा। और फिर इसको निर्वेद, अश्रुपात तथा निःश्वास विशिष्टतया होतेहैं, जबकि स्वा-धीनपतिकाके वनविहार मदनमहोत्सवआदि देखेजातेहैं। इसीप्रकार अभिसारिकामें भी प्रवत्स्य-त्पतिकाका अन्तर्भाव नहीं होसकता, क्योंकि उसे कोई अभिसारोल्लास नहीं रहता, उल्टे मनमें विरहताप दिखायी पड़ने लगताहै। अतः यह नवां प्रकार भानुदत्तके मतसे उचित ही हैं।[3] प्रवत्स्यत्पतिकाकी ये चेष्टायें होतीहैं—काकुवचन, कातरप्रेक्षण, गमनमें विघ्नोपदर्शन, निर्वेद, सन्ताप, सम्मोह, निश्श्वास, वाष्पआदि।

नायकके मानी, चतुर जो ये दो भेद और कभीकभी कियेजातेहैं, वे शठमें ही अन्तर्भूत होजातेहैं (तीनों नायक प्रोषित भी होतेहैं—प्रोषितपति, प्रोषितउपपति तथा प्रोषितवैशिक)। जो नायक सांकेतिक चेष्टा तथा ज्ञानसे रहित हो उसे नायकाभास कहतेहैं।[4] किन्तु नायिकाके जैसे प्रोषितभर्तृकाआदि आठ अवस्थाभेदसे भेद कियेजातेहैं, वैसे ही नायकके भी प्रोषितपत्नीक-आदि भेद नहीं कियेजासकते, क्योंकि नायिकाके तो अवस्थाभेदसे भेद होतेहैं, किन्तु नायकके

---

१. र०म० पृ० १४५ २. वही पृ० १४७ ३. वही पृ० १४७

४. अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव—वही, पृ० १८१

स्वभावभेद से०। और अनुकूलता, दक्षिणता, धृष्टता, तथा शठता ये ही तो नायकके स्वभाव हैं।[१] और फिर यदि अवस्थाभेदसे नायकोंके प्रकार मानेजायं तो उत्क, विप्रलब्ध खण्डितआदि प्रकारके भी नायक माने जाने लगेंगे। और साहित्यविदोंके सम्प्रदायके अनुसार तो संकेतस्थल पर न पहुंचनेसे अन्यस्त्रीके साथ सम्भोगकी आशंका, अन्यसमागममें धूर्तता अथवा शठता तथा अन्यसम्भोगचिह्नितताआदि नायकोंके विषयमें ही नायिकाओं द्वारा कीजांतीहै, नायिकाओंके विषयमें नहीं।[२]क्योंकि नायिकामें नायक द्वारा करनेपर तो अनौचित्यप्रवृत्त होनेके कारण वह रसाभास होजायगा। कोई भी सहृदय ऐसे नायकका वर्णन, जो अपनी नायिकाको अन्यसम्भोग-चिह्नितता देखकर खिन्न है, अथवा पहले आईहुई नायिकाको अन्यसम्भोगचिह्निता देखकर खिन्न है, अथवा पहले आयीहुई नायिकाका अपमानकरके ग्लानिपूर्ण है, अथवा संकेतस्थल पर नायिका द्वारा वंचित है, अथवा फिर संकेतस्थानपर नायिकाके न जानेपर उसका अन्य नायकके साथ संगमका सन्देह करताहै, आस्वाद्य या रमणीय नहीं मानताहै। क्योंकि इन सारी परिस्थितियोंमें अनौचित्यके कारण रसभंग होजायगा। अतः नायकका खण्डित, कलहान्तरित, विप्रलब्ध तथा उत्क—ये भेद उचित नहीं। ऐसेही न नायिकाका प्रवास ठीक है और न नायक का सुरतसामग्री सजाना। अतः न नायक प्रोषितपत्नीक होगा और न वासकसज्ज। और पत्नी तो पतिके अधीन होती ही है, उसके वर्णनमें क्या चमत्कार, अतः नायकका स्वाधीनपत्नीक भेद भी ठीक नहीं। उसीप्रकार अभिसार तो चाहे जो करे, उसकी प्रेरणा नायिकामूलक होती है, अतः अभिसारिका नायिका ही होतीहै, नायक को अभिसारक नहीं कहसकते।

कृष्णकविके अनुसार शृङ्गाररसका नायक कलावेदमें विशेष रुचि रखता है।[३] शृङ्गारव्यापार या चेष्टामें प्रवृत्तिकी दृष्टिसे उसके चार प्रकार होते हैं—धृष्ट अनुकूल, शठ तथा दक्षिण। शठ और धृष्टमें वंचना प्रधान रूपसे होतीहै तथा अनुकूल और दक्षिणमें कपट-शून्यता[४] (अवंचना)। उनके संक्षेपमें लक्षणउदाहरण देकर फिर उन चारोंके दो-दो भेद कियेहैं (तीन नहीं) पति तथा उपपति[५]। पाणिग्रहीता तो पति है, और आचारहानिका हेतुभूत प्रिय उपपति है। मं० मं० च०में साधारण नायकके कई विचारोंसे भेद कियेगयेहैं। उनमें कुछ भेद तो ऐसे हैं जो शृङ्गारनायकके भी होंगे, जैसे—गुणकी दृष्टिसे उत्तम, मध्यम तथा अधम। प्रकृतिके विचारसे—सात्त्विक, राजस तथा तामस। परिग्रह (पत्नी) की दृष्टिसे साधारण (अनेकपत्नियोंवाला) तथा असाधारण (एक पत्नीवाला)। योनिके विचारसे—दिव्य, अदिव्य था दिव्यादिव्य। जातिके विचारसे, दत्त (पद्मिनीनायिकाका वल्लभ), भद्र (चित्रिणीप्रिय), कूचिमार (हस्तिनीपति) तथा पाञ्चाल (शंखिनीप्रिय)। और धैर्यवृत्तिकी दृष्टिसे, उदात्त, शान्त, ललित तथा उद्धत[६]।

---

१. र० म० पृ० १८२ २. वही पृ० १८३
३. कलावेदविशेषानुरक्तः शृंगारनायकः— म० च०, पृ० ७७
४. अकापट्यं त्वितरयोर्वञ्चनं शठधृष्टयोः—वही, पृ० ७७
५. पतिश्चोपपतिश्चेति स चतुर्धा पुनर्द्विधा—वही, पृ० ७८
६. वही पृ० ७८-७९

शृंगारकी नायिका—युवकके अनुरंजनयोग्य आकार एवं चेष्टावाली शृङ्गाररसकी नायिका होतीहै—जो अपने विलासोंसे युवकोंके मनको मुदित करतीहै।[1] उसमें मुग्धाके दो भेद होतेहैं—ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना। फिर इनमें भी प्रत्येकके दो भेद—शुद्धनवोढा तथा विश्रब्धनवोढा।[2] प्रौढा दोप्रकारकी होतीहै—रतिप्रिया तथा आनन्दमोहिता[3]। मध्या और प्रौढाके तीन-तीन भेद और होतेहैं—धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा। औंर उन तीनोंमें प्रत्येकके ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दो-दो भेद होतेहैं।[4] और **सामान्या** और **परकीया** दोनों केवल प्रौढ़ा ही होती हैं (अतः उनके मुग्धा, मध्याआदि प्रकारसे भेद नहीं किएगये[5])। कृष्णकविका कहनाहैकि स्वाधीनपतिकाआदि आठ अवस्थाभेद मुग्धाके नहीं होते। किन्तु कुछ अन्य आचार्योंने मुग्धासहित सबके ये आठों भेद मानेहैं। इसे भी वे ठीक ही मानतेहैं।[6] नायिकाओंके भी गुणके विचारसे उत्तमा, मध्यमा, अधमा; योनिके विचारसे, दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या; धैर्यवृत्तिके विचारसे, उद्धता, उदात्ता, ललिता तथा शान्ता; भोज आदिके अनुसार, अक्षता, क्षता, यातायाता तथा यायावरा; कामशास्त्रमें कथित जातिके अनुसार, पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी; प्रकृतिके अनुसार, कफिनी, वातला तथा पित्तला भेद होतेहैं।[7] इन्होंने अभिसारिकाके दिवाभिसारिका तथा श्यामाभिसारिका और श्यामाभिसारिका के भी ज्योत्स्नाभिसारिका तथा तमस्विन्यभिसारिका दो भेद अभिसारकीवेलाके अनुसार किएहैं।[8] कृष्णकविने भी (भोजके अनुसार) जैसे नायक, उपनायक, प्रतिनायक तथा अनुनायक चार प्रकारके नायक कहेहैं, वैसेही नायिका भी नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका तथा अनुनायिका चार प्रकार की बताई है। नायिका कथाव्यापिनी होतीहै, जैसे वेणीसंहारमें द्रौपदी। प्रतिनायककी पत्नी प्रतिनायिका होती है जैसे—वहीं दुर्योधनकी पत्नी भानुमती। नायिकासे गुणों में थोड़ा ही ऊन किन्तु पूज्य उपनायिका होती है, और उसके बराबर या उससे घटकर अनुनायिका कहीगयीहै।[9]

बड़ेसाहब अकबरशाहने शृङ्गाररसके आलम्बनरूप स्त्रीको नायिका कहाहैं।[10] इनका विवेचन रुद्रभट्टके शृङ्गारतिलकका अनुगामी तथा भानुदत्त और प्रतापरुद्रीयका तो टीका रूप ही हुआहै। अपने परिणेतामें अनुरक्ता को स्वीया कहतेहैं।[11] रसमंजरीमें जो स्वीयाको

---

१. युवानुरञ्जनाकारचेष्टा शृंगारनायिका।
वितनोति मुदं यूनां विलासैः सुन्दरीमणि.। —म० म० च०, ७६

२. मुग्धा तत्र द्विधा ज्ञातयौवनाज्ञातयौवना।
द्विधोभे शुद्धविश्रब्धनवोढाभेदतः पुनः। —वही पृ० ७६

३. वही पृ० ८० ४. वही पृ० ८० ५. वही पृ० ८०

६. वही पृ० ८० ७. वही पृ० ८० ८. म० म०च०, पृ० ८४

९. वही पृ० ८६

१०. शृङ्गाररसालम्बनं स्त्री नायिका—शृ० म०।

११. स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया—वही

स्वामिन्येवानुरक्ता (केवल पतिमें अनुरक्ता) कहाहै शृ० म०में उसे सदोष बतायागयाहै। उसमें 'एव' (केवल) पद निष्प्रयोजन है। क्योंकि स्वामिन्यनुरक्ता (पतिमेंअनुरक्ता) इतनाही पर्याप्त है, केवल पतिमें, कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यहां एक सन्देह होसकताहै कि जो पतिके साथ उपपतिमें भी अनुरक्ता है फिर उसे भी स्वीया कहाजायगा। इसका समाधान यह है कि जो उपपतिमें अनुरक्ता होतीहै उसका स्वपतिमें अनुराग होता ही नहीं।[1] अपने इस मतके पोषणमें उन्होंने (रसमंजरीके टीकाकार) आमोदकारका उल्लेख कियाहै। उसमें भी रसमंजरीके 'एव' पदकी कटु आलोचना कीगयीहै। और कहागयाहै कि परकीयाका स्वपतिके साथ जो सम्भोगेच्छाआदि है वह अनुराग नहीं है। वह तो इसलिए है कि जिससे पति सन्तुष्ट रहे और उपपतिके साथ मिलनेवाले रतिसुखमें बाधक न बने। उस सम्भोगेच्छाको अनुराग नहीं कहनाचाहिए। अनुराग तो एक भावबन्धन है, जो परकीयाका केवल उपपतिके साथ होताहै, और स्वामीमें ही अनुरक्ताका अर्थ यह भी है कि जीवनपर्यन्त स्वामिमात्रमें अनुरक्ता। तब तो परकीयाभेद भी न होपायेगा—क्योंकि स्वकीया ही तो परकीया बनतीहै। अतः 'एव' पद व्यर्थप्रयुक्त है, और 'स्वामिन्यनुरक्ता स्वीया' इतनाही लक्षण पर्याप्त है। यहां प्रयुक्त स्वामी पद भी बहुत उचित नहीं, क्योंकि स्वामीका अर्थ सामान्यतः प्रभु (मालिक) होताहै, केवल पति ही नहीं। अतः यहां 'स्वामी' पद छोड़कर 'परिणेता' पद प्रयुक्त करनाचाहिए। और 'स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया' यह लक्षण करना चाहिए। यदि स्वीया जीवनभर पतिमें ही अनुरक्त रही तो वह पतिव्रता कहलातीहै। (अन्यथा वह परकीया भी होसकतीहै।) स्वीयाके भेद करतेसमय प्रायः आचार्योंने लज्जा और मदनभाव के परस्पर औसतका ही ध्यान रक्खाहै। मुग्धा में लज्जा अधिक मदनभाव कम, मध्यामें दोनों समान तथा प्रगल्भामें लज्जा कम मदन भाव अधिक होताहै।

स्वीयाके तीन भेद होतेहैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा। रसमञ्जरीकारने मुग्धाका लक्षण बतायाहै—'जिसमें यौवन अंकुरित हुआहो'। किन्तु इसमें अतिव्याप्तिदोषकी आशंका होतीहैं, क्योंकि परकीया तथा सामान्यामें भी यह लक्षण लागू होताहै। शृंगारमंजरीका मत है कि नायिकाओंके भेदनिरूपणमें उनका स्वरूप निर्धारित करनेकेलिए गुण या धर्म ही प्रधान तत्त्व मानाजाताहै, अवस्था नहीं।[2] इसीप्रकार प्रतापरुद्रीयकारने मुग्धाका लक्षण कियाहै—जिसकी लज्जाभावनाने उसकी मन्मथभावनाको दबा दियाहो।[3] किन्तु इस लक्षणमें भी अतिव्याप्ति दोषहै, क्योंकि यह भी अज्ञातयौवनामें पायाजाताहै। अतः यह साधु नहीं है। अतः 'मुग्धा वह नायिका है, जिसने किसी पुरुषविशेष को (नायकरूपमें) नहीं जाना है'।[4] मुग्धाके भी दो रूप होतेहैं—अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना। जिसे अपने यौवनागम

---

१. नन्वेवकारो यदि न दीयते तर्ह्यन्यत्रानुरागवत्यामपिपत्यावनुरागिण्यां परकीयायामतिव्याप्तिःस्यादितिचेद् न, परकीयाया अनुराग उपपतावेव, न पत्यौ। शृ० म०

२. अस्मिन्ग्रन्थे नायिकभेदे लक्षणानां निर्णये गुणएव कारणं न वय : वही, पृ० ३

३. लज्जाविजितमन्मथा वही। १।५५ ४. पुरुषविशेषानभिज्ञा मुग्धा। वही, पृ० ४

का चेत न हो वह अज्ञातयौवना कहलातीहै ।[१] और जिसे अपने यौवनागमका पूरा चेत हो वह ज्ञातयौवना कहलातीहै ।[२] फिर ज्ञातयौवनाके दो भेद होतेहैं—नवोढा तथा विस्रब्धनवोढा। नवोढाकी रति लज्जा और भयसे आक्रान्त होतीहै ।[३] और विस्रब्धनवोढा विश्वास बढ़जाने से पतिके लालन (फुसलाने)में प्रतीति करलेतीहै ।[४]

रसमञ्जरीकारने मध्याका एक भेद अतिविस्रब्धनवोढा कियाहै । शृङ्गारमञ्जरीकार उसे संगत नहीं मानते, क्योंकि नवोढात्व केवल मुग्धामें होताहै तथा अतिविस्रब्धत्व केवल प्रगल्भामें होताहै । मध्यामें वे दोनों धर्म नहीं होते । अत: मध्या अतिविस्रब्धनवोढा कैसे होगी ।[५] और यदि ऐसा मानाजाय कि जिसका प्रियके साथ प्रथम बार मिलन (संभोग) होताहै वह नवोढा है, और इस नियमके अनुसार यदि मध्याका प्रथम मिलन होता है तो वह अतिविस्रब्धनवोढा कही जायगी ।' तो इस नियमके अनुसार अतिप्रौढ़वयवाली राजकन्यायें आदि प्रथम मिलनमें नवोढ़ा ही कही जायंगी (जबकि वे प्रगल्भा ही होतीहैं), और गणिका भी प्रथम मिलनके समय नवोढा ही होगी ।[६] अत: शृंगारमञ्जरीकार मध्याका लक्षण देतेहैं—जिस स्वीया नायिकामें लज्जा और मदनके भाव समकोटिके हों वह मध्या कहीजातीहै ।[७] उसके दो प्रकार मिलतेहैं—प्रच्छन्नमध्या तथा प्रकाशमध्या ।[८] जिसके लज्जा और मदनकी समताको केवल उसका पति ही जानताहै वह प्रच्छन्नमध्या है ।[९] और प्रकाशमध्या वह है जिसकी लज्जा तथा अनुराग (मदन)की समताको सखियांआदि सब जानतीहै[१०] ।

प्रगल्भाका लक्षण रसमञ्जरीमें इसप्रकार दियागयाहै—केवल पतिके साथ केलिकलाप में कोविद प्रगल्भा कहलातीहै ।[११] इस लक्षण में 'पतिमात्र' पद नहीं रखनाचाहिए । क्योंकि फिर परकीया और सामान्याको प्रगल्भा नहीं कहाजायगा । और यह भी नहीं कहसकते कि

---

१. स्वकीययौवनोत्पत्ति या न जानाति सा अज्ञातयौवना— शृ० म०पृ० ४
२. स्वयौवनोत्पत्ति याजानाति सा ज्ञातयौवना—वही पृ० ४
३. लज्जाभयपराधीनरति:—वही पृ० ४
४. विश्वासाधिक्येपत्युर्लालने या प्रत्येति सा विस्रब्धनवोढा—वही पृ० ४
५. नवोढात्वं मुग्धायामेव अतिविस्रम्भश्च प्रगल्भायामेव तदुभयमपि मध्यायां नास्तीति मध्या अतिविस्रब्धनवोढा कथं भवेत् ।—वही, पृ० ४
६. वही पृ० ४
७. समानलज्जामदना—वही पृ० ४
८. सा द्विविधा-प्रच्छन्नमध्या प्रकाशमध्या च—वही पृ० ४
९. यस्या लज्जा-मनोज-साम्यं पतिरेवजानाति—वही पृ० ५
१०. यस्या लज्जानुरागसाम्यं सख्यादिभिर्ज्ञायते ।—वही पृ० ४
११. पतिमात्रविषयककेलीकलापकोविदाप्रगल्भा । र० म०

वे दोनों प्रगल्भा ही नहीं होतीं, क्योंकि मुग्धा मध्या तो वे हो नहीं सकतीं, अतः उनका केवल प्रगल्भा ही रूप माना जायगा[1]। इसलिए रसमञ्जरीकारका लक्षण स्वीया प्रगल्भा के पक्षमें तो ठीक होसकता है, किन्तु साधारण प्रगल्भाके पक्षमें नहीं। यहां आमोद-कारका यह लक्षण अधिक संगत एवं मान्य है—'जिसकी लज्जाको मदनभाव दबा रक्खे उसे प्रगल्भा कहतेहैं। आमोदमें प्रगल्भाका लक्षण इसप्रकार कियागया है—'मदनविजितलज्जावत्वं सम्पूर्णयौवनवत्वं वा तल्लक्षणम्।[2] यही लक्षण शृंगारमंजरीकारको भी स्वीकृत है। और स्वीया प्रगल्भाका लक्षण होगा—जो पतिका प्रेमसे लालनपालन करे उसे प्रगल्भा कहतेहैं।[3] प्रगल्भा दो प्रकारकी होतीहै—रतिप्रीतिमती तथा रत्यानन्दपरवशा। जो बार-बार पति-संगमका अभिलाष करे उसे रतिप्रीतिमती कहते हैं तथा जो संगममें संतुष्ट हो वह रत्यानन्द-परवशा है।

मध्या और प्रगल्भाके तीन भेद होतेहैं—धीरा, अधीरा तथा धीरा-धीरा—प्राचीन आचार्योंने ये धीरादिभेद स्वीयाके ही मानेहैं, परकीया और सामान्याके नहीं। रसमंजरी-कारका तो मत है कि चूंकि ये धीरादि भेद कोपजन्य होतेहैं, और जब कि परकीया तथा सामान्यामें भी कोप होता ही है, तो ये भेद उनके भी क्यों न होंगे।[4] किन्तु आमोदकारका मत इससे पृथक् है। परकीयाका अनुराग छिपा होता है, प्रकट नहीं। यद्यपि उस अनुरागमें भी कोप होताहै, किन्तु जब लोकापवादके भयसे वह अनुराग ही छिपायाजाताहै तो तज्जन्य कोप भला कैसे प्रकट होपायेगा। अथवा परकीया तथा उसके यार (जार)का संगम ही कठिनाईसे होपाताहै। फिर जब संगम हुआ तो वह तो यही समझतीहै कि मुझे प्रियसंगम रूप बड़ी दुर्लभ वस्तु प्राप्त हुई, और कोप होगा ही नहीं।[5] अतः परकीयाके ये भेद नहीं होतेहैं। इसविषयमें शृ० म०कारका अपना विचार कुछ इस प्रकार है—परकीया दो प्रकार की होतीहै—उद्बुद्धा तथा, उद्बोधिता। प्रथमतः स्वयम् अनुराग प्रारम्भ करनेवाली उद्बुद्धा कहलातीहै तथा नायकसे प्रेरित होकर अनुरागयुक्त होनेवाली उद्बो-धिता। ये दोनों अनुरावती होतीहैं। और जिसके प्रति ईर्ष्या होतीहै उसके प्रति मदन (अनुराग) भी होताहै इस सिद्धान्तके अनुसार यदि उनमें अनुराग (मदन) है तो कोप, ईर्ष्या की भी सम्भावना पूर्ण है। और अतएव कोपजन्य ये धीरादिभेद स्वभावतः होजायेंगे।

---

१. तयोर्मुग्धात्वमध्यात्वे विना प्रागल्भ्यानुभवस्य दुरपलापत्वात्।—शृं० म० पृ० ५

२. पृ० ६०   ३. पतिं प्रेम्णा या लालयति सा प्रगल्भा। शृं० म०

४. एतेषां भेदानां कोपजन्यत्वात् कोपः परकीयासामान्ययोर्वर्तत इति धीरादिभेदाः कथं न भवन्तीति।—वही पृ० ६

५. आमोदकाराः परकीयानुरागस्याप्रकटत्वात् तादृगनुरागस्य कोपजनकत्वेऽपि परकीयायां स्वानुरागः प्रच्छाद्यते इति तद्भवः कोपोऽपि परापवादभयेन प्रच्छाद्यत इति परकीया-जारयोः संगमस्य दुर्लभत्वात् संगमसमये अतिदुर्लभः प्रियसंगमएव मे लाभ इति कोप एव न जायते इतिहेतोर्वा परकीयायां नैते भेदा भवन्तीत्याहुः।—वही पृ० ६

आमोदकारका मत तो स्वयम् अनुराग करनेवाली उद्‌बुद्धाके विषयमें सही मानाजासकताहै। वह कोप नहीं कर सकती। किन्तु नायकसे प्रेरणा पाकर अनुराग करनेवाली उद्‌बोधिताके विषयमें ठीक नहीं—क्योंकि वह तो कोप करसकतीहै, दो चार वक्रोक्तियां तो सुनासकती है—खुल कर नहीं, एकान्तमें ही सही। परकीयाका तो संगम ही एकान्तमें होताहै। अतः एकान्तके आधार पर परकीयाके वक्रोक्तितर्जन और अतएव धीराआदि भेद सभव होजातेहैं। और, आमोदकारने ही परकीयाके पतिवंचिका तथा साहसिका इन दो भेदोंकी कल्पना कीहै। यदि उसमें वञ्चन और साहस है तो कोपके होनेमें क्या आश्चर्य है? और जब सामान्याओंतकके भी धीराआदि भेद होतेहैं तो फिर परकीयाके तो होनेहीचाहिए। आमोदकारने तथा अन्य प्राचीनोंने भी इसे माना ही है। और फिर यह तो अनुभवकी बात है कि वक्रोक्ति आदिको सुनानेसे रतिके प्रति उदासीनभाव तो उनका हो ही जायगा। अतः उनके ये धीरा आदि भेद माने ही जानेचाहिए।

शृंगारमञ्जरीमें परकीयाके लक्षणका बड़े बिस्तारके साथ विवेचन कियागयाहै। रसमंजरीकारने परकीया का लक्षण कियाहै—जिसका परपुरुषानुराग प्रकट न हो (अप्रकटपरपुरुषानुरागा परकीयेति)। किन्तु शृंगारमंजरीकारका कहना है कि यह ठीक लक्षण नहीं है, क्योंकि परकीयाके 'लक्षिता' तथा 'कुलटा' भेदोंमें जिनका अनुराग सखियां तथा अन्य लोग जानलेतेहैं, यह लक्षण लागू न होगा, अतः अव्याप्ति दोषसे दूषित होगा[1] कुछ लोगोंने इस 'अप्रकट' पदका केवल पतिको प्रकट न हो यह अर्थ किया हैं। किन्तु वह भी संगत नहीं, क्योंकि जिसके परपुरुषानुरागको जानते हुए भी पति उसके कारण फिर भी नहीं त्यागता वह परकीया तो फिर इस लक्षणसे बाहर होजायगी।[2] यहां एक प्रश्न उठसकताहै कि यह तो परपुरुषानुरागणीहै, पति इसे केवल अपनी ओरसे अपनाये हुएहै। अतः पतिका उसके प्रति यह अनुराग (अनुभयनिष्ठ होनेके कारण) रसाभास ही कहलायेगा, और वह उसका आलम्बन विभाव होनेके कारण नायिकाभास तथा परकीयाभास होगी।[3] किन्तु इसका समाधान यह है कि वह तो इसलिए परकीया कहीजातीहै कि उपपतिमें उसका गाढानुराग है। वस्तुतस्तु पति ही पत्याभास है। वह तो परकीया वास्तविक रूप से है, परकीयाभास नहीं।[4] जो पतिके

---

१. लक्षिता-कुलटयो रनुरागस्य सख्यादिषु इतरेषु च प्रकटत्वादव्याप्तेः —शृ० म०

२. पत्यापि ज्ञातपरपुरुषानुरागा प्रेमातिशयेन तेन चापरित्यक्ता या सुन्दरी तस्यामव्याप्ते —वही

३. नन्वियंपरपुरुषानुरागिणी पत्या सङ्गृहीतेत्येतद्अनुरागस्य रसाभासत्वात्तदालम्बनविभावस्य नायिका-भासत्वाच्च परकीया-भासत्वं भवितु मर्हतीति चेत्—वही

४. इयमुपपतौ गाढ़ानुरागवती परकीया भवत्येव। पतिरेतादृशीं सङ्गृहीतवान् इति स एव पत्याभासो भवितुर्महति न तु सा परकीयाभासः।—वही

समक्ष ही पतिवंचना करतीहै उसे परकीयाभास तो नहीं कहाजाता, तो फिर इसे क्यों परकीयाभास काहाजायगा ?[1]

आमोदकारने इस परकीयालक्षणका समर्थन इसप्रकार कियाहै कि 'अप्रकट' परपुरुषानुरागके अत्यन्त अभावका अधिकरण न होना परकीयालक्षण है।[2] इसका आशय यह है कि जिस क्षण युवतीमें उपपतिके प्रति प्रेमभाव का उदय होताहै, उस समय तो कोई दूसरा जानता नहीं, अतः उसमें अप्रकटपरपुरुषानुराग का अत्यन्ताभाव तो न हुआ। क्षणमात्र भी उसका अनुराग अप्रकटरूपमें रहा तो पर्याप्त है—उसका अत्यन्ताभाव तो न कहा जायगा। किन्तु परकीया को जो परगुणश्रवणसे अनुराग उत्पन्न होताहै, उसमें अप्रकटपरपुरुषानुरागका अन्यन्ताभाव ही है, क्योंकि नायकके सौन्दर्यादिगुणोंको सुननेकी ही वेलासे उसकी चेष्टा सखियोंको तो प्रकट ही होजातीहै। और फिर, 'क्षण भरको भी अनुरागका प्रकट न होना' यह लक्षण करना ही उपहासास्पदहै, क्योंकि जबतक उसके परपुरुषानुरागका प्रकटीकरण न होगा तबतक उसे कोई परकीया कहेगा भी कैसे। जो परसे अनुराग करतीहै उसीको तो परकीया कहाजाताहै। जब वह अनुराग ही छिपाहै तो फिर लोग जानेंगे कैसे कि यह अन्य पुरुषसे अनुराग करतीहै—तबतो वह स्वीया अपने परिणेताकी ही है। अतः परकीयाके लक्षणमें 'अप्रकट' सर्वथा असंगत अथवा व्यर्थ है।अतः शृंगारमञ्जरीकार परकीयाका अपना लक्षण कहतेहैं —'जो परपुरुषमें अनुरक्ता हो उसे परकीया कहतेहैं'[3]। यहां एक प्रश्न उठताहै कि फिर अप्रकट पद न रखनेपर परकीया और सामान्यामें क्या अन्तर रहजायगा? उसका समाधान यह है कि सामान्याके मनमें तो कोई स्व कोई पर ऐसा विचार ही नहीं होता। अतः उससे भेदकेलिए तो परकीयाके विषयमें प्रयुक्त 'स्व' 'पर' शब्द ही पर्याप्त होंगे। परकीयाके कन्यकाभेद में यह लक्षण इसप्रकार लागू होगा कि कन्या अपने मातापिताके अधीन होतीहै—कन्यकाके जिस अनुरागपात्रको वे भी स्वीकारकरलेंगे वह तो उसका पति होगा, और अन्य अनुरागपात्र परपुरुष अथवा (उपपति) कहलायेगा। अन्य कोई भी परकीया स्वीया नहीं बनेगी—परकीया ही रहेगी—किन्तु कन्यका जिससे अनुराग करतीहै, यदि उसके माता-पिताने उसीको देदिया तो उसकी स्वीया हो जायगी जैसा—यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः आदि पदोंमें वर्णितहै।

परकीया दोप्रकारकी प्रसिद्ध ही हैं—कन्या तथा परोढा। अबतक आचार्योंने कन्याके अतिरिक्त परकीयाके सभी भेदोंको परोढामें ही अन्तर्भूत कियाथा। शृ० म०कारने अपनी ओरसे मौलिक रूपमें परकीयाके उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता—इन दो भेदोंकी कल्पना की है।[4] उनका विवेचन कुछ इसप्रकार हुआहै—पहले परकीयाके दो भेद—कन्या तथा परोढा।

१. या पतिवंचिका पत्युः समक्षमेव पतिवंचनांकरोति सा परकीयाभासो न भवति, इयमेव कथं परकीयाभासः – शृ० म०

२. अप्रकटपरपुरुषानुरागात्यन्ताभावानधिकरणत्वं परकीयात्वम्—आमोद

३. परपुरुषानुरक्तापरकीया—शृ० म०

४. प्राचीनग्रन्थवर्णितम् उद्बुद्धा उद्बोधिता इति भेदद्वयं कल्पितमस्माभिः—वही

फिर परोढा दोप्रकारकी—उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता। उद्बोधिता भी तीन प्रकारकी—धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा। उद्बुद्धाके भी तीन प्रकार—गुप्ता, निपुणा तथा लक्षिता। गुप्ता भी तीनप्रकारकी वृत्तसुरतगोपना, वर्तिष्यमाणसुरतगोपना तथा वृत्तवर्तिष्यमाणसुरत-गोपना। निपुणाके भी तीनप्रकार वाङ्निपुणा, क्रियानिपुणा तथा पतिवंचनानिपुणा। लक्षिता भी चार प्रकारकी होतीहै—कुलटा, मुदिता, अनुशयाना तथा साहसिका। अनु-शयाना के भी तीन प्रकार—विघटितसंकेता, अप्राप्तभाविसंकेता तथा शंकितसंकेतजारगमना। इसप्रकार सब मुख्यअवान्तर भेद मिलकर संख्यामें पच्चीस होंतेहैं।[1] परकीयाका इतने विस्तारसे विवेचन करना शृ० म०की अपनी मौलिक उद्भावना है। इनके लक्षण तो प्रायः उन पदोंसे ही स्पष्ट होजातेहैं, फिर भी शृ०म० कारने उन्हें इसप्रकार विवेचित कियाहै—उद्बोधिता वह है, जो नायक द्वारा किसीप्रकार प्रेरणा (इशारा) पाकर अनुराग करतीहै।[2] जो नायकके सौन्दर्यको देखकर स्वयम् अनुरागिणी होजाय वह उद्बुद्धा कहलाती है[3]। जो अपने (सुरत) कार्यको छिपानेवाली हो उसे गुप्ता कहतेहैं—(स्वकार्यगोपनशीला)। निपुणा वह है, जो जारिणी होनेमें बड़ी कुशल हो—इसीको स्वयंदूती भी कहतेहैं।[4] आमोद-कारने उसे चतुरा कहाहै।[5] वाङ्निपुणा वह है, जो अपनी सुरतेच्छाको अपने वाक्चातुर्यसे ज्ञापित करती है—(सुरतेच्छां वाक्चातुर्येण या ज्ञापयति)। जो क्रियाओं अथवा चेष्टाओंसे अपनी सुरतेच्छाको प्रकट करतीहै वह क्रियानिपुणा है। और पतिवंचनानिपुणा वह है जो पतिके देखते-देखते अथवा पतिका अनादर कर उपपतिके साथ सम्भोग करलेतीहै।[6] जिसके उपपतिउपभोगको सखियां जानतीहों वह लक्षिता है।[7] प्रच्छन्नलक्षिता वह है, जिसके परपुरुषानुरागको सखियांआदि अपनी बुद्धिसे विचारकर ताड़लेतीहैं।[8] और जिसकी कटाक्ष आदि चेष्टाओंद्वारा लोगोंको उसके उपपतिअनुरागका स्फुट ज्ञान होजाय उसे प्रकाशलक्षिता कहतेहैं।[9] इसमें कुलटा वह है जो उपपतिके घरोंको जायाकरे (जारकुलाटनशीला)। जो अपने इष्टको पाकर हर्षित होतीहै उसे मुदिता कहतेहैं।[10] इसीप्रकार लक्षिताका एक भेद

---

१. एवं मुख्यावान्तरभेदाश्च पंचविंशति-संख्याका भवन्ति। —शृ० म०
२. केनचित् प्रकारेण नायकप्रेरितानुरागवती। —वही
३. नायकसौन्दर्यं दृष्ट्वायास्वयमेवानुरागिणी—वही
४. जारिणीवर्तनचतुरानिपुणा। सैव स्वयंदूती—वही
५. पुंश्चलीभावे चतुरा विदग्धा। एषैव स्वयंदुतीत्युच्यते—आमोद
६. पश्यत्येव पत्यौ जारसम्भोगकारिणी—वही १०
७. सख्यादिज्ञातजारसम्भोगा लक्षिता।—वही
८. सख्यादिभिः स्वबुद्ध्या आलोच्य परपुरुषानुरागिणी या बुद्ध्यते—वही पृ० ११
९. कटाक्षादिचेष्टाभिर्लोकैः स्फुटविज्ञायमानजारानुरागा।—वही
१०. इष्टप्राप्त्या या हर्षं प्राप्नोति।—वही

अनुशयाना होताहै, जिसका लक्षण है—संकेतकी सम्प्राप्तिके अभावसे जो व्याकुल हो।[१] शृ०म०-कारका कहनाहै कि इसके बहुतसे भेद कल्पित किये जासकतेहैं। रसमंजरीमें तीन भेद कहे-गयेहैं। इसविषयमें अमोदकारप्रौढचिन्तक हैं। उन्होंने बहुतर भेद कियेहैं। शृ०म०कारने ग्रन्थविस्तारके भयसे तीन ही भेद किये। प्राचीनकालके किसी भी लक्षणग्रन्थमें तो अनुश-याना के तीन भेदोंका भी नाम नहीं है। इनके तीन भेद इसप्रकार हैं—विघटितसंकेता, अप्राप्त-भाविसंकेता तथा शङ्कितसङ्केतजारगमना। इनके लक्षण प्रायः इनके नामके पदोंसे स्पष्ट होजातेहैं। साहसिका नायिका वह है जो साहस के साथ परपुरुषसम्भोग करे।[२]

सामान्याके विवेचनमें भी शृंगारमञ्जरीकारने पर्याप्त विस्तार एवं मौलिकता दिखाईहै। रसमञ्जरीकारने जो केवल वित्तकेलिए सभी पुरुषोंसे अनुराग करे उसे सामान्या कहाहै। शृ०मं०में उस लक्षणको सदोष (असंभवदोषयुक्त) मानागयाहै, क्योंकि जो अनुराग वित्त के लिए किया जाताहै वह वस्तुतः अनुराग ही नहीं है, और अनुराग तो एकहीसे किया जासकताहै, बहुतोंके साथ जो मनका लगाव होताहै वह अनुराग नहीं, अनुरागाभास है। अतः ऐसा लक्षण करनेपर (अर्थात् उसे अनुरागाभास या रत्याभासका आश्रय बनानेपर) तो सामान्याको नायिकाकोटिसे ही पृथक् करनापड़ेगा।[३] कुछ लोगोंने इच्छाको ही अनुराग माना-है। और वेश्यामें भी वित्तकेलिए पुरुषेच्छारूप अनुराग तो रहता ही है, अतः वह क्यों न नायिका होगी? किन्तु शृ०म०कारका कहनाहै कि यह ठीक भी नहीं, क्योंकि अनुराग तो केवल वह इच्छा कहलातीहै जो स्त्री-पुरुषकी सौन्दर्यआदि गुणोंको देखकर परस्पर रतिइच्छा-रूपमें उत्पन्न होतीहै। शृंगारग्रन्थोंमें इसी इच्छाको अनुराग कहागयाहै, दूसरी किसीको नहीं।[४] बन्धुपुत्रआदिके विषयमें जो इच्छा होतीहै उसे ममता कहतेहैं, गुरुओंके विषयमें जो इच्छा होतीहै उसे भक्ति कहतेहैं। इसी प्रकार इच्छाको अनेक नाम दियेजातेहैं। अब इच्छा-मात्रको ही यदि अनुराग कहतेहैं तो सभी स्वीया नायिकायें परकीया कहीजानीचाहिएँ, क्योंकि उनकी भी तो विविध इच्छाएं होतीहैं।[५] आमोदकारका मत है कि सामान्या जितनेसमय किसी एकमें अनुरक्त रहतीहै, उतनेसमयतक दूसरेसे अनुराग नहीं करती, अतः उनके अनुराग-

---

१. संकेतसंप्राप्त्यभावेनव्याकुला—शृ०मं०   २. साहसकृतजारसंभोगा—वही

३. रसमंञ्जरीकारः वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्येतिलक्षणमाह तदसत् वित्तो-पाधिकत्वात्तस्या अनुराग एव नास्ति। तथा लक्षणस्यासमन्वय इत्यसंभवः। अन्यच्च, अनुरागस्त्वेकत्रैव, बहुपुरुषेषु यो मनस्संगःसोनुराग एव न भवति, किन्तु अनुरागा-भासः। एतादृशे लक्षणे क्रियमाणे सामान्या नायिकैव न भवति।—वही

४. वही

५. बन्धुपुत्रादिषु येच्छा सा ममतोच्यते, गुरुष्येच्छा सा भक्तिरित्युच्यते, एवमिच्छा नाना-नामानि लभते। इच्छामात्रमनुरागश्चेत् सर्वा अपि स्वीयाः परकीयाः स्युः तासामपि नानाविधेच्छाया विद्यमानत्वात्—वही

को रसाभास न समझनाचाहिए।[1] शृ०म०कार इसका भी प्रतिवाद करतेहैं—उनका कहनाहै कि अनुराग तो वह है, जिसके(एकके प्रति) रहनेपर दूसरेके प्रति इच्छा ही नहीं होती, अन्यथा तो उसे अनुराग ही नहीं कहेंगे। अनेक पुरुषोंके प्रति जो हो वह कैसा अनुराग? अब प्रश्न उठताहै कि (यदि अनेकपुरुषानुरागको रसाभास ही मानाजाताहै तो) फिर बहुपुरुषानुरक्त कुलटाके अनुरागको रसाभास क्यों नहीं मानाजाता? इसका समाधान केवल यह है कि कुलटा का अनुराग तो जो उसके साथ गाढरति वाला होताहै उसीके प्रति होताहै। उसप्रकारके पुरुष की खोजमें ही उसका अनेकोंके साथ संगम होताहै—इसका उदाहरण स्वयं अमोदकारका ही यह।श्लोक है—

रतिसुखलालसया सकलयुवानः परीक्षिताहि मया। हृदयानुरंजनविधौ मधुरिपुणा कस्समोभवेत्॥

इसीप्रकार सामान्याका भी अनुराग एकहीसे होताहै, उसका अनेकपुरुषोंके साथ संगम तो जीविकाकेलिए होताहै। इस तथ्यकी पुष्टि उस प्राचीन आन्ध्रभाषाकी कवितासे भी होतीहै, जिसका यह अर्थ है—सामान्याका अनुराग कहीं नहीं होता यह तो न समझनेवाला कहताहै। वह अनुराग सहजरूपसे किसीके प्रति गुप्तरूपमें रहताहै। दिखावटी कपट, अनुराग तो बहुतोंके प्रति रहताहै। शृ० म०में सामान्याका विवेचन कुछ अधिक विस्तारके साथ किया गयाहै। रसमंजरीके लक्षणकी कटु आलोचना करतेहुए शृ०म०कार कहतेहैं—केवल वित्तके-लिए सभी पुरुषोंसे अनुराग करनेवाली सामान्या[2] होतीहै' यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि जो अनुराग वित्तकेलिए होगा वह अनुराग ही नहीं कहा जायगा[3]। और फिर, अनुराग तो ऐसा भावहै जो एकही में होताहै। वह अनुराग तो है नहीं। हां, अनुरागाभास अवश्य कहा-जासकताहै। और ऐसा लक्षण करनेपर, अर्थात् जिसमें अनुराग नहीं, उस सामान्याको काव्य-शास्त्रमें नायिकारूप माना ही न जायगा। कुछ आचर्योंने इच्छाको ही अनुराग मानलियाहै और सामान्यामें, वित्तके निमित्त ही सही, पुरुषेच्छा तो रहतीहीहै, अतः उसकावह अनुराग ही मानाजायगा, और इसप्रकार सामान्याके नायिकात्वको अक्षुण्ण मानाहै।[4] किन्तु शृ०म०कारने उसे भी ठीक नहीं कहाहै। इनका मत है कि इच्छायें तो अनेक प्रकारकी होतीहैं, किन्तु उनमें भी सभीको अनुराग नहीं कहते। अनुराग तो केवल स्त्रीपुरुष की, परस्परके सौन्दर्य-आदि गुणोंको देखकर उत्पन्न हुई रतीच्छाकोही कहतेहैं। यही शृंगारग्रन्थोंकी मान्यता है।[5]

---

१. वित्ताद्युपाधिना सर्वसाधारण्या अपि यावत्कालम् एकस्मिन् पुरुषेऽनुराग स्तावत्कालं नान्यत्रेति बहुसक्तिकृतोऽपि न रसाभासः—आमोद, पृ० २३१

२. वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्या—शृ० म०

३. वित्तोपाधिकत्वात्तस्या अनुरागएवनास्ति—वही

४. केचिदिच्छैवानुराग इति वित्तनिमित्तक पुरुषेच्छारूपानुरागस्य विद्यमानत्वात् कथं न नायिका भवेदित्याहुः—वही

५. इच्छाया बहुविधत्वेऽपि सौन्दर्यादिगुणं दृष्टवास्त्रीपुरुषयोः परस्परं रतीच्छैवानुरागो भवति। शृंगारग्रन्थेष्वियमेवेच्छा अनुरागत्वेनोच्यते। नान्या—वही

आमोदमें भी यही मत इन शब्दोंमें कहागयाहै।[१] बन्धुपुत्रआदिके प्रति जो इच्छा होतीहै उसे ममता कहतेहैं, गुरुजनोंके प्रति जो इच्छा होतीहै उसे भक्ति कहतेहैं। इसीप्रकार इच्छाके अनेक नाम होतेहैं। और यदि सभीप्रकार की इच्छाओंको अनुराग कहाजाय तो सभी स्वीया नायिकाएं परकीया होजायंगी—क्यों कि उनकी भी तो अनेकप्रकारकी इच्छायें (अनेकप्रकार-के लोगोंके साथ) होतीहैं[२]। आमोदकारने सामान्याके अनुरागको वास्तविक अनुराग इसलिए मानाहै कि सामान्या जितने समयतक जिससे संगत रहतीहै उतने समयतक उसीसे अनुराग करतीहै। अतः उसके अनुराको रसाभास नहीं कहनाचाहिए[३]। किन्तु शृ०म०में इसे भी ठीक नहीं मानागयाहै, क्योंकि अनुराग तो वह है जिससे किसीके प्रति रहनेपर फिर दूसरेके प्रति वह इच्छा ही न उत्पन्न हो, नहीं तो वह अनुराग ही नहीं है। जो अनेकोंमें है वह अनुराग ही क्या[४]? यहां एक शंका उठसकतीहै कि इसप्रकार तो अनेक पुरुषोंमें अनुरक्त रहने वाली कुलटा (परकीया) का अनुराग फिर रसाभास मानाजानाचाहिए। किन्तु इसका समाधान यह है कि उसका गाढ़रति करनेवालेमें तो अनुराग रहता ही है, और उसप्रकारके पुरुषको पानेकेलिए ही वह अनेकोंके साथ संगम करतीहै। अतः यही माननाचाहिए कि सामान्याका भी अनुराग तो एकके ही साथ रहताहै, अनेकके साथ संगम अपनी वृत्ति या जीविका चलानेकेलिए होताहै।[५] शृ०म०में सामान्याको आमोदकारकी भांति नायिकाकी एक जाति नहीं मानीहै। आमोदकारने अपने मूल ग्रन्थके वित्तमात्रकेलिए अनुरागवाले सामान्याके लक्षणमें वित्तमात्र यह पद केवल मानवी वेश्याओंकेलिए तो सही मानाहै, किन्तु देववेश्याओंको तो वित्तकी कोई इच्छा ही नहीं। अतः वेश्या एक जाति ही मानीजानीचाहिए। और यही लक्षण स्वर्वेश्याओंमें भी चरितार्थ होगा[६]। शृ०म०कारने उसे युक्तियुक्त नहीं मानाहै, क्योंकि तीनप्रकारकी शृगारनायिकाओंमें स्वकीया और परकीयामें तो गुण या धर्ममें भेदकेकारण भेद मानागया और सामान्यामें जातिके कारण मानना क्रमभंग होजायगा। यदि जातिकी

---

१. अत्र सुरतानुकूलस्यैवानुरगस्य विवक्षितत्वादिति—आमोद

२. इच्छामात्रमनुरागश्चेत् सर्वाअपि स्वीयाः परकीयाः स्युः तासामपिनानाविधेच्छाविद्यमान-त्वात्—शृ० म०

३. अत्रामोदकाराः सामान्या प्रत्येकं यावत् कालपर्यन्तं येन संगता तावत्कालपर्यन्तं तस्मिन्नेवानुरागवती तस्यां न रसाभास इति। वही

४. यस्मिन् सत्यपरस्मिन्निच्छैव चेन्न सोऽनुरागः। अन्यथानानुरागः। अनेकेषु पुरुषेषु यः स किमनुरागः?—वही

५. सामान्याप्येकत्रैवानुरागिणी, बहुपुरुषसंगमो वृत्त्यर्थः—वही

६. अत्र वयं ब्रूमः—वित्तमात्रेत्यादिकं तु मूलकारोक्तं मनुष्यवेश्यालक्षणम्। देववेश्यानुगतं लक्षणं तु वेश्यात्वजातिरिव—आमोद

दृष्टिसे नायिकाभेद कियाजाय तो दिव्य, अदिव्य, तथा दिव्यादिव्य भेदोंके द्वारा नायिकाके अनन्त भेद होंगे[1]।

आमोदकारने रसमञ्जरीकारके सामान्यालक्षण (वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागवती सामान्या) में 'मात्र' पदका यह प्रयोजन बतायाहै कि जो सकलपुरुषानुराग करनेवाली परकीया भी यदि (गुणका लोभ न कर केवल) वित्त ग्रहण करती है तो वह भी सामान्या ही कहीजायगी[2]। किन्तु शृ० म०कारने उसे ठीक नहीं कहाहै, क्योंकि परकीयाके संभोगमें द्रव्य पैदा करना निमित्त नहीं है, किन्तु स्नेह ही है। नहीं तो घरके कार्योंकेलिए अपने पतिसे वित्त लेनेवाली स्वीयाकी भी गणना सामान्या में होनीचाहिए। अतः मात्रपदका कोईप्रयोजन नहीं। अतएव हम सामान्याका यह लक्षण करतेहैं कि जो विना परिणयरूपफलको निमित्त बनाये अनेकके साथ सम्भोग करे उसे सामान्या कहतेहैं। इसका एक पुरुषमें तो सहज अनुराग होताहै और उसके साथ प्रीति ही फल या निमित्तहै, अन्यके साथ वित्तनिमित्तक इच्छा रहती है, अनुराग नहीं। अतः सामान्या में रसाभास नहीं माननाचाहिए। स्वर्गकी वेश्यायें भी इस लक्षणसे गृहीत होजायेंगी[3]। शृ०म०कारका कहनाहै कि सामान्याके पाँचभेद होतेहैं, जो किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं मिलेंगे—स्वतन्त्रा, जनन्यधीना, नियमिता, क्लृप्तानुरागा तथा कल्पितानुरागा। यहां एक सन्देह होताहै कि कल्पितानुरागाका तो अनुराग कल्पित होताहै, सहज नहीं, फिर उसे नायिका कैसे मानाजायगा ! इसका समाधान यह कि सामान्या कहीं तो सहजानुराग ही रखतीहै, अन्यत्र अनुराग न रहनेपर भी वित्त लेनेकेलिए अनुरागका प्रदर्शन करतीहै। अब यदि इसमें अनुरागकी सत्ता न मानीजायगी तो किसीके साथ उसका अभिनय भी वह किस प्रकार करपायेगी। वस्तुतस्तु सामान्याके भेदोंकी मीमांसा कुछ इसप्रकार होगी—जिसके साथ अनुराग करतीहै उसके प्रति तो क्लृप्तानुरागा कहलातीहै, किन्तु वित्त ग्रहणकेलिए जहां अनुरागका अभिनय करतीहै उसके प्रति कल्पितानुरागा कहीजातीहै। जब अपने सभी प्रयोजनों (Affairs) का स्वयं देखरेख करनेवाली होतीहै तो स्वतन्त्रा कहलातीहै। वही जब माताके अधीन रहतीहै तो जनन्यधीना बोलीजातीहै। जब कोई ख़ास व्यक्ति उसको कहीं नियत करताहै तब नियमिता कहलातीहै। जब कहीं स्वयम् अनुरक्ता होतीहै तो क्लृप्तानुरागा कहलातीहै। और जब धनप्राप्तिकेलिए किसीके साथ अनुरागका अभिनय करतीहै तो कल्पितानुरागा कहलातीहै। यदि चेष्टाभेदके कारण ही नायिकाओंका भेद कियाजाताहै तो

---

१. तन्न युक्तम्। स्वकीयापरकीययोर्गुणभेदेननायिकात्वम्, सामान्याया जात्येति क्रमभंगात् जात्येवनायिकाभेदनिरूपणे दिव्य-अदिव्य-दिव्यादिव्यादिभेदेननायिकानन्त्यं स्यात् —शृ०म०।

२. या वित्तंगृहीत्वापि परकीया संभावितसकलपुरुषानुरागवतीसापिसामान्यास्यात्।—वही

३. वही

सामान्याके भी पाँच भेद पूर्वोक्त प्रकारसे होंगे ही[1] और मदनके साथ ईर्ष्या भी रहतीहै। इससिद्धान्तके अनुसार (ईर्ष्यादिमूलक) धीराआदि भेद भी सामान्याके होतेहैं, यह स्वीयाप्रकरण में ही कहचुकेहैं[2]। तदनन्तर स्वीया, परकीया तथा सामान्याके साधारण भेदोंका निरूपण कियागयाहै। रसमंजरीकारने इसमें प्रत्येकके अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता तथा मानवती ये तीन भेद कियेथे। शृ०मं०कारने इसका खण्डन कियाहै। उनका कहनाहै कि चूंकि अन्यसंम्भोगदुः खिता तथा मानवती ये दोनों भेद कोपजन्य हैं। अतः वे खण्डिताके ही प्रकारान्तर मानेजानेचाहिए। अब बची केवल वक्रोक्तिगर्विता, जो अकेले भेद तो नहीं बन सकती, अतः उसे स्वाधीनपतिका आदि साधारणभेदोंके साथ नवां भेद मानना ठीक होगा। वे नौ भेद इसप्रकार होंगे—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जिका, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, वक्रोक्तिगर्विता, कलहान्तरिता, प्रोषितर्तृका तथा अभिसारिका। शृंगारमञ्जरीमें इन नवों प्रकारोंकी नायिकाओंका अन्य आचार्योंकी अपेक्षा कुछ विशिष्ट ढंगसे लक्षण किया-गयाहै। रसमञ्जरीमें उसे स्वाधीनपतिका कहाहै, जिसका प्रियतम उसके अभिप्रायों एवं आज्ञाओंका सदा पालन करताहै। शृ०म०कारने इस लक्षणमें 'सदा' शब्दके प्रयोगको व्यर्थ बतायाहै—क्योंकि फिर उसके अन्य अवस्थाकृत (सात या आठ) भेद न हो सकेंगे-जबकि अवस्था-विशेषकृतरूप ही नायिकाभेदका प्रयोजक होताहै। अतः शृ०मं०में जिसका प्रिय उसके अनुकूल हो उसे स्वाधीनपतिका कहागयाहै।[3] प्राचीन आचार्योंने स्वाधीनपतिकाके धीराआदि भेदोंका परिगणन कियाथा। किन्तु शृ०मं०कार उसे ठीक नहीं समझते, क्योंकि स्वाधीनपतिकाका पति तो उसके अनुकूल ही रहताहै, अतः उसे कोप तो उत्पन्न नहीं होगा, फिर कोप या मान-मूलक ये भेद उसके कैसे सम्भव होंगे।[4] नायिकाभेदकी भिन्नता वस्तुतः उसकी विभिन्न अवस्थाओंके कारण मानीगईहै। जब पति अन्य नायिकाके कोपका हेतु होगा और कोपके उत्पन्न होनेपर अवस्थाभेद होजानेसे तो वह नायिका उस समय खण्डितावर्गमें गिनीजायगी। उसका तो स्वाधीनपतिकात्व ही नष्ट होजायगा। फिर स्वाधीनपतिकाके धीराआदि भेद कैसे होसकतेहैं। स्वाधीनपतिकाके दूतीवञ्चिका तथा भाविशंकिता—इन दो नवीन भेदोंकी कल्पना शृं०म०कारने कीहै।[5] इसप्रकार स्वाधीनपतिका कुल आठप्रकारकी होतीहै—स्वीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या, दूतीवञ्चिका तथा भाविशङ्कित्ता।[6] उनमें औरोंके लक्षण तो कहेजाचुकेहैं, केवल दो नये भेदोंका लक्षण यहां इसप्रकार कियागयाहै।

---

१. क्रियाभेदेन नायिकाभेद इत्यत्रापि सामान्याया पंच भेदाः कल्पिताः।—शृ० म०

२. वही पृ०१३

३. वयंत्वनुकूलप्रियास्वाधीनपतिकेतिलक्षणंब्रूमः।—वही

४. स्वाधीनपतिकायाः पत्युरनुकूलत्वात् कोपानुत्पत्तेः।—वही

५. स्वाधीनपतिकायाः दूतीवञ्चिका भाविशङ्कितेतिभेदद्वयं नवीनंकल्पितमस्माभिः।—वही

६. वही, पृ० १५

इनमें दूतीवञ्चिका उसे कहतेहैं, जो अपने प्रेमको छिपाकर परिहासकेलिए, प्रियकी सम्मतिसे झूठा मान प्रकटकर दूतीको ठगतीहै ।[1] और भाविशङ्किता वह है, जो प्रियसे संयुक्त होकर भी भावी शंका करतीहै ।[2]

वासकसज्जिका का लक्षण प्राचीन आचार्य (प्रतापरुद्रयशोभूषणकार) ने इसप्रकार किया है—जो प्रियके आगमन की वेलामें अपनेको तथा अपने क्रीडागृहको रहरहकर सजाती है उसे वासकसज्जिका कहतेहैं ।[3] निघण्टु (कोष)में 'वासक' के छः अर्थ दिये हैं—वार, ऋतु-काल, प्रवाससे आगमन, रुष्टा-प्रसादन, नायिका उत्सव तथा नवोढ़ाकी अभ्युपपत्ति(मिलाना) । चूंकि यहां प्रवाससे आनेकी क्रिया भी रहतीहैं, अतः नायिकाका तन्निमित्तक अवसितप्रवास-पतिकानामक भेद वासकसज्जिकामें ही अन्तर्भूत कियाजासकताहै ।[4] वस्तुतस्तु वासक-सज्जिका शब्दसे ही अवसितप्रवासपतिकाका वासकसज्जिकामें अन्तर्भाव सूचित होजाताहै । कुछ ग्रन्थकारोंने अवसितप्रवासपतिकाको प्रोषितभर्तृकामें अन्तर्भूत कियाहै, क्योंकि प्रियका परदेशगमनरूप कारण दोनोंका एकरूप ही होताहै । किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रोषित-भर्तृका बेचारी तो पतिके विदेश जानेके कारण उत्पन्न दुःखके वशमें होतीहै जब कि अवसित-प्रवासपतिका पतिके घर वापस आनेके आनन्दोल्लाससे पागल रहतीहै । यद्यपि पतिके आनेपर उसके सामने अवसितप्रवासपतिका अपने दुःखका वर्णन करतीहै और आँसू बहातीहै, अतः उसके मनमें दुःखकी सत्ता समझकर उसे प्रोषितभर्तृका ही समझनेका सन्देह होसकताहै । किन्तु ध्यानसे देखनेपर दोनोंमें अन्तर स्पष्ट समझपड़ताहै । अवसितप्रवासपतिकाके पतिके आनेपर आनन्द अथवा सन्तोषके आँसू बहतेहैं, वह पतिप्रवासजनित अपने दुःखकी रामकहानी कहतीहै, उस समय कोई दुःख नहीं होताहै, अपितु सुख ही रहताहै । अतः अवसितप्रवास-पतिकाका अन्तर्भाव प्रोषितभर्तृकामें नहीं होसकता । शृ०म०का कहनाहै कि अमोदकारने अवसितप्रवासपतिकाको, उसमें सन्तोषकी भावना होनेके कारण, स्वाधीनपतिकामें अन्तर्भूत कियाहै । आमोद टीकाने अपनी ओरसे अवसितप्रवासपतिका भेदकी उद्भावना नहीं कीहै । रसमंजरीमें आठप्रकारकी नायिकाओंका विवेचन होचुकनेके बाद प्रवत्स्यत्पतिकामक नवें प्रकारके प्रसंगमें इसभेदकाउल्लेख हुआहै । आमोदका कहनाहै कि विलासरत्नाकरमें प्रवत्स्य-पतिका भेदको नहीं स्वीकृत किया गयाहै, क्योंकि तब फिर अवसितप्रवासपतिकानामक एक

---

१. प्रेम संगोप्य परिहासार्थं प्रियसम्मत्या मायामानं प्रकटीकृत्य दूतीं या वंचयति सा दूतीवंचिका । —शृ० म०

२. प्रियेण संयुक्तापि भावनीं शंकां या करोति सा—वही

३. प्राचीनाः—प्रियागमनवेलायां मण्डयन्ती मुहुर्मुहुः । केलीगृहमथात्मानं सा स्याद्वासक सज्जिका । इति लक्षणमाहुः ।—वही

४. अत्र प्रवासादागतक्रियाया विद्यमानत्वात् अवसितप्रवासपतिका वासकसज्जिकाभ-वितुमर्हति ।—वही

दसवां भेद भी स्वीकार करनापड़ेगा। वहीं उस विलासरत्नाकरके आक्षेपके उत्तरमें आमोदने लिखाहै कि अवसितप्रवासपतिकाभेदका अन्तर्भाव तो स्वाधीनपतिकामें होसकताहै। वस्तुतस्तु आमोदकार केवल आठ ही भेदके पक्षमें हैं, क्योंकि अन्यथा अनेक भेदकी अव्यवस्थाका भय होसकताहै।" किन्तु वह भी उचित नहीं, क्योंकि स्वाधीनपतिकाको तो इतना ही सन्तोष होताहै कि प्रिय मुझे नहीं छोड़ सकताहै, मुझे अपने प्रियसे वियोग नहीं है और इसको तो प्रवाससे आये दुर्लभ प्रियतमके समागमसे महान् सन्तोष होताहै। अतः दोनोंमें बड़ा अन्तर हैं।[1] अतः निघण्टुसे सम्मत होनेके कारण अवसितप्रवासपतिकाको सब प्रकारसे वासकसज्जा ही कहा जा सकताहै। और फिर नायककी अनुकूलता रहनेपर नायिकाको स्वाधीनपतिका कहाजाताहै और अवसितप्रवासपतिकाको वासकसज्जा कहे जानेके कारण नायिकाका उत्सव (हर्ष) है[2]। अतः वासकसज्जिकाका लक्षण होगा—'जो नायककी अपेक्षासे सन्तोष अथवा आनन्दके साथ सयत्न हो'।[3]

विरहोत्कण्ठिताका लक्षण रसमंजरीकारने कुछ इसप्रकार कियाहै, 'संकेतस्थलपर प्रियके न आनेको कारण जो सोत्कण्ठ हो सोचे।'[4] किन्तु शृ०म०कारके अनुसार यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि फिर परिणयके पूर्व नलमें अनुराग करनेवाली मिलनके पूर्व ही उत्कण्ठिता दमयन्तीको विरहोत्कण्ठिता न कहाजायगा, और लक्षणमें अव्याप्तिदोष होगा।[5] और फिर, कहीं कार्यविलम्बसे घर आनेमें ही प्रियके विलम्ब करनेपर जो नायिका घरपर बैठी ही उत्कण्ठिता रहतीहै उसकाभी ग्रहण इस पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार न होसकेगा।[6] साथही अन्य अनेकपूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें किये गये विरहोत्कण्ठिताके लक्षणोंकी भी शृ०म०में सयुक्तिक समालोचना कीगईहै। यद्यपि उनकी चर्चा ऐतिहासिक क्रमसे नहीं हुईहै।

शृं०म०कारका कहना है कि वे सभी लक्षण प्रोषितभर्तृकामें भी अतिव्याप्त होजायेंगे, अतः ठीक[7] नहीं। अमोदकारने विरहोत्कण्ठिताका जो लक्षण दिया है—"अप्रोषित-अविप्रलम्भकप्रिय-सम्भोग-अभाव-कृतोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता," यह लक्षण भी इसलिए ठीक नहीं

---

१. स्वाधीनपतिकायास्त्वेतावानेव सन्तोषो यत् प्रियो मां न मुंचति, न मे प्रियवियोग इति। अस्यास्तु प्रवासादागतदुर्लभप्रियतमसमागमनसंभवमहासन्तोषसद्भावात् महान् भेदः—शृ०म०

२. अन्यच्च स्वाधीनपतिकात्वप्रयोजकं नायकानुकूलत्वम्, अवसितप्रवासपतिकाया वासकसज्जिकात्वप्रयोजकोनायिकोत्सवः—वही, पृ० १७

३. नायकापेक्षया सन्तोषकृतप्रयत्ना वासकसज्जिका—वही

४. संकेतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं चिन्तयति सोत्का—वही

५. परिणयात् पूर्वं नलं प्रत्यनुरागवत्यां संघटनात् प्रयनुत्कण्ठितायां दमयन्त्यामव्याप्तेः—वही

६. किं च कार्यविलम्बेन स्ववेश्मस्थितैव पत्युर्विरहवती योत्कण्ठिता तस्यामव्याप्तेः—वही

७. एतानिलक्षणानिसर्वाणिप्रोषितभर्तृकायां च सङ्कीर्णानीति न युक्तानि—वही

है कि यह विरुद्ध या भिन्नप्रकारकी नायिकाके विशेषणों द्वारा समझाया गयाहै।[1] अतः शृ०म०कारके अनुसार विरहोत्कण्ठिताका लक्षणहोगा—"अपने निवासपर ही जिस नायिकाको प्रियका कार्यान्तरमें व्यासक्तिके कारण, विरह हो उसे विरहोत्कण्ठिता कहतेहैं"।[2] इसके अनुसार दमयन्तीआदि तो विरहोत्कण्ठिताकोटिमें आजायँगी, किन्तु विप्रलब्धा तथा प्रोषित-भर्तृकामें उत्कात्व या उत्कण्ठा न होनेके कारण वे इससे पृथक् ही रहेंगी[3]।

प्राचीनोंने विरहोत्कण्ठिताके पांच प्रकार मानेहैं। किन्तु शृ०म०कारने शृंगाररसके अनुकूल उसके दो भेद कियेहैं—कार्यविलम्बितसुरता तथा अनुत्पन्नसंभोगा। फिर अनुत्पन्न-सम्भोगा भी चारप्रकारकी होतीहै—दर्शनानुतापिता, श्रवणानुतापिता, चित्रानुतापिता तथा स्वप्नानुतापिता। विरहोत्कण्ठितामें अतिप्रबल अनुराग होनेके कारण मुग्धाको छोड़कर मध्याआदि सभी भेद होतेहैं। कार्यविलम्बितसुरता वह है, जो कान्तके विलम्ब करनेपर रतिकेलिए खिन्न हो।[4] और अनुत्पन्नसम्भोगा वह है, जो भविष्यमें रतिके अभावको सोच-कर खिन्न हो।[5] और उसके पूर्वोक्त चारोंभेद भी क्रमसे प्रियको देखकर, सुनकर, चित्रमें देखकर तथा स्वप्नमें देखकर जो विरहाकुल होजाय, इस दृष्टिसे कियेगयेहैं।[6]

विप्रलब्धाका लक्षण रसमंजरीकारने इस प्रकार कियाहै—'संकेतस्थलपर प्रियको न देखकर समाकुलहृदयाको विप्रलब्धा कहतेहैं'। किन्तु शृ०म०के अनुसार यह ठीक लक्षण नहीं, क्योंकि जब स्वकीया और सामान्याको उसके अपने ही स्थानपर प्रिय वंचना करता है, कह कर नहीं मिलताहै, तो वे विप्रलब्धा होकर भी इस लक्षणके अनुसार न होसकेंगी। प्रतापरुद्रीयकारने विप्रलब्धाका लक्षण इस प्रकार कियाहै—'प्रिय कहीं संकेत देकर वंचित करे, उससे जो स्मरार्त होतीहै उसे विप्रलब्धा कहतेहैं।[7] किन्तु यह लक्षण केवल नायक-वञ्चिता परकीयामें घटित होताहै, न तो सखीवञ्चितामें और न ही अपने स्थानमें स्थित वञ्चिता स्वीयापरकीया तथा सामान्या में। अतः यह लक्षण ठीक नहीं। अतः शृ० म०में ऐसा लक्षण-किया गया—"जो सर्वविप्रलब्धामें चरितार्थ हो, जिसे वंचनाके कारण विरहवेदना मिलीहो, उसे विप्रलब्धा कहतेहैं।"[8] अमरकोशमें भी विप्रलम्भ शब्द वंचना, विसंवाद तथा विवाद

---

१. तदपि तद्भिन्नविशेषणविशिष्ठम् इतित्याज्यम्—शृ० म०

२. निवास एव कार्यान्तरव्यासङ्गप्रयुक्तप्रियविरहवतीविरहोत्कण्ठिता इति—वही

३. वही, पृ० १६

४. चिरयतिकान्ते रत्यर्थं या खिन्ना सा—वही

५. भविष्यद्रतिर्नास्तीति या खिद्यते सा भविष्यत्प्रियसङ्घटनापर्यन्तं विरहोत्कण्ठाकुला—वही

६. वही

७. क्वचित् संकेतमावेद्य दयितेनाथवञ्चिता। स्मरार्ता विप्रलब्धेति कलाविद्भिः प्रकीर्तिता—प्र०रु० १।४७

८. वञ्चनाप्रयुक्तविरहवेदनावतीविप्रलब्धा—शृ० म०

अर्थमें प्रयुक्त होताहै ? अतः यहां नायिकाके विप्रलब्धात्वकाका कारण वंचना ही है[1]। यद्यपि सम्प्रति उपलब्ध अमरकोशमें यह पाठ इसप्रकार का मिलताहै—'विप्रलम्भो विप्रयोगः ।'

विप्रलब्धा दो प्रकारकी होतीहै—नायकवंचिता तथा सखीवंचिता। इनमें प्रथम तो नायकसे वंचिता होतीहै, किन्तु दूसरी वह है, जिसकी सखी नायकको केलिस्थलपर लाकर कहीं छिपाकर परिहासकेलिए उससे वंचना करे[2]। 'आमोद' में सखीवंचिता भेद को नहीं मानाहै।

खण्डिताका लक्षण रसमञ्जरीकारने इस प्रकार कियाहै—जिसका पति प्रातः अन्य-सम्भोगचिह्नित आये।[3] किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जो नायकके अपराधको सुनतीहै, अथवा जिसका पति उसका अनादर कर अन्यत्र आसक्त होताहै, वे दोनों ही खण्डितायें, पूर्वोक्त लक्षणसे गृहीत न होसकेंगी।[4] और फिर नामके अनुकूल अथवा अन्वर्थलक्षण कल्पना होनीचाहिए।[5] 'खण्डिता' शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार होगी—खण्डका अर्थ है 'शकल' (टुकड़ा), उससे 'तारकादिभ्यइतच्' (पा० ५।२।३६) से इतच् प्रत्यय करने पर खण्डिता बनेगा, जिसका अर्थ होगा—कोप के कारण जिसका प्रेम टुकड़े-टुकड़े हो जाय।[6]। अब चूंकि शृंगार-प्रकरणमें यह शब्द प्रयुक्त हुआहै अतः इसका लक्षण होगा—'शृंगारनुकूल-कोपवाली नायिका।'[7] यह कोप भी चारप्रकारका उत्पन्न होताहै। और सभी कोपजन्य-नायिकाभेद 'खण्डिता' ही कहेजायेंगे। कोपकी उत्पत्तिके समय तो वह खण्डिता ही हैं, वही जब मान कररहीहोगी तो मानवती कहलायेगी, वही जब वक्रोक्तिआदि सुनाने लगतीहै तो धीराआदि रूपसे गिनीजातीहै, वही जब नायकके परोक्षमें सखियोंके सामने कोपप्रकाशन कियाकरतीहै, तो अन्यसम्भोगदुःखिता कहलातीहै।[8] यहां एक प्रश्न उठताहै, कि कलहा-न्तरिताको भी, प्रथम अवस्थामें कोप रहनेके कारण, खण्डिता में ही ग्रहण कर लिया जाय। इसका समाधान करतेहुए शृं० म०कार कहतेहैं कि माना कि कोपके समय वह खण्डिता है, किन्तु कलहके पश्चात्की अवस्थाको लेकरतो यह भेद कियागयाहै। कलहान्तरिता तो वह

---

१. विप्रलब्धस्यायमर्थोऽमरकोशे विप्रलम्भो वंचने स्याद् विसंवादविवादयोः इति—शृं० म०

२. सख्या नायकं क्वचिद् गोपयित्वा केलिस्थलमानीय परिहासार्थं वंचिता सखीवञ्चिता। —वही

३. अन्यसम्भोगचिह्नितः प्रातरागच्छति यस्या पतिः सा खण्डिता। र० म०

४. नायकापराधं या शृणोति, यामनादृत्य यस्याः पतिरन्यत्रासक्तस्ते उभे अपि खण्डिते भवतः तयोरिदंलक्षणमव्याप्तम्।—शृं० म०

५. अन्यच्च नामानुकूला कल्पना कार्याऽस्माभिः।—वही

६. कोपेनशकलीकृतप्रेमवती खण्डितेत्यर्थः—वही

७. शृंगारानुकूलकोपवती खण्डितेतिलक्षणंब्रूमः—वही

८. वही

तब कहलातीहै ही।[1] यहां 'कोप' और 'मान' शव्दका भी ठीक अर्थ समझलेना आवश्यक है। प्रियापराधके कारण उत्पन्न हुए कोप या क्रोधकी जो मौनआदि चेष्टा प्रियके प्रति होती है उसे मान कहतेहैं। अर्थात् मान कोपजन्य होताहै, कोप ही नहीं है। अतः कोपको ही मान कहना उचित न होगा।[2]

इस खण्डिताके पांच भेद होतेहैं—मानवती, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, तथा अन्यसम्भोग-दुःखिता। इन्हींमेंसे ईर्ष्यागर्विता भी एक भेद है, जो अन्यसम्भोगदुःखिताका मानाजायगा, और इसप्रकार खण्डिताके छः प्रकार होंगे। चूंकि मुग्धामें अनुरागकी प्रबलता रहतीहै, अतः उसका खण्डिता भेद सम्भव नहीं, यह शृ०म०कारकी अपनी मान्यता है।[3] शृ०म०में मान-वतीका निरूपण इसप्रकार कियागयाहै—प्रियके अपराधके कारण उत्पन्न कोपके कारण मौन को मान कहते हैं। ऐसा मान जिसे हो उसे मानवती कहतेहैं। वह मान तीन प्रकारका होताहैं—लघु, मध्य तथा गुरु। इन मानोंका लक्षण उनके शान्तिउपायको दृष्टिमें रखकर इसप्रकार किया गयाहै—विनोदवार्ताआदि, द्वारा प्रयत्नके बिना भी, जो दूर कियाजासके वह लघुमान है। जो शपथआदि बहुत प्रयत्न करनेपर हटे, वह मध्य मान है तथा जो (चरण) वन्दना आदि अत्यधिक प्रयत्नोंसे दूर कियाजासके, वह गुरु मान कहागयाहै।[4] धीरा वह है, जो वक्रोक्तियों द्वारा अपने व्यंग्यको प्रकाशित करे।[5] अधीरा जो अपने कोपको सीधे विना व्यंग्यरूपका सहारा लिए प्रकाशित करे; और धीराधीरा वह है, जो व्यंग्य तथा अव्यंग्य दोनों रूपसे अपने कोपको प्रकाशित करे। अन्यसम्भोगदुःखिताको प्राचीन आचार्योंने केवल दूती-सम्भोगदुःखितारूप ही मानाथा। किन्तु 'अन्य' शव्द केवल दूतीका ही पर्याय तो है नहीं, अतः अपनेसे इतर नायिकाके साथ सम्भोग यही अर्थ अन्यसम्भोग शब्दका होगा।[6] अन्यसम्भोग-दुःखिता तीन प्रकारकी होतीहै—दूतीसम्भोगदुःखिता, दूतीसमासक्तिदुःखिता तथा इतररति-श्रुतिखिन्ना। शृ०म०कार इसी अन्यसंभोगदुःखिताका ही एक चौथा प्रकार भी मानते हैं—ईर्ष्यागर्विता।[7] अन्यसम्भोगदुःखिता स्वभावसे नायकके परोक्षमें अपने कोपको प्रकाशित करतीहै।[8] ईर्ष्यागर्विता भी नायकके परोक्षमें ही नायकविषयक कोपवक्रोक्ति द्वारा प्रका-शित करती है।[9]

---

१. कलहोपशमने सति भेदस्यभिन्नत्वात् खण्डिता कथं स्यात्। कोपसमये खण्डितैव। अवस्थाभेदेन कलहान्तरिता—शृ०म० २. वही

३. मुग्धानुरागस्य प्राबल्यभावान्मुग्धायां खण्डिताभेदो न इत्यस्माभिरुच्यते।—वही

४. वही पृ० २५ ५. वक्रोक्तिव्यङ्ग्यप्रकाशिकाधीरा—वही

६. वही

७. इतः परम् ईर्ष्यागर्वितेति भेदान्तरमस्माभिः कल्पितमितिचतुर्धा।—वही

८. नायकपरोक्षकोपप्रकाशनशीला।—वही

९. वक्रोक्त्या नायकपरोक्षं नायकविषयककोपप्रकाशिका ईर्ष्यागर्विता।—वही

इसके अनन्तर, कलहान्तरिताका निरूपण कियागयाहै—जो कोपके कारण प्रियका तिरस्कार करके पश्चात्ताप पाये उसे कलहान्तरिता कहते है।[1] वह दो प्रकारकी होतीहै—ईर्ष्याकलहान्तरिता तथा प्रणयकलहान्तरिता। इनमें प्रथमप्रकारकी तो वह है, जो अन्य-कान्तामें आसक्त प्रियका अपमान कर पश्चात्ताप पातीहै।[2] तथा दूसरी वह है, जो अपनी आज्ञा उल्लंघन करनेके कारण कोपसे नायकका अवमान कर पश्चात्ताप पातीहै।[3] मुग्धाको छोड़कर इनके अन्य सभी भेद होते हैं।

वक्रोक्तिगर्विता वह नायिका है, जो अपने गर्वको वक्रोक्तिके द्वारा प्रकाशित करे। वह चारप्रकारकी होतीहै—प्रेमगर्विता, सौन्दर्यगर्विता, सौभाग्यगर्विता तथा नैपुण्यगर्विता। सौन्दर्य-गर्विताके भी चारप्रकार होतेहैं—स्मितगर्विता, यौवनगर्विता, सौकुमार्यगर्विता तथा विलास-गर्विता। इनमें चौथा भेद शृ०म०की अपनी कल्पना है।[4] आमोदकारने प्रेमगर्वितासे सौभा-ग्यगर्विताको पृथक् नहीं मानाहै।[5] किन्तु सौभाग्यको प्रेमसे पृथक् मानना ही चाहिए, क्योंकि सौभाग्य प्रेमका सम्पादक या हेतु होताहै।[6] वक्रोक्तिगर्विताके सभी भेदोंका यही लक्षण है कि उनउन वस्तुओंको वक्रोक्तिके द्वारा प्रकाशित करे।

प्रोषितभर्तृकाका लक्षण रसमंजरीकारने इस प्रकार कियाहै—पतिके परदेश चलेजाने पर जो सन्तापसे व्याकुल हो उसे प्रोषितभर्तृका कहतेहैं।[7] शृ०म०में यहाँ 'प्रोषितभर्तृका' शब्दके पद एवं अर्थके विषयमें बड़ा शास्त्रार्थ हुआहै। आमोदकारने यह प्रश्न उठायाथा कि 'प्रोषित' पद में भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय होनेके कारण प्रोषितभर्तृका वही नायिका कहीजायगी, जिसका पति परदेश चलागयाहो। जिसका परदेश जारहाहो अथवा भविष्यमें जायगा अर्थात् प्रवसत्पतिका और प्रवत्स्यत्पतिकाका ग्रहण इस प्रोषितपतिका पदसे न होसकेगा। अतः उन दोनोंकेलिए अलगसे नामोल्लेख होनाचाहिए। इसका समाधान करतेहुए शृ०म०कार कहते हैं—प्रोषितमें क्तप्रत्यय 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० ३।३।११४) मे भाव (क्रिया) अर्थमें काल-सामन्यमें हुआहै। इस प्रकार प्रोषितका अर्थ यहां प्रवास होगा। फिर 'प्रोषितं भर्तरि यस्याः' इस प्रकार सप्तमीगर्भव्यधिकरण बहुव्रीहि समास कियाजायगा—जैसे 'गरुडध्वज' 'रथाङ्ग-पाणि' 'चन्द्रचूड' आदिमें होताहै। और क्त प्रत्यय वर्तमान अर्थमें भी[8] तो होता है, और वर्तमानमें होनेके कारण 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'[9] नियमसे भूतभविष्यत्कालोंका

१. कोपात् कान्तं पराभूय पश्चात्तापसमन्विता— शृ० म०

२. प्रियमन्यकान्तासक्तं पराभूय पश्चात्तापवती।—वही

३. स्वाज्ञोल्लंघनजनितकोपेन नायकं परिभूयपश्चात्तापवती— वही

४. विलासगर्वितानवीनभेदोऽस्माभिःकल्पित इति सौन्दर्यगर्विता चतुर्धा—वही

५. सौभाग्यगर्वितायाः प्रेमगर्वितायामेवान्तर्भावः—आमोद, पृ० १५२

६. प्रेमसम्पादकादृष्टं सौभाग्यम्—शृ० प्र०, पृ० २६

७. देशान्तरगते भर्तरि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका—र० म०

८. पा० २।३।६ ९. पा० ३।३।१३१

भी अर्थ दे सकेगा। और इसप्रकार प्रोषितभर्तृकापदसे भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालोंसे परदेशी पतियोंका ग्रहण होजायगा। अथवा, प्रोषित शब्दको भावमें क्त प्रत्यय करके फिर 'प्रोषितम् अर्थात् प्रवासः अस्ति अस्य' इस अर्थ में मत्वर्थक अच् प्रत्यय करके 'प्रोषित' शब्द बनेगा, जिसका अर्थ होगा प्रवासवान् या प्रवासी। और तब—'प्रोषितः प्रवासी भर्ता यस्याः' इस प्रकार समानाधिकरण बहुव्रीहिसे ही काम चलाया जायगा।[१] तो, रसमञ्जरीकारका प्रोषितभर्तृकाका लक्षण हुआ—पतिके देशान्तर चलेजानेपर जो सन्तापसे व्याकुल हो।[२] इसी रूप का प्रतापरुद्रीयकारका भी लक्षण है—जो कान्तके देशान्तर चलेजानेपर खिन्ना हो।[३] किन्तु ऐसे लक्षण प्रवसत्पतिका तथा प्रवत्स्यत्पतिका के सम्बन्ध में लागू न होंगे, अतः उपादेय नहीं है।[४] अतः शृ०म०कारने यह लक्षण किया—'जो पतिके प्रवाससे खिन्न हो, उसे प्रोषितपतिका कहते हैं।' वह प्रवास तीनों कालोंका सामान्यरूपसे कहागया है, अतः लक्षण तीनोंकेलिए संगत होगा।[५]

प्रोषितभर्तृकाके तीन प्रकार होतेहैं—प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका तथा प्रोषितभर्तृका। शृ०म०कारने सख्यनुतापिता एक अन्य भेद भी कल्पित कियाहै।[६] प्रवत्स्यत्पतिका का लक्षण रसमञ्जरीकार ने इसप्रकार कियाहै—'जिसका पति अगले क्षण देशान्तर जारहाहो'।[७] किन्तु शृ०म०कार इस लक्षणको ठीक नहीं मानते, क्योंकि जिस नायिकाका पति अगले क्षण न जाकर कल या परसों परदेश जायगा फिर उसका ग्रहण इस लक्षणसे न होसकेगा।[८] अतः शृ०म०ने उसका लक्षण इसप्रकार कियाहै—'प्रियप्रवासके यत्नोद्यमको जानकर जो वेदनावती हो वह प्रवत्स्यत्पतिका कहलातीहैं।[९] इसीका विगलितप्रस्थानपतिका यह भेदान्तर हमने कल्पित किया है।[१०] इन पूर्वोक्त दो नये कल्पित भेदोंके लक्षण इस प्रकार कियेगए हैं—विगलित-प्रस्थानपतिका वह है, जिसकी वेदनाको देखकर प्रिय प्रस्थानयोजनाको स्थगित

---

१. एवं त्रैकालिकाः क्तप्रत्ययान्ता महाकविप्रयोगा उपलभ्यंते तथा प्रोषितशब्दं विजानीमः।—शृ०म०

२. देशान्तरगते भर्तरि सन्तापव्याकुला। र० मं०

३. देशान्तरगते कान्ते खिन्ना प्रोषितभर्तृका। प्र० रु०

४. एतल्लक्षणद्वयमपि प्रवसत्प्रवत्स्यत्पतिकयोरव्याप्तम् इतिनोपादेयम्—शृ० म०

५. स प्रवासः त्रैकालिकसाधारणो भवतीति तिसृष्वपि समञ्जसं भवति—वही

६. प्रोषितपतिकायां सख्यनुतापितेति भेदान्तरमस्माभिः कल्प्यते।—वही

७. यस्याः पतिरग्रिमक्षणेदेशान्तरं यास्यनीति—र० म०

८. श्वः परश्वो वा यस्याःपतिः प्रवत्स्यति तस्यामव्याप्तिः—शृ० म०

९. प्रियप्रवास-यत्नोद्यमं ज्ञात्वावेदनावती प्रवत्स्यत्पतिकेति—वही

१०. वही

करदेताहै ।[1] तथा सख्यनुतापिता वह है, जिसके नायकके परदेश चलेजानेके पश्चात् ढाढ़स बँधानेवाली सखी भी कहीं चलीजाय ।[2]

अभिसारिका नायिकाका लक्षण र०म०के अनुसार तो इसप्रकार है, जो प्रियके पास स्वयं जाय, या उसे अपने पास बुलाये ।[3] शृ०म०को यह लक्षण उपयुक्त नहीं समझपड़ता, क्योंकि जो स्वयम् प्रियके पास जातीहै, वह तो अभिसारिका ठीक ही है, जैसाकि अमरकोश का भी कहना है—'कान्तार्थिनी तु या याति संकेत साभिसारिका (२।६।१०), किन्तु जो प्रियको अपने पास अभिसार करवातीहै वह तो वासकसज्जिका कहलायेगी ।[4] यद्यपि इसमें वारका नियम नहोनेके कारण आमोदकारने उसे वासकसज्जिका माननेमें आपत्ति कीहै ।[5] मानाकि यहां वारनियम नहीं है, किन्तु प्रियके आनेका ध्यान कर जो सुरतसामग्री की तैयारी करतीहै वह नायिका आखिर किसप्रकारकी नायिकामें अन्तर्भूत कीजायगी ? और फिर, वासक शब्दके तो अनेक अर्थ हैं, अतः केवल वार नियम ही अर्थ यहां न लिया जायगा, अपितु प्रियके आगमनके कारण जो संभोगार्थ प्रयत्न करतीहै उसे वासकसज्जिका कहतेहैं । अतः शृ०म०का कहनाहै कि जो प्रियको अपने पास बुलाये, वह वासकसज्जिका युक्ततया समझीजायगी, और रसमंजरीका मत ठीक नहीं । अभिसारिका तो वही है, जो प्रियके पास स्वयं जाय ।[6]

परकीया अभिसारिका पांचप्रकारकी होतीहैं—ज्योत्स्नाभिसारिका तमोभिसारिका, दिवाभिसारिका, गर्वाभिसारिका तथा कामाभिसारिका । शृ०म०ने एक छठे भेदकी भी कल्पना कीहै—प्रेमवाक्याभिसारिका । 'रसिकप्रिया' के रचयिताने प्रेमाभिसारिकानामक एक नये भेदकी कल्पना कीथी, किन्तु शृ०म०ने उसका प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि प्रेमके कारण तो सभी अभिसारिकायें हैं ही—प्रेम तो अभिसारके मूलमें ही है ।[7] इनमें बहुतोंका लक्षण तो उनके नामसे ही जानाजासकता हैं । केवल दो एकके लक्षण यहां उद्धृत कियेजा रहेहैं, जैसे गर्वाभिसारिका वह नायिका है जो प्रियके पास संकेतस्थल पर पहुंचकर, कहे कि

---

१. यस्या वेदनामालोक्य प्रियः प्रस्थानान्निवर्तते—शृ० म०

२. नायकपरदेशगमनानंतरं स्वसमाधानकर्त्री सख्यपि चेत् क्वचित् प्रयाणं करोति सा —वही

३. स्वयमभिसरतिप्रियमभिसारयतिवा सा ।—वही

४. प्रियं या अभिसारयति सा तु वासकसज्जिका भवति—वही

५. ननु दूत्यादिमुखेन या प्रियमभिसारयति सा वासकसज्जैव किं न स्यादिति चेन्न, तस्या वारनियमाभावात्—आमोद पृ० ४०५

६. प्रियं याऽभिसरति सा अभिसारिकेति—शृ० म०

७. सर्वाअप्यभिसारिकाः प्रेम्णैव भवन्तीति—वही पृ० ३७

'मैं तो एक अन्य कार्यसे आयी थी' और इसप्रकार अपने प्रेमको छिपाकर वार्तालाप करे।[1] उसीप्रकार प्रेमवाक्याभिसारिका वह है, जो नायकके निकट जाकर प्रेमभरी बातें करतीहै।

नायिकाके उत्तमादि भेद—फिर इन पूर्वोक्त सभीप्रकारकी नायिकाओंमें प्रत्येकके उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन-तीन भेद होतेहैं— रसमंजरीकारने 'प्रियतमके अहित करने पर भी जो हित करे उसे उत्तमा कहाहै। फिर उसकी व्याख्या करतेहुए आमोदकार कहते हैं—खण्डिता तो सापराध प्रियके प्रति प्रकुपित होतीहै, स्वाधीनपतिकाका पति कभी अपराध करता ही नहीं तथा प्रियका अपमान करनेवाली कलहान्तरितामें यह लक्षण व्याप्त नहीं होगा, यह शंका होतीहै। अतः इन तीनोंमें पूर्वोक्त 'उत्तमा' का लक्षण इसरूप में उपयुक्त किया जायगा—नायकके अधिक अपराध करनेपर भी उतना अधिक कोप न करना खण्डिता का प्रियतमके प्रति हितकारिणी ही होनाहुआ, प्रियका कुछ थोड़ा अपमान कर अत्यधिक अनुताप करना कलहान्तरिताका हितकारिणीत्व हुआ। वस्तुतस्तु पतिके साथ कलह करना अहितकारिणीत्व है तथा संभोगार्थ प्रयत्न करना हितकारिणीत्व है।' किन्तु शृ०मंकार इससे सहमत ही नहीं हैं। उनका कहनाहै कि कलहान्तरिता जब कोप करतीहै तो खण्डिता ही है और जब पश्चात्ताप करतीहै तब कलहान्तरिता कहीजाती है। अतः उत्तमाआदिका युक्तियुक्त लक्षण इस प्रकार होगा—'प्रियके हितसे अधिक हित करनेवाली 'उत्तमा', तुल्य हित करनेवाली मध्यमा, तथा न्यून हित करनेवाली 'अधमा' कहलातीहै।[2] इसके पश्चात् पूर्वोक्तलक्षणलक्षित उत्तमादि तीनों भेदोंको सभीप्रकारकी नायिकाओंमें घटित करनेका रम्य प्रयत्न शृ०म०में कियागयाहै। उसका उद्धरण यहां इसप्रसंगमें उपयोगी ही होगा—शृंगाररस के आलम्बनरूप इन नायिकाओंमें उत्तमादि भेद इस प्रकार होंगे:—

नायिकाकी प्रगल्भात्वदशा उत्तमदशा है (क्योंकि उस समय वह प्रियका अधिक हित करसकतीहै)। मध्यात्व दशा मध्यमा दशाहै, तथा मुग्धात्व, अधमा दशा है (क्योंकि तब तो प्रियका वह कोई हित नहीं करसकती—मारे लाजके स्वयं मरी जाती रहतीहै)।

स्वीयामें उत्तमा वह है, जो पतिमें अनुराग बांधकर जीवनपर्यन्त उसकी अनुज्ञावर्तिनी रहे। उसीको पतिव्रता भी कहतेहैं। जो नायकके हित एवं अनुरागके अनुकूल लोकव्यवहारके अनुसार अनुवर्तन करे वह मध्यमा तथा, जो चंचलमतिवाली होती है वह अधमा है।[3]

परकीयामें उत्तमा वह है, जो जीवनपर्यन्त उपपतिमें अपने अनुरागको दिलमें संजोए

---

१. प्रियसंकेतं गत्वा मया कार्यान्तरार्थमागतमिति मिषेण स्वप्रेमाच्छाद्य वार्तालापं या करोति सा—शृ० म०, पृ० ३८

२. उत्तमा प्रियहितादधिकं हितकारिणी, मध्यमा प्रियहितेन समं हितकारिणी, अधमा प्रियहितान्न्यूनहितकारिणी—वही

३. वही

रहे ।[1] जो उपपतिके प्रति अपने अनुरागको प्रकाशित करदे वह मध्यमा है, तथा चंचलहृदय-वाली सर्वत्र अनुराग करनेवाली अधमा कहलातीहै ।[2]

सामान्या वह है, जो स्वयं अनुराग करनेवाली (क्लृप्तानुरागा) तथा किसीसे नियमित हो । मध्यमा वह है, जिससे अनुराग उत्पन्न कराया जाय (कल्पितानुरागा) तथा जो स्वतन्त्र हो । और, अधमा, वह है, जो कल्पितानुरागा एवं जननीके अधीन हो ।

स्वाधीनपतिका उत्तमा वह है, जिसे प्रिय प्रणयकलह करके फिर स्वयं प्रसन्न करे, जो स्वयं प्रियसे प्रणय-कलह करके फिर स्वयं उसे प्रसन्न करे—वह मध्यमा है, तथा जो स्वयं तो प्रणयकलह करे, किन्तु प्रसन्न होनेके लिए नायक के अनुनयकी प्रतीक्षा करे, वह अधमा है ।

वासकसज्जा उत्तमा वह है, जो प्रियतमके मनको भानेवाला (प्रियतमहृदयानुरंजन) मण्डन अपने अंगोंमें करके बारबार सखीको भेजकर प्रियकी राहपर नजर लगाये, उसके मिलनके उत्सवमें लीन होकर उसके आगमनकी प्रतीक्षा करे । जो प्रियके भेजे अलङ्कार आदिको धारण कर उसकी प्रतीक्षा करे वह मध्यमा, तथा जो प्रियके आगमनके समय भी अपने सहज अलङ्कारही धारण करे उसे अधमा कहते हैं ।

विरहोत्कण्ठिता उत्तमा वह है, जिसे निमेषमात्रके विरहसे भी असह्य वेदना हो, वल्लभको नदेखनेसे जिसे मोह (मूर्च्छा) एवं वेदना हो वह मध्यमा, तथा नायकके विलम्ब-वियोगसे जिसे वेदना हो वह अधमा कहलातीहै ।

उत्तमा विप्रलब्धा वह है, जो अन्यकान्तामें आसक्तिके कारण वंचना करनेवाले प्रियके प्रेमकी न्यूनता तथा वंचनाको भी भुलाकर उसकेलिए अत्यन्त व्याकुल हो जाय । यहां वंचना से नायकके प्रेमकी न्यूनता तथा वंचिता नायिकाकी चिन्ता एवं व्याकुलतासे उसके प्रेमका आधिक्य प्रकट होता है । इसी प्रकार प्रेमके अधिक तथा कम मात्रासे इसके मध्यमा तथा अधमा भेद होंगे । खण्डिता उत्तमा वह है, जो नायकके अपराधाधिक्य रहनेपर भी थोड़ा कोप करे, जो अपराधके बराबर कोप करे, वह मध्यमा, तथा जो नायकके अपराधसे अधिक कोप करे वह अधमा है।

मानवती भी, जो लघु मान करे वह उत्तमा, जो मध्य मान करे वह मध्यमा, तथा जो गुरु मान करे वह अधमा नायिका है ।

धीरादि भेदोंमें भी इसीप्रकार उत्तमादि भेद होतेहैं । जो धीरा व्यंग्य भरे कोपके वाक्योंको गूढ़ रूपमें बहुमानपुरस्सर कहे वह उत्तमा, जो व्यंग्यरूपमें कोप वाक्योंको बहुमान-पुरस्सर ही (खुले रूपमें) कहे वह मध्यमा तथा जो थोड़े व्यंग्य रूपमें कोपवाक्योंको कहे वह अधमा कहलातीहै । इसीप्रकार जो अधीरा स्फुटरूपमें कोप भरे वाक्योंको प्रियको लघु करके कहे वह उत्तमा, तर्जन करनेवाली मध्यमा तथा ताड़न करनेवाली अधमा कहलातीहै । और

१. उपपतौ यावज्जीवमनुरागं सङ्गोप्य या वर्तते सोत्तमा ।

२. शृ० मं० पृ० ४०

धीराधीरामें धीरा तथा अधीराके उत्तमादि भेदोंकी चेष्टाओंको लेकर उत्तमादि भेद किये जायेंगे।

वक्रोक्तिगर्विता उत्तमा वह है, जो अपनेसे अधिक अपने प्रियका वर्णन करे, जो अपना और प्रियका समानरूपसे वर्णन करे, वह मध्यमा, तथा जो केवल अपना ही वर्णन करे वह अधमा कहलातीहै।

कलहान्तरिता उत्तमा वह है, जो प्रियानुनयदशासे पूर्व अधिक पश्चात्ताप पातीहै, जो दोनों दशाओंमें समानरूपा हो, वह मध्यमा, तथा जो बादवाली दशा में कम सन्ताप पाये, वह अधमा है।

प्रोषितभर्तृका उत्तमा वह है, जो प्रियके प्रवासकथनमात्रसे व्याकुल हो, जो पतिके वर्तमान प्रवाससे खिन्न हो, वह मध्यमा है, तथा जो अतीतके प्रवाससे वेदनावती हो, वह अधमा हैं।

अभिसारिका उत्तमा वह हैं, जो अपने शरीरको भी भूल कर (परवाह न कर) अकेले केवल साहसके सहारे अभिसार करे। इसीको कामाभिसारिका भी कहते हैं। जो किसी सहायकके साथ अभिसार करे वह मध्यमा, तथा जो समयको समझ-बूझकर अभिसार करे वह अधमा नायिका होतीहै।

नायिकाओंके अतिरिक्त सखीआदि के भी उत्तमादिवर्ग होते हैं। जो सखी अत्यन्त हित चाहे वह उत्तमा, जो मनोनुकूल वाक्य बोले वह मध्यमा, तथा जो इधर-उधर की कुछ करदे वह अधमा सखीकहलाती है।[1]

नायिकाकी सहायिकायें—इसप्रकार इतनेविस्तारसे नायिकानिरूपण करचुकनेके पश्चात् शृ० म०कारने नायिकाके सहायक सखीआदिका निरूपण किया है। उनमें सखीका स्थान प्रथम उल्लिखित होताहै, यद्यपि सखी दूतीका भी कार्य करती ही है। सखीका लक्षण रसमंजरीकारने इसप्रकार किया है—विश्वास तथा विश्राम उत्पन्न करानेवाली पार्श्वचारिणी सखी कहलातीहै।[2] शृ०म०ने यही लक्षण स्वीकृत किया है। फिर रसमंजरी तथा आमोदमें सखीके ये कार्य गिनाये गयेहैं—मण्डन, उपलम्भ, शिक्षा, परिहास, प्रशंसा, विनोद, मानापनोद, मानोपदेश, आशयप्रश्न, विरहाश्वास, वनलडोलाकेलि, पाञ्चाल, कन्दुक, भ्रमण-निमीलन, द्यूत, मधुपान तथा केलि। इनमें शृ०म०कारने कुछ और जोड़ दियेहैं—लंचन, हल्लीसक, पुष्पावचय तथा वसन्तकेलि।[3]

दूती वह है, जो अपने व्यापारमें पारंगत हो (दूतीव्यापारपारङ्गमादूती)। दूती आठ प्रकारकी मानी गईहै—दासी, सखी, कारु, धात्रेयी, प्रतिवेशिनी, लिङ्गिनी शिल्पिनी तथा स्वयं। आमोदकारने कुछ और भी संख्या बढ़ाईहै—योगिनी, प्रव्रजिता, अज्ञात-

१. शृ० म०, पृ० ४१

२. विश्वासविश्रामकारिणीपार्श्वचारिणी सखी इति। र० म०, पृ० ४१

३. शृ० म०

मन्मथविकारों वाला, सम्बन्धिनी, शकुनज्ञापिका, विप्रश्निका, गाननटनपाटववती तथा नटी। ये भी दूतीका काम करदेतीहैं। शृ०म०कारने इनके भी ऊपर दो और भेद लिखेहैं—विक्रेत्री तथा शंकिता। विक्रेत्री वैसे तो अनेक प्रकारकी होतीहै, किन्तु उसके चार ही प्रकार दूतीकर्मकेलिए उपयोगी एवं रमणीय मानेगयेहैं—काचविक्रेत्री, पटवासविक्रेत्री, मणिविक्रेत्री तथा प्रसूनविक्रेत्री। शंकिता दूती वह है, जो इस शंकासे कि नायिकाके परुष वाक्योंको सुनकर नायक दुःखी हो जायगा' उससे सरस बातों द्वारा ही दूतकर्म करती है।[1] वेषधारण करने पर प्रव्रजिता, विप्रश्निका, तथा विक्रेत्री सभीलिङ्गनी समझी जायंगी। ये दूत्यकर्म कहेगये हैं—संघटन, विरहानुरागनिवेदन, प्रोत्साहन, नायकात्म-सम्भोगकथन, सन्देशहरण तथा चित्तज्ञता।

शृंगारसका नायक—शृ०र०के नायकको शृ०म०में 'पुरुष आलम्बनविभाव' रूप में कहागयाहै।[2] उसके तीन प्रकार होतेहैं—पति, उपपति तथा वैशिक। परिणेताको पति कहतेहैं—शृ०म०कारने उसके ६ भेद मानेहैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, शठ, मानी तथा चतुर। इनमें औरों के स्वरूप तो प्रायः पूर्ववत् ही माने गयेहैं, किन्तु जो दो नये कहे गये हैं उनमें 'मानी' वह है, जो स्वयं अपराध करके भी नायिका के कोप करनेपर कुपित हो; और 'चतुर' वह है, जो किसी प्रकारसे नायिकाके प्रति अपनी रतिकी इच्छा सूचितकरे। प्राचीन आचार्योंने मानी और चतुरका अन्तर्भाव शठमें ही कियाथा—वह ठीक नहीं, क्योंकि शठ तो वह है, जो गुप्तरूपमें अपराध करके भी अज्ञानीकी भांति आये।[3] और मानीचतुरके लक्षण पूर्वोक्तप्रकारसे पृथक् हैं। अतः उनके लक्षणसे ही उनका पार्थक्य स्पष्ट होजाताहै—(तल्लक्षणाभ्यां तद्व्यतिरेकस्य स्फुटत्वात्—शृ०म०)। अतः छः प्रकार ही करना उपयुक्त है।

शृ०म०में धृष्टनायकका एक भेद 'धूर्त' कहागयाहै, जो अपराध करके नायिकाके कोपसे पहले ही स्वयं कोप दिखलाये—(अस्मिन् धूर्तभेदः अस्माभिः कल्पितः। सापराधः सन् नायिकाकोपात् प्रथमं कोपकारी धूर्तः। शृ०म)

शठ नायक वह है, जो सापराध होताहुआ भी निरपराधकी भांति बना रहे—(सापराधोऽपिनिरपराधवद् वर्तमानः शठः—शृ०म०)। वह दो प्रकारका होता है—प्रच्छन्न तथा प्रकाश। प्रच्छन्न वह है, जिसके अपराधको केवल नायिका जानती है। और प्रकाशशठ वह है, जो नायिकाके कोपको जानकर बाहर जाकर कोपके शमन होजानेपर ही अपनेको दिखाये—(नायिका कोपंज्ञात्वा बहिर्निर्गत्य यः कोपोपशमने सत्यागत्यात्मानं दर्शयति स प्रकाशशठः—शृ०म०, पृ० ५०)।

परस्त्रीरत उपपति तथा सामान्यासक्त वैशिक कहलाता है। ये तीनों ही प्रकारके शृंगारनायक प्रत्येक उत्तममध्यमाधमभेदसे तीन-तीन प्रकारके होतेहैं। उत्तम वह है, जो

---

१. शृ०म०।

२. 'शृङ्गारालम्बनविभावः पुरुषो नायकः' वही।

३. 'गुप्तापराधःसन्नज्ञानीवागच्छन् शठः'।—वही

कुपितनायिकाका उपचार करे, जो नायिकाके कोपके समय अपने कोप तथा अनुरागको न प्रकट कर नायिकाके कोपको सहताहुआ उसके आशयको समझताहै, वह मध्यम नायक है, तथा जो लज्जा, दयासे रहित हो सम्भोगकी इच्छा रखे, वह अधम नायक है। फिर ये सभी नायक—प्रोषित, अमिलित तथा विरही भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकारके होते हैं। 'प्रोषित' वह है, जो स्त्रीसे वियुक्त होकर प्रवासगमनके कारण खिन्न हो—(स्त्रीवियुक्तः सन् प्रवासगमनेन खिन्नःशृ०म०)। 'अमिलित' वह है, जो स्त्रीसंगमसे पूर्व विरहवेदनावाला हो—(स्त्री संगमात् प्राग् विरहवेदनावान्)। तथा विरही वह है, जो समीपमें होकर भी कार्यमें विलम्बके कारण नायिका-संयोगसे रहित हो–(समीप एव कार्य-विलम्बेन नायिका-संयोगरहितो विरही—शृ०म०—पृ० ५१)। नायक के सहायक पीठमर्द, विट, चेट तथा विदूषक पूर्ववत् कहे गये हैं।

सामराज दीक्षितने भी शृङ्गारके आलम्बनभूत नायक-नायिकाओंका निरूपण प्रायः पूर्वाचार्योंके ही अनुकरणपर कियाहै। सामराजका कहना है कि मुग्धाआदि तीन भेद केवल स्वीयाके ही होते हैं। परकीया और सामान्यवनिताके केवल मध्या और प्रगल्भा—ये ही दो भेद मानेजाने चाहिए। शकुन्तलादि नायिकायें उदितयौवनारूपमें विवाहसे पूर्व ही मध्या थीं। उनकी मुग्धाकी अवस्था ही बीत चुकीथी।[१] मुग्धा वह है, जिसको नवयौवन प्रथम अवतीर्ण हुआहै।[२] उसके भी दो भेद हैं—ज्ञातयौवना तथा अज्ञातयौवना। मुग्धाको ही नवोढा भी कहते हैं। परोढाको अङ्गीरसका आलम्बन (अथवा प्रधान नायिका) नहीं बनाना चाहिए—,नान्योढाङ्गिरसेक्वचित्।' फिर गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, कुलटा तथा अनुशयाना ६०० भेदोंको परकीया के ही करते हैं। उनमें गुप्ता दो प्रकारकी होतीहै—वृत्तसुरतगोपना तथा वर्त्तिष्यमाण-सुरतगोपना। विदग्धा भी दोप्रकारकी होतीहै—क्रिया-विदग्धा तथा वाग्विदग्धा।

सामान्यवनिता वह है, जो केवल वित्तकेलिए सब पुरुषोंमें अपना अनुराग जमावे। उसके अनुरागको कभी वित्तकेलिए कभी कामवश कहना तो उसका स्वरूप अथवा स्वभाव कहना हुआ। लक्षण तो उसका वही है—प्रकटसकलपुरुषानुरागा। फिर इनके तीन प्रकार कियेगयेहैं—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता तथा मानवती। सामराजने प्रवत्स्यत्पतिका का पृथक् भेद नहीं मानाहै। उसे प्रोषितपतिकामें ही अन्तर्भूत कर लियाहै।

रामानन्द ठक्कुरने आलम्बनविभावरूप नायिकाका प्रथम निरूपण कियाहै। उन्होंने प्रायः, रुद्रट, भानुदत्त, तथा भोजका ही अनुसरण किया है। उन्होंने नायिकाके गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, अनुशयाना, लक्षिता, मुदिता, राजकन्याआदि भेदोंका परकीयामें ही अन्त-

---

१. शकुन्तलादीनामुदितयौवनानांमध्यात्वमेव नतु मुग्धात्वम्। सुयोगं विनातिकालेन तस्यापगमात्।—शृ०अ०ल०

२. नव प्रथमावतीर्णनवयौवनामुग्धा—वही

र्भाव करदियाहै ।[१] इन्होंने भी सामान्यवनिताके स्नेहगर्विता, अन्यसम्भोगावदूषिता, वक्रोक्तिगर्विता तथा मानवती ये चार भेद मानेहैं ।[२]

शृङ्गारनायकके भेदोंका निरूपण करते हुए, रामानन्दने मानी और चतुर प्रकारोंको शठ (पतिनायकके प्रकारविशेष) के अन्तर्गत मानाहै[३] । उन्होंने पति, उपपति तथा वैशिक तीनों प्रकारके नायकोंका एक भेद प्रोषित भी माना है ।[४] तथा रसभावोंके अनभिज्ञको नायकाभास कहाहै ।[५]

रसदीर्घिकाकार विद्यारामने नायकको सामान्यतः सभी रसोंका और विशिष्टतया शृङ्गाररसका आलम्बन विभाव कहाहै ।[६] उनका यह कथन कुछ विवेकपूर्ण नहीं समझपड़ता, क्योंकि नायक रसका आश्रय आलम्बन दोनों होताहै—केवल आलम्बन ही नहीं, अतएव श्रीगोपालनारायणबदुराने, टिप्पणी में कहा—नायक इत्युपलक्षणं सर्वेप्राणिन इति—पृ० ४ । उन्होंने अपने शृङ्गारनिरूपणमें रसमञ्जरी तथा रसप्रकाशका भूयः अनुसरण किया है । परोढा परकीयाके लक्षिता, मुदिताआदि अनेक भेद बताए हैं—(लक्षिता मुदितेत्येवं परोढा विविधा मता—र० दी० २।२९) । वेश्याके शृङ्गारको विद्याराम ने शृङ्गाराभास कहा है, क्योंकि उसके चित्तमें रतिभाव नहीं रहता, वहां तो केवल द्रव्यलोभ होताहै ।[७] प्रोषितपतिकाके स्थानपर विद्यारामने अपने अनुष्टुप्छन्दकी आवश्यकतावश व्याकरणनियमकी अवहेलना कर 'प्रोषित्पतिका' लिखा है ।[८] अभिसारिकाके शुक्ला, कृष्णादि भेदोंका इन्होंने भी उल्लेख किया है ।[९] इसीप्रकार रसचद्रिकाकार विश्वेश्वर पाण्डेयने पूर्ववर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथआदि आचार्योंके मत का अनुवादमात्र कियाहै ।

---

१. र०त० २।४०   २. वही ३।५६

३. मानी च चतुरश्चैव शठस्यान्तर्गतावुभौ ।—वही ६।१७३

४. पतिश्चोपपतिश्चैववैशिकः प्रोषितो भवेत्—वही ६।१७२

५. अनभिज्ञोरसानां यो नायकाभास एव सः ।—वही ६।१७७

६. आलम्बनविभावस्तु रसानां नायकोमतः । सामान्यतो हि सर्वेषां शृङ्गारस्य विशेषतः ।
—र० दी० १।२४

७. तस्या द्रव्यैकचित्त्वाच्छृङ्गाराभासएवसः ।—वही २।३२

८. साप्रोषित्पतिका यस्याःप्रियोदेशान्तरं गतः ।—वही २।३६

९. शुक्लाकृष्णादिभेदेनानेकधास्त्यभिसारिका ।—वही २।४३

षष्ठ अध्याय

शृङ्गारअनुभाव

अनुभाव भी अलौकिक शब्द है । विविध स्थायी व्यभिचारी भावोंके व्यञ्जक वागङ्ग-सत्वकृत अभिनय, जो उन भावोंका सामाजिकोंको अनुभव करातेहैं, (अत:) अनुभाव कहे जातेहैं[1] । अनुभावकाअर्थ है कविकी चित्तवृत्तिके साथ तन्मय होना । लोकमें इसे कार्य ही कहतेहैं । कौन विभाव कहलातेहैं और कौन अनुभाव—इसका भरत मुनिने तो कोई परिगणन नहीं कियाहै, क्योंकि वे लोकस्वभावानुगत होतेहैं, उन्हें बुध जन अभिनयोंसे ही जानलेतेहैं ।[2] ये अनुभाव और विभाव प्रतिव्यक्ति जो विविध होतेहैं, अत: उनकी ईदृक्ता तथा इयत्ता निश्चित नहीं कीजासकती है—क्योंकि देखाजाताहै कि (विभावोंमें) वही वस्तु किसीकीरति-का हेतु तथा किसीकी जुगुप्साका हेतु होतीहै[3]—जैसाकि भागवतमें उल्लेख अलङ्कार द्वारा कंसकी सभामें श्रीकृष्णका वर्णन कियागयाहै[4] । अनुभावोंमें कोई अपनी रतिको क्रीड़ा द्वारा व्यक्त करताहै, कोई हंसकर, कोई कलह कर तथा कोई रोकर ही ।

शृ० विभाव बताते समय तो भरत ने केवल सम्भोगका उल्लेख कियाहै, विप्रलम्भ का नहीं । किन्तु अनुभावोंके विवेचनके प्रसङ्गमें सम्भोगआदिका भी सम्बन्ध नहीं बताया । किन्तु यहां जिन चेष्टाओंके अभिनय द्वारा शृंगार रसका प्रदर्शन बताया गयाहै, वे तो केवल सम्भोगकी ही कही जा सकतीहैं । नयनोंकी चतुराई, भ्रू विभ्रमके साथ

---

१. वागङ्गाभिनयनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्तत: स्मृत: ।।—ना० शा० ७।५

२. लोकस्वभावसंसिद्धालोकयात्रानुयायिन: ।
अनुभावविभावाश्चज्ञेयास्त्वभिनयैर्बुधै: ।। —वही ७।६

३. एक एव पदार्थस्तुत्रिधाभवति वीक्षित: ।
कुणप: कामिनी मांसं योगिभि: कामिभि: श्वभि: ।। (सु० र०भा०)

४. मल्लानामशनिर्नृणां नरवर: स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतांक्षितिभुजांशास्तास्वपित्रो: शिशु: ।
मृत्युर्भोजपते विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गत:साग्रज: ।। भा० पु० १०।४३।१७

कटाक्षसञ्चार, ललित, मन्थर, मधुरनयनाभिराम अङ्गोंका संचालन, सुकुमार, श्रवणसुखकर वाक्यप्रयोग इत्यादि अनुभावों द्वारा शृंगाररसका अभिनय किया जाता है।[1] अभिनवने अन्तमें बड़े विशद ढंगसे इसका निष्कर्ष निकालाहै—ये आश्रयकी आङ्गिकी वाचिकी तथा सात्त्विकी चेष्टायें अभिनीत होकर सहृदयोंमें विभावोंसे उद्दीप्त हुए शृंगारका और अधिक अनुभव करातीहैं—अर्थात् आश्रयके नेत्र, शरीर वाणी तथा अंगचालनमें जो लालित्य तथा माधुर्य अभिनीत होताहै वही शृंगारका अनुभाव होताहै।[2]

सात्त्विकभाव—इसीप्रकार सात्त्विक भाव भी, जो तत्त्वजन्य हैं, वे ही भाव कहलाने योग्य हैं, नहीं तो वे भी अनुभाव ही मानेजानेचाहिए—यह कहाजाचुकाहै। सात्त्विक शब्दकी व्युत्पत्ति भरतमुनिने इसप्रकार कीहै—इह सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वात् उत्पद्यते। मनः समाधानाच्च सत्त्वनिर्वृत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वाभावः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चास्रवैवर्ण्यादिको न दृश्यते मनसाकर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नान्यस्यसत्त्वमीप्सितम्। एतदेवास्य सत्त्वं यद्दुखितेन सुखितेन वा अश्रुरोमाञ्चौ व्याख्यातम्।[3]

सात्त्विकोंके विभाव एवं अनुभाव—इन सात्त्विक भावोंको भावरूप मानेजानेके कारण ही इनके विभावों तथा अनुभावोंका भरतमुनिने उल्लेख कियाहै। इनमें, क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्याघात, क्लम, घाम, तथा सम्पीडन से 'स्वेद', हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोषआदि से 'स्तम्भ', शीत, भय, हर्ष, रोष स्पर्श, जरा तथा रोग से 'कम्प', आनन्द, अमर्ष, धूम, अञ्जन, जृम्भण; भयशोक, निर्निमेष अवलोकन, शीत, तथा रोग से 'अश्रु', शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लम तथा ताप से वैवर्ण्य; स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध, तथा रोगसे 'रोमाञ्च', भय, हर्ष, क्रोध, जरा, रौक्ष्य, रोग तथा मद से 'स्वरभङ्ग' और श्रम, मूर्छा, मद, निद्रा, अभिघात तथा मोहादि से 'प्रलय' भाव का उदय होता है[4]।

इसीप्रकार इनके अनुभावोंका विस्तारके साथ निरूपण कियागयाहै। स्तम्भ में निःसंज्ञ निष्प्रकम्पस्मित शून्यजडाकृति तथा स्कन्न गात्र; स्वेदमें व्यजनडुलाना, पसीना, पोछना, तथा हवाकी इच्छा; वेपथुमें वेपन, स्फुरण तथा कम्पन, स्वरभङ्गमें बदले हुए गद्गद शब्द, रोमाञ्चमें बारबार रोयोंका खड़ाहोजाना, गिनगिनी (उल्लुकसन) तथा गात्रसंस्पर्शन, अश्रुमें आखोंको पोछना तथा अश्रुजल, वैवर्ण्यमें मुखके रंगको बदलना और प्रलयमें कठिनाईसे

---

१. तस्यनयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।—ना० शा०, अ० ६

२. एता आङ्गिक्यो वाचिक्यः सात्त्विक्यश्च आश्रयस्यअभिनीयमानाश्चेष्टाः सहृदयेषु पूर्वप्रतिपादितैरुद्दीपितंशृंगारमधिकमनुभावयन्ति। आश्रयस्यचक्षुषि वपुषि वचसि अङ्गचालने च यल्लालित्यं यच्च माधुर्यमभिनीयते तदेवशृंगारस्य अनुभावोभवतीतिनिष्कर्षः॥ —(अभि०भा०)

३. ना० शा०, अ० ७

४. ना० शा० ७।९४-९८

अंगोंको संभालना तथा भूमिपर गिरना होताहै ।[१] इसप्रकार यह सात्त्विकों के विभावों तथा अनुभावोंका विवेचन भरतकी ही विशेषता है । इससे सात्त्विकोंका भावत्व पूर्ण प्रमाणित हो-जाताहै । इस भावप्रकरणके अन्तमें भरतने एक बार पुन: स्मरण दिलायाहै कि (विभाव अनुभावसे युक्त तो स्थायी, सञ्चारी तथा सात्त्विक तीनों होतेहैं, किन्तु) रसपदको तो विभावानुभाव तथा संचारीसे युक्त स्थायी भाव ही प्राप्त करतेहैं ।[२]

शृंगारके अनुभावरूप अभिनय—यहाँ कुछ शृंगाररससम्बन्धी अभिनयोंपर भी विचार किया गयाहै । भरतमुनिने रसोंके निरूपणके प्रसंगमें अभिनयोंका अत्यधिक उपयोग बतायाहै, क्योंकि वे ही रसनिष्पत्तिके प्रधान साधन हैं ।[३] सभी भावोंको अभिनयों द्वारा ही तो प्रदर्शित अथवा व्यक्त कियाजाताहै । अभिनय चारप्रकारके होतेहैं—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक[४] ।

आङ्गिक अभिनय—शरीरज,मुखज, तथा चेष्टाजन्यरूपसे तीनप्रकारका बतायागया-है[५] । फिर, इस आङ्गिक अभिनयको सिर, हाथ,उरस्, पार्श्व, कटी तथा चरण इन छ: अङ्गों द्वारा एवं नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल तथा चिबुक—इन छ: उपाङ्गों द्वारा सम्पादित कियाजाताहै ।[६] सिरके अभिनय तेरहप्रकारके बतायेगयेहैं ।[७] इनमें निहञ्चितनामक शिरके अभिनयमें बाहुशिखर उठाहुआ तथा कन्धरा भी उठीहुई होतीहै । यह अभिनय स्त्रियोंके गर्व, विलास, ललित, बिव्वोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित,कुट्टमित तथा स्तम्भमानमें प्रयुक्त होताहै ।[८]

इसीप्रकार दृष्टियां भी प्रत्येक रसमें विभिन्नप्रकारकी होतीहैं । शृंगार रसमें कान्ता तथा रतिभावमें स्निग्धा दृष्टि भरतमुनिको अभीष्ट है । फिर—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, सललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकाशा, त्रस्ता तथा मदिरा—इन बीसप्रकारकी संचारीभावोंकी दृष्टियोंमें भी शृंगाररसमें होनेवाली हर्ष और प्रसादसे उत्पन्न, अत्यधिक मन्मथभावनाभरी, भ्रूक्षेप तथा कटाक्षसे युक्त कान्ता दृष्टि मानीगईहैं[९]। रतिभावमें

---

१. ना०शा० अ० ७

२. विभावानुभावयुतोह्यङ्गवस्तुसमाश्रय: ।
सञ्चारिभिस्तु संयुक्त: स्थाय्येवतुरसोभवेत् ।। वही

३. विभावयन्तियस्माच्चनानार्थान्हिप्रयोगत: ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनय: स्मृत: ।।—वही ८।८

४. वही ८।९ ५. वही ८।११

६. वही ८।१३ ७. वही १७—३६

८. वही ८।३०, ३१ ९. वही ८।४४

प्रफुल्लमध्या, मधुरा, स्मेरतारा, अभिलाषिणी, आनन्दाश्रुसे युक्त स्निग्धा दृष्टि होतीहै। रतिभावके रहनेपर दृष्टिमें विकास तो स्वाभाविक ही होताहै। शृंगाररसमें प्रायः सभी सञ्चारिणी दृष्टियोंका उपयोग होताहै।

रस-भावके अनुसार ही तारा-पुट तथा भौहोंकी भी क्रिया का उल्लेख कियागयाहै। शृंगारमें तारोंकी विवर्तनक्रिया होतीहै[1]। ताराका दर्शन अथवा अवलोकन सम अर्थात् समतार तथा सौम्य होताहै।[2] नेत्रपुटक भी शृंगाररसमें सम मानागयाहै।[3] भौहोंकी भी गति सातप्रकार की कहीगयीहै—उत्क्षेप, पातन, भृकुटी, चतुर, कुञ्चित, रेचित, तथा सहज।[4] इनमें यद्यपि शृंगारमें ललितमें तथा सौम्य स्पर्शके समय चतुरनामक भ्रूगति होतीहै, जिसमें कुछ उच्छ्वास के साथ भौहें मधुर आयत होजातीहैं, तथापि ये सातों प्रकारकी भ्रूगतियाँ शृंगारमें उपयोज्य होसकतीहैं—क्योंकि शृंगारमें सभीप्रकारकी मधुरात्मिका चेष्टाओंका समाहार होजाताहै। शृं० अभिनयमें नासिका भी छः प्रकारकी बतायीगयीहै—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विघूर्णिता तथा स्वाभाविकी।[5] इसीप्रकार गण्डस्थली भी छः प्रकारकी अभिनीत होतीहै। शृंगारके संभोग तथा विप्रलम्भ पक्षोंमें प्रायः सभी प्रकारोंका उपयोग होताहै[6]। अधरके छः प्रकारके अभिनय हैं।[7] चिबुक (ठुड्डी) भी दांत, ओष्ठ तथा जिह्वाकी क्रियाओंसे सातप्रकार-से अभिनीत होताहै।[8] दृष्टि-क्रमके अनुसार आस्य (मुख)के भी छः कर्म होतेहैं।[9] अभिनयों-मेंमुखरागकी सबसे अधिक महिमा कहीगईहै। इनमें अद्भुत, हास्य तथा शृंगारमें प्रसन्न मुख-रागहोताहै[10]। तदनन्तर नवप्रकारका ग्रीवाभिनय[11] इसके पश्चात् हस्ताभिनय का रसभाव के अनुसार निर्देश कियागयाहै।[12]

इसीप्रसंगमें मुनिने रसभावके अनुसार हस्तकर्मोका भी उल्लेख करदियाहै, जो इस-प्रकार है—उत्कर्षण, विकर्षण, अपकर्षण, परिग्रह, निग्रह, आह्वान, नोदन, संश्लेष, वियोग, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप, धूनन, विसर्ग, छंदन, भेदन, स्फोटन, मोहन तथा ताडन।[13] इनमें सभी हस्ताभिनय तथा सभी हस्तक्रियायें शृंगाररसमें उपयोज्य होतीहैं, कुछ संयोगमें कुछ विप्रलम्भमें

१. शृंगारे च विवर्तितम्—ना० शा० ८।९९
२. समतारं च सौम्यं च यद् दृष्टं तत् समं स्मृतम्। वही ८।१०२
३. शृंगारे च समं स्मृतम्—वही ८।११२
४. वही ८।११४—११५
५. वही ८।१२४
६. वही ८।१३०-३५
७. वही ८।१३५-१४०
८. वही ८।१४१-१४६
९. वही ८।१४१-६
१०. वही ८।१४७-५४
११. वही ८।१६२
१२. वही, ८।१७०
१३. वही ९।१४५

तथा कुछ दोनोंमें। ऐसे ही उरोभिनय,[१] पार्श्वाभिनय,[२] उदराभिनय,[३] कटीअभिनय,[४] उरुअभिनय[५], जङ्घाभिनय[६], तथा पादाभिनय[७] का भी विवेचन कियागयाहै।

गतिविवेचन—नाट्यकी प्रकृतियां तीनप्रकारकी होतीहैं दिव्या, मानुषी तथा दिव्यमानुषी। नाट्यरङ्गपर उनकी भी गतियां रसके अनुसार विभिन्नप्रकारकी बतायीगईहैं।[८] शृंगारिणी कामितगति मार्गपर दूरतक दृष्टि डालनेवाली, हृद्यगन्ध वस्त्र तथा अलंकारोंसे विभूषित अनेक पुष्पों एवं सुगन्धित मालाओंसे समलंकृत तथा ललितचरणोंसे चलतीहुई करनीचाहिए।[९] और प्रच्छन्नकामितकी गति सभी लोगोंको विसर्जित कर, केवल दूतीको साथ लिए हुए, दीप बुझाये, अधिक भूषणोंसे बिना अलंकृत, वेलामें समान रंगवाला वस्त्रधारण कियेहुए निःशब्द मन्दचरणों द्वारा, शब्दशक्तिके प्रति उत्सुक अवलोकनतत्पर, वेपमानशरीरवाली, शङ्कित तथा वारवार लड़खड़ाती होनीचाहिए[१०]। इसके पश्चात् शृंगाररसकी जीवित-सर्वस्वभूत स्त्रियोंकी गतिविचेष्टितका विशेषप्रकारसे निरूपण किया गयाहैं। उसमें भी सर्वप्रथम तो स्त्रियोंकी गतियोंमें तथा आभरणों(आभाषणों ?) में स्थानों (poses) काविवेचन किया गया है।[११] ये स्थान (poses) तीनप्रकारके बतायेगयेहैं—आयत,[१२] अवहित्थ[१३] तथा अश्वक्रान्त।[१४]

स्थानके पश्चात् विविध पात्रोंसम्बन्धी गतियोंका विवेचन कियागयाहै—सयौवना, स्थवीयसी, प्रेष्या, कापुरुष, बाला, नपुंसक, पुलिन्दशबराङ्गना, व्रतस्थ, तपःस्थ, लिङ्गस्थ तथा स्वस्थ स्त्रियोंकी अभिनेय गतियोंका निरूपण किया गया हैं।[१५] फिर आसनविधि (उपवेशनआदिके प्रकार) का विवेचन हुआहै। और इस अध्यायके अन्तमें शयनकर्मका भी निरूपण कियागया है।

भरतने इसीप्रसङ्गमें प्रवृत्तियोंआदिके विवेचनके पश्चात् वागभिनयपर विचार किया है। यह वागभिनय नाट्यका शरीर मानाजाताहै। सभी अङ्ग नेपथ्यआदि वाक्यार्थको ही अभिव्यञ्जित करतेहैं।[१६] इसका आशय यह है कि अङ्गों द्वारा नेपथ्योंसे जो व्यक्जित करना अभीष्ट है उसे वाणीसे भी कहाजासकताहै। और नाट्यकी वाणी सदा वृत्त अथवा लयके

---

१. ना० शा० १०।१६, २. वही १०।११-१७,
३. वही १०।१८-२०   ४. वही, १०।२१-२६
५. वही १०।३३   ६. वही १०।३४-४०
७. वही १०।५५   ८. वही, १३।२
९. वही १३।३६-४२   १०. वही १३।४४-४७
११. "स्त्रीणांस्थानानिकार्याणि गतिष्वाभरणेषु च'—वही १३।१५८
१२. वही १३।१५९   १३. वही १३।१६३-१६५
१४. वही १३।१६८   १५. वही १३।१७०-१९२.
१६. 'वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥ वही १५।२

साथ ही प्रयुक्त होतीहै, क्योंकि वृत्त अथवा छन्दकी संख्या अनन्त है। अतएव भरतने बड़े मार्मिक ढंगसे कहाहै कि 'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्। तस्मात्तूभयसंयुक्ते नाट्यस्योद्योतके स्मृते॥'[१] और इसप्रकार पूरे पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्यायमें वृत्तों या छन्दों का लक्षण दिया है, जो दूसरे शब्दोंमें वागभिनयका ही निरूपण कहाजायगा।

आहार्यअभिनय (नेपथ्याभिनय)—आगे भरतने आहार्य अभिनयके प्रसङ्गमें शृङ्गारोपयोगी नेपथ्यका विचार कियाहै। नेपथ्यका महत्त्व बतातेहुए भरतने कहाहै कि सारा नाट्य आहार्य अभिनयपर ही आधारित होताहै।[२] अतएव अभिनवने आहार्य अभिनयको भित्तिरूप तथा समस्त नाट्यप्रयोगको उसके ऊपर चित्ररूप कहाहै, जिससे सभी प्रकारके अभिनयोंके अभावमें भी नेपथ्यविशेषको ही देखकर विशिष्टभावका बोध बहुत कुछ हो जाताहै। इसप्रकार नेपथ्य अत्यधिक भावाभिव्यञ्जक मानागयाहै। शृङ्गार(विप्रलम्भ)में प्रोषितपतिका, तथा व्यसनाभिहताका वेष मलिन तथा शिरके केश एकवेणीमें लिपटे कहेगये हैं। सामान्यरूपसे विप्रलम्भमें नारीका वेष आभरणहीन और सादा कियाहै।[३]

श्मश्रुअभिनय—इसीप्रकार पुरुषों की श्मश्रुका विवेचन करतेहुए भरत कहतेहैं कि शुक्ल, श्याम, विचित्र तथा रोमश—इन चारप्रकारकी श्मश्रुओंमें शृङ्गारप्रिय तथा यौवनोन्मादवाले लोगोंकी श्मश्रु विचित्र करनीचाहिए। शृङ्गारियोंके सिरके केश कुञ्चित ही किये जानेचाहिए।[४]

सात्त्विक अभिनय—तदनन्तर सभी अभिनयोंमें सामान्यरूपसे विद्यमान सत्त्वजात्मक अभिनयोंका निरूपण कियागयाहै। चित्तवृत्ति ही संवेदनभूमिमें पहुंचकर शरीर में भी व्याप्त होती है। उसीको सत्त्व कहते हैं।[५] सात्त्विक अभिनय में बड़ी सावधानीसे प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि नाट्य सत्त्व में ही प्रतिष्ठित रहता है। नाट्य रसमय होताहै और रसका सबसे बड़ा अन्तरङ्ग है सात्त्विकभाव। अतः वह रसके प्रसंगमें सर्वाधिक अभ्यर्हित होता है।[६] सात्त्विकके अभावमें तो अभिनयक्रिया का नाम भी नहीं सुनाई पड़ सकता है।[७] भावों तथा रसोंकाआधारभूत, अव्यक्तरूप, स्वाश्रयस्थचित्तवृत्तिरूप सत्त्वको अपने रोमाञ्चआदि गुणों (अनुभावों)से जानाजाता है।[८] जिस रसका जो स्थान अथवा आश्रय होताहै, उसी

१. ना० शा० १५।४ २. यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनयेस्थितः।—वही २१।१

३. वही २३।७०-७२, ४. वही २३।१४७,

५. "इह चित्तवृत्तिरेव संवेदनभूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्त्वमित्युच्यते। —भारती

६. रसमयं हि नाट्यं, रसे चान्तरङ्गःसात्त्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित इति—" वही २२।६

७. 'सात्त्विकाभावे ह्यभिनयक्रियानामापिनोन्मीलति'—वही, २२।२

८. अव्यक्तरूपं सत्त्वं हि ज्ञेयंभावरसाश्रयम्। यथास्थानरसोपेतं रोमाञ्चास्रादिभिर्गुणैः। —ना० शा० २२।३,

के सत्वसे वे व्यक्त होतेहैं—जैसे शृङ्गाररसके उत्तम कोटिके स्त्रीपुरुष; रौद्रके राक्षसदानव आदि, भयानकके अधम पात्र इत्यादि।[1]

यौवनमें स्त्रीके अलङ्कार—स्त्रियोंके यौवनकालमें मुख एवं अन्य अङ्गोंपर अतिशय वर्धमान बहुतसे विकार अथवा चिन्ह दिखायी पड़तेहैं। उन्हें नाट्यशास्त्रकी भाषामें 'अलंकार' कहागयाहै।[2] ये अलंकार केवल देहनिष्ठ होतेहै, इन्हें चित्तवृत्तिरूप नहीं समझना चाहिए। ये अलङ्कार केवल शृङ्गार रसकी ही वस्तु हैं। ये अलंकार केवल यौवनमें उद्रिक्त दिखायी पड़तेहैं—बाल्य अवस्थामें ये उद्भिन्न नहीं होते, तथा वार्धक्यमें तिरोहित हो जाते हैं। उन्हें यौवनमें प्रकट करनेवाला हेतु रतिभाव है, जैसे दीपक घटको प्रकट करता है।[3] इन अलंकारोंमें तीन अङ्गज, दस स्वाभाविक तथा सात अयत्नज होते हैं।
अङ्गज अलङ्कार—अङ्गज अङ्ककार शरीर-स्थित विकाररूप हैं, जो भाव, हाव तथा हेला—तीन मानेगये हैं। इनका परस्पर हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध होताहै।[4] सत्त्व जब शरीरात्मक होताहै, तो उससे भाव उत्पन्न होता है, फिर भावसे हाव एवं हावसे हेला की उत्पत्ति होती है।[5]

भाव (अङ्गज अलङ्कार)—इन अङ्गज अङ्ककारोंमें प्रथम भाव है। इस भावका भी लक्षण भरतने वही कियाहै जो सप्तमअध्यायमें निरूपित (रत्यादि) भावका, जैसे—

'वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च। कवेरन्तर्गतंभावं भावयन् भाव उच्यते'॥[6]

किन्तु यह भाव तो केवल स्त्रियोंका ही कहागयाहै—यौवने ह्यधिकाः स्त्रीणाम्। तो फिर 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावः' इसकी यहां क्या संगति होगी? वस्तुतः इस कारिका की यहां इसप्रकार अन्विति करनीपड़ेगी—स्त्रीपात्रके वागङ्गमुखरागों द्वारा, 'सत्व द्वारा तथा अभिनय द्वारा जो कवि अर्थात् सहृदयको स्वान्तर्गत भावकी भावना कराये वही स्त्री पात्रका अङ्गज विकार भाव कहलाताहै। यहां 'कवेः' में कर्मणि षष्ठी माननीहोगी।[7] इस

---

१. यस्य रसस्य यत् स्थानं तद्यथाशृङ्गारस्य (उत्तमौ) स्त्रीपुंसौ, रौद्रस्य रक्षोदानवादिः भयानकस्याधमप्रकृतिः। —भारती—२२।३,

२. अलंकारास्तु नाद्यज्ञैर्ज्ञेया नाट्यरसाश्रयाः।
यौवने ह्यधिकाः स्त्रीणांविकारावक्त्रगात्रजाः॥ ना० शा० २४।४

३. 'ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते, बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धकेतिरोभूताः। यदाह यावन्त एते तरुणीजनस्यभावाःसमंकुट्टमितादयोपि। रात्रावदृश्यानिवतान्घटादीन् कामप्रदीपः प्रकटीकरोति॥"—भारती २२।४

४. भावो हावश्च हेलाचपरस्परसमुत्थिताः।
सत्त्वभेदाभवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः॥—ना० शा० २४।६

५. देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वाद्भावःसमुत्थितः।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेलासमुत्थिता॥ वही २२।६

६. वही २२।८   ७. भारती २२।८,

प्रकार यह भाव संभोगेच्छा अथवा रतिभावका प्रथम प्रकृतिविपर्यास अथवा विकृतिरूप है। यह उद्‌बुद्धमात्ररूप होताहै, स्फुट प्रतीयमानरूप नहीं—जैसाकि शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें शकुन्तला के इस वाक्यसे व्यक्त होताहै—'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।'

हाव (अङ्गज अलङ्कार)—जब वही भाव अक्षिभ्रू विकारादिसे सम्पन्न हो शृङ्गाररस का सूचक बनताहै तो 'हाव' कहलाता[1] है, जैसे कुमारसम्भवके इस श्लोकमें—

'विवृण्वती शैलसुतापिभावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः। साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्त-विलोचनेन। ३।६८। अतएव अभिनव 'हाव' शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार करते हैं—'शृङ्गारोचितमाकारं सहृदयासहृदयसर्वजनहृदयं सूचयतीति हावः। एष हि स्वचित्तवृत्तं-परत्र जुह्वतीं ददतीं तां कुमारीं हावयति।'—(भारती)

हेला (अङ्गजअलङ्कार)—यही 'हाव' जब अधिकतर समालक्ष्यविकार तथा ललिताभिनयात्मक हो, तो उसे 'हेला' कहतेहैं।[2] भावहाव-हेला यद्यपि पुरुषमें भी होतेहैं, किन्तु अलंकार वे स्त्रियोंके ही कहलातेहैं।

स्वाभाविक अलङ्कार—इसीप्रकार दस स्वाभाविक अथवा स्वभावज अलङ्कार होते हैं। वे हैं—लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत। प्रियतमके प्रति प्रीति तथा बहुमानके कारण उसकी मधुर वाग्, वेष तथा अलंकार आदिकी अनुकृतिको लीला कहते हैं।[3] प्रियसङ्गमके समय अथवा प्रियके सन्दर्शनआदिसे जो स्थान, आसन, गमनमें तथा हस्त-भ्रू-नेत्रकी चेष्टाओंमें वैशिष्ट्य आजाता है वही विलास कहलाता है।[4] माल्य, आच्छादन (वस्त्र) भूषण, तथा विलेपनआदिकी बेपरवाहीके साथ कीगई स्वल्प भी रचना जो परमशोभा उत्पन्न करतीहै उसे विच्छित्ति कहते हैं।[5] यह सौभाग्यगर्व की महिमा कहीगयीहै। मद, राग अथवा हर्षके कारण वाक्, अङ्ग, आहार्य सत्त्वसम्बन्धी विविधविषयोंका अन्यथा न्यास विभ्रम कहलाताहै।[6] और यह व्यत्यासविधि दयितागमनादिमें होतीहै, जैसे कुछकी जगह कुछ कहदेना, हाथमें धारणकरनेकी वस्तुको पैरमें लेलेना, मेखलाको गलेमें पहिन लेना। जैसे—'श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया। भालेञ्जनंदृशोर्लाक्षाकपोले तिलकः कृतः॥ (सा०द०)॥ जो हर्षके कारण स्मित,

---

१. तत्राक्षिभ्रूविकाराढ्यश्शृङ्गाररससूचकः।
सग्रीवारेचकोज्ञेयो हावश्चित्त-समुत्थितः॥ ना० शा० २४।१०

२. योवैहावः स एवैषा श्रृङ्गाररस-सम्भवा।
समाख्याताबुधैर्हेलाललिताभिनयात्मिका॥ वही २२।११

३. वागङ्गालंकारैः शिष्टैः प्रीतिप्रयोगजितैर्मधुरैः।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेयाप्रयोगज्ञैः॥—वही, २२।१४

४. वही २२।१५ ५. वही २२।१६ ६. वही २२।१७

रुदित, हसित, भय, हर्ष, गर्व, दुःख, श्रम तथा अभिलाषका अनेक बार सङ्कर होताहै उसे किलकिञ्चित कहतेहैं।[१] प्रियविषयिणी चर्चा होनेपर अथवा प्रियके दर्शन होनेपर जो तद्भावभावितचित्ता नायिकाका लीलाहेलादिक होने लगताहै उसे मोट्टायित कहतेहैं।[२] प्रियतम द्वारा केश-स्तनआदिके पकड़ेजानेपर अतिहर्षसम्भ्रमसे उत्पन्न सौख्यको, जो बाह्य दुःखोपचारके रूपमें प्रदर्शित कियाजाताहै, कुट्टमित कहतेहैं।[३] स्वअभीष्ट वस्त्रअलंकार आदि पदार्थोंके प्राप्त होनेपर जो अभिमानगर्वसम्भूत अनादर होताहै उसे विब्बोक कहते हैं।[४] सुकुमारताके कारण जो भ्रू नेत्र, ओष्ठ-सहित करचरणादि अङ्गो का विन्यास होता है, उसे ललित कहतेहैं।[५] अवसर मिलनेपर भी कहनेयोग्य वाक्योंको जो किसीव्याजसे अथवा स्वभावसे न कहपाये उसे विहृत कहतेहैं।[६]

अयत्नजअलङ्कार—इसके पश्चात् सात अयत्नज अलङ्कार बतायेगयेहैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य। रूप, यौवन तथा लावण्य, जो प्रिय द्वारा उपभुज्यमान होनेके कारण और अधिक बड़े रूपमें अङ्गोंको अलङ्कृत करतेहैं, उसे शोभा कहतेहैं।[७] जब शोभाही आपूर्णमन्मथ होतीहै तो कान्ति कहीजातीहै।[८] और यही कान्ति अतिविस्तीर्ण होकर दीप्ति कहलातीहै।[९] इन शोभा, कान्ति तथा दीप्तिमें परस्पर तार-तम्य होताहै।[१०] जैसे रतिक्रीड़ादिक ललित भावोंमें, वैसे ही क्रोधादिक दीप्तभावों में, तथा सभी अवस्थाविशेषोंमें जो चेष्टाओंमें कोमलता होतीहै, उसे माधुर्य कहतेहैं।[११] अपने रूप, यौवनआदिके विषयमेंजो अविकत्थना तथा चाञ्चल्यसे अनुपहत जो स्वाभाविक चित्तवृत्ति हो उसे धैर्य कहतेहैं।[१२] चौसठों प्रकारके कामकलादिकोंमें जो निस्साध्वसता (बिना झिझक के प्रवृत्ति) होतीहै वही स्त्रियोंका प्रागल्भ्य कहलाताहै।[१३] जो अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोधआदि सभी प्रकारकी अवस्थाओंमें भी परुषवचनआदिका न कहना, उसे ही औदार्य कहतेहैं।[१४]

---

१. ना० शा० २२।१८ २. वही २२।१९
३. वही २२।२० ४. वही २२।२१
५. वही २२।२२ ६. वही २२।२४
७ वही २२।२७ ८. वही २२।२८
९. वही २२।२८
१०. 'तान्येव रूपादीनि (रूपयौवनलावण्यानि) पुरुषेणोपभुज्यमानानि छायान्तरं श्रयन्ति साच्छायामन्दमध्यतीव्रत्वं क्रमेण संभोगपरिशीलनादाश्रयति शोभां कान्तिं दीप्तिं चेत्यर्थः —(भारती)
११. ना० शा० २२।२९ १२. वही २२।३०
१३. वही २२।३१ १४. वही २२।३१

शृङ्गाररसके भी (रससामान्यकी भांति) सुकुमार तथा दीप्त दो पक्ष सम्भव हैं। उनमें सुकुमार वह पक्ष है, जिसमें अन्योन्यसंभोग तथा विप्रलम्भआदि भेद होतेहैं, और दीप्त वह है, जिसमें ईर्ष्या, अमर्ष दीप्तिआदि प्रकार होते हैं। जब शृङ्गारका सुकुमारपक्ष प्रयुज्यमान होताहै, उस समय उसमें ये पूर्वोक्त लीलाआदि अलंकारोंका अभिनय कियाजाताहै। और जब ईर्ष्याअमर्षआदि दीप्त पक्ष प्रयुज्यमान होताहै, उस समय विलास तथा ललितको छोड़ कर शेष सभीका क्रमिक अथवा युगपद् संभव अवश्य होताहै। अतः उनका अभिनय वहां करना चाहिए। किन्तु इतना ध्यान रखनाचाहिए कि ये सब स्त्रियोंके ही अलङ्कार कहे गयेहैं।

पुरुषोंके सात्त्विक अलंकार—इसीप्रकार पुरुषोंके भी आठ सात्त्विक अलंकार होतेहैं, जो इस प्रकार है—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य तथा तेज[1]। जिस सात्त्विकसे दाक्ष्य, शौर्य, उत्साह, नीच वस्तुओंके प्रति जुगुप्सा तथा उत्तमगुणों के साथ स्पर्धा व्यक्त होतीहै, उसे शोभा कहतेहैं।[2] धीरसञ्चारिणी दृष्टि, गवेन्द्रकी-सी गति, तथा स्मितपूर्वक आलाप ये विलास कहेजातेहैं।[3] अभ्यासवश जो युद्ध, नियुद्ध, व्यायाम आदि बड़े विकारोंमें भी कर, चरणआदि क्रियाओंकी श्लिष्टता (अनुल्वणता) बनीरहती है, उसे माधुर्य कहतेहैं।[4] शुभ अथवा अशुभ संकल्पसे समुत्थित धर्मार्थकामफलवाले व्यवसायसेन डिगना स्थैर्य कहलाताहै।[5] अभिनवने इस स्थैर्यके विषयमें व्याख्यान्तर भी उपस्थित कियाहै—अन्ये तु वीरस्यैतदनुचितमितिमत्वाऽन्यथाव्याचक्षते—शुभाशुभयोः समुत्थित इति तेन यच्छा-स्त्रोक्तमुचितमनुचितं चारभ्यते तत्र क्रियमाणे (शुभं) सुलभतयाऽर्थलाभः, अशुभं क्षयव्यया-दिरूपकमस्तु, तथापि तद्विषयाध्यवसायादविचलनं स्थैर्यं देहविकाररूपमेव।—(भारती)। जो हर्ष, क्रोध, भयआदि भावोंमें भी आकार अविकृतता दिखाई पड़ता है वह निस्तमित-देहस्वभाव गाम्भीर्य कहलाताहै।[6] निर्विकार सहजरूपमें, अबुद्धिपूर्वक शृङ्गारानुकूलचेष्टता को ललित कहतेहैं।[7] स्वजन अथवा परजनको दान देना, परित्राणआदिके याचकको अपना लेना तथा प्रियभाषण औदार्य कहलाता है।[8] परके द्वारा अर्थात् शत्रु द्वारा (गुरुमित्रआदि

---

१. 'शोभाविलासो माधुर्यं स्थैर्यगाम्भीर्यमेवच।
ललितौदार्य-तेजांसि सत्त्वभेदास्तुपौरुषाः॥ ना० शा० २२।३३

२. वही २२।३४

३. धीरसंचारिणीदृष्टिः गतिर्गोवृषभान्विता।
स्मितपूर्वमथालापो विलास इति कीर्तितः॥ वही-२२।३५

४. वही २२।३६ ५. वही २२।३७

६. वही २२।३८ ७. वही २२।३९

८. वही २२।४०

के द्वारा नहीं) प्रयुक्त अधिक्षेप अपमानआदिको जो प्राणोंकी भी न परवाहकर न सहनकरना, उसे तेज कहतेहैं।[1]

अनुभावके अन्तर्गत ही कुछ और भी शारीरिक अथवा आङ्गिक अभिनयोंका मुनिने उल्लेख कियाहै, जो सर्वरससाधारण कहेजायेंगे। वे इसप्रकार छः हैं—वाक्य, सूचा, अङ्कुर, शाखा, नाट्यायित, तथा निवृत्यङ्कुर।[2] इसीप्रकार दशरूपकोंके वाचिक अभिनय भी भाव-रसके अनुसार बारह प्रकारके कहेगयेहैं।[3] वे इसप्रकारहैं—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, तथा व्यपदेश। ये आङ्गिक तथा वाचिक दोनों प्रकारके अभिनय सामान्याभिनय कहे गयेहैं, क्योंकि ये सभी रसोंमें सामान्यरूपसे अभिनेय होते हैं।[4]

कामोपभोगके प्रकार—नाट्यमें कामोपभोगको भरतने दो प्रकारका बतायाहै—आभ्यन्तर तथा बाह्य। आभ्यन्तर अन्तःपुरको कहते हैं—वहीं होने वाले कामोपभोगको आभ्यन्तर कहतेहैं। और वह केवल पार्थिवोंका वर्णित कियाजाताहै—क्योंकि वे ही अनुकरणीय नागरिक होतेहैं। और बाह्य सम्भोग तो केवल वेश्यासम्बन्धी मानागयाहै, जो प्रकरण-नामक रूपकमें प्रदर्शित होताहै।

उपचारविधि—इसके पश्चात् भरतने कामतन्त्रके अनुसार उपचारविधिकी व्याख्या कीहै। देवदानवादि विविध शीलवाली स्त्रियोंको भरतने पुनः तीन प्रकारकी प्रकृतियोंमें विभक्त कियाहै—बाह्या, आभ्यान्तरा तथा बाह्याभ्यन्तरा।[5] इनमें कुलीन स्त्री आभ्यन्तरा कहलातीहै, वेश्या बाह्या तथा कृतशौचास्त्री बाह्याभ्यन्तरा कहीजातीहै, जो कोई वेश्या या पुनर्भवा ही होतीहै।

राजा का बाह्योपचार—राजोपचार में बाह्यस्त्रीभोग (वेश्योपभोग) नहीं रक्खा जाता।[6] राजाओंका केवल आभ्यन्तर भोग ही वर्णित कियाजाताहैं। इतरजनों (बाह्यजनो) का बाह्य वर्णित होताहै, क्योंकि समाजमें नायक राजा उच्च क्षत्रियवंशका युवा होनेके कारण वेश्यागामी नहीं दिखाया जासकताहै। यदि राजाका बाह्योपचार (वेश्याङ्गनासङ्गम) वर्णन ही करनाहो, तो वह केवल दिव्य-वेश्याङ्गना (अप्सरा) के साथ होगा, जैसे पुरूरवाका उर्वशीके साथ। और यदि राजाकी किसी कुलजाके प्रति कामिता वर्णित करनीहोगी, तो वह कन्यारूप ही होगी। राजाकी वेश्या भी कुलजातुल्य ही होतीहै।[7]

---

१. 'अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेणयत्।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्॥' ना० शा० २२।४१

२. 'एतेषांतु भवेन्मार्गोयथाभावरसान्वितः।' वही

३. वही २२।५१-६०
४. वही २२।४२-५०
५. वही २२।१५२
६. वही २२।१५४
७. वही २२।१५७

कामसमुद्भवप्रदर्शनविधि—नाट्यमें कामसमुद्भव श्रवण, दर्शन अङ्गलीलाविचेष्टित तथा मधुरसमालाप (रूप अनुभावों) द्वारा प्रदर्शित कियाजाताहै।[१] रूपवान्, गुणवान्, कला-विज्ञानयौवनादिसमलंकृत किसी पुरुषको देखकर नारी मदनातुर होजातीहै।[२] इसीप्रकार अन्य भी कामोत्पत्तिका निमित्त होताहै। अभिनवने इसकेलिए एक उदाहरण दियाहै, जैसे 'तापसवत्सराजचरित'में पद्मावतीके प्रति वत्सेश्वरकी मदनोत्पत्ति बतायी गई है और उसका निमित्त अतिशय अनुवृत्ति (पीछे पड़ना) बतायी गईहै।[३] भरतने कामयमान पुरुषों एवं स्त्रियोंकी प्रत्यङ्ग कामभावकी चेष्टाओंका निरूपण कियाहै, जिन्हें काव्य तथा नाटकमें उसके विशेषज्ञ लोग लक्षित करतेहैं। उस समय दृष्टि—ललिता (वलितान्ता, अर्धावलोकिनी) चलपक्ष्म, मुकुलेक्षणा तथा स्रस्तोत्तरपुटा (जिसकी ऊपरकी पलकें गिरती हुईहों) होती हैं।[४] मुखराग - जिसका गण्डस्थल ईषत् संरक्त हो, स्वेदलवोंसे युक्त, तथा प्रस्पन्दमान रोमाञ्च होताहै। वेश्यायें अपने मदनभावको सकटाक्षनिरीक्षणों, आभरणसंस्पर्शों, कर्णकण्डूयनों, अङ्गुष्ठाग्रविलेखनों, स्तननाभिप्रदर्शनों, नखनिस्तोदनों (नाखूनकाटने) तथा केशसंयमनों द्वारा प्रदर्शित करतीहैं,[५] जबकि कुलाङ्गना मदनभावप्रेरिता होकर आंखोंसे हंसती-सी देखतीहै, निगूढ़ मुस्कातीहै, अधोमुखी होकर बातें करती हैं, स्मितोत्तर धीर वाक्य बोलतीहै, अपने स्वेदाकारको छिपातीहै, उसके अधर फड़कते हैं तथा दृष्टि चकित रहती है।[६]

कामके दस स्थान अथवा अवस्थायें—इसप्रकार मदनभाव (स्नेह) के उदय होने पर सुरतोत्सव (संयोग) की प्राप्तितकके बीचमें (अर्थात् पूर्वरागरूपी विप्रलम्भमें) (वेश्या, कुलाङ्गना) सभी प्रकारकी स्त्रियों तथा पुरुषोंका भी काम (स्नेहभाव) दशस्थान (अवस्था) गत दिखाया जाताहै।[७] स्त्रियोंकी भांति पुरुषोंमें प्रेम मनोविकारके उत्पन्न होने पर वे अभिलाषादि प्रसिद्ध अवस्थायें देखीजातीहैं। इनका लक्षण भरतने सविस्तर कियाहै।[८] इन दस काम अवस्थाओंका वर्णन यहां मुनिने कामतन्त्रकी समीक्षासे कियाहै। इसमें भी नाट्यमें 'मरण' का प्रदर्शन नहीं करनाचाहिए। पुरुषकी भी ये विप्रलम्भगत अवस्थायें होतीहैं। किन्तु पुरुषोंको मिलनके उपाय सुलभ होतेहैं। अतः वे बीचमें (बिना सभी अवस्थायें भोगे) ही समागम कर सकतेहैं, किन्तु स्त्रियोंकेलिए यह सम्भव नहीं। अतएव ये कामावस्थाएं स्त्रियोंके ही सम्बन्धमें कहीगईहैं। पुरुषोंमें तो अतिदेशरूप ही इनकी सत्ता मानीजातीहै।[९] पूर्वोक्त दसों

---

१. ना० शा० २२।१५८

२. रूपगुणादिसमेतं कलादिविज्ञानयौवनोपेतम्।
दृष्ट्वा पुरुषविशेषं नारी मदनातुरा भवति॥—वही २२।१५९

३. ४।८ भारती ४. ना० शा० २२।१६१ ५. वही २२।१६४-६५

६. वही २२।१६७-६८ ७. वही २२।१७०-७२ ८. वही २२।१७३-१८१

९. पुरुषस्य सुलभोपायत्वान् मध्य एव समागमः शक्यक्रियः, न तु योषितामित्याशयेन कामावस्थाः स्त्रीषूपदिष्टाःपुरुषेष्वतिदिष्टाः—भारतीः।

कामदशाओंमें कुछ सामान्यगुण अथवा धर्म भूयिष्ठ अभिनेय होतेहैं, जैसे—चिन्ता, निःश्वास, खेद, हृद्दाहाभिनय, अनुगमन, ऊर्ध्वनिरीक्षण, स्पर्शन, मोटन तथा उपाश्रयाश्रय आदि ।[1]

नारीके विषयमें नीतिपञ्चक—नारीके विषयमें मुनिने नीतिपञ्चक के प्रयोगका उपदेश दियाहै । वे हैं—साम, उपप्रदान, भेद, दण्ड तथा उपेक्षा ।[2] साममें— 'मैं तुम्हारा ही हूं', 'तू मेरी ही है, मैं तेरा दास हूं, तू मेरी प्रिया है' इत्यादिरूपसे स्वभाव प्रदर्शन होता है । उपप्रदानमें यथावसर प्रमोदव्यसनआदि किसी निमित्तसे भूयोभूयः धनदान होताहै । भेदमें—उस नायिकाके अन्य प्रियके दोषोंको इसप्रकार दिखाया जाता है कि वे उसे सत्यरूप ही प्रतीत होतेहैं । इस प्रकार पूर्वप्रियसे सोपाय विमुखी किया जाता है । दण्डमें—बन्धन तथा ताड़न ही होता है । बादके आचार्योंने इन्हें मानभङ्गके उपायके रूपमें निरूपित कियाहै । इनमें नायिकाविशेषके साथ उपायविशेषका प्रयोग भी बताया गयाहै । मध्यस्था (किञ्चित् स्निह्यन्तीमित्यर्थः—भारती) को सामउपायसे, लुब्धा को उपप्रदानसे, तथा अन्यपुरुषके साथ बद्धभावाको भेदसे अपनीओर सम्मुख करे । और भागने या पुरुषान्तरके घरमें रहनेपर मृदु दण्ड तथा बन्धन दे ।[3] और यदि सामादिक उपायों का यथाक्रम प्रयोग करनेपर भी कोई फल न मिले, अर्थात् वह वशमें न आये तो बुद्धिमान् नायक उसकी केवल उपेक्षा करे । स्त्रियोंके मुखके रङ्गसे, नेत्रोंसे तथा भावव्यञ्जक चेष्टाओं द्वारा पता चलजाता है कि कौन उनका द्वेष्य है, कौन उनका प्रिय अथवा अप्रिय तथा कौन मध्यस्थ है । मानिनी वेश्याओंकेलिए अर्थवश प्रिय अथवा अप्रिय पुरुष गम्य ही होताहै । किन्तु दिव्याङ्गनाओं अप्सराओंके विषयमें यह बात नहीं है । उनमें अर्थपरायणता नहीं होती । यद्यपि वेश्याका हृदय दुर्लक्ष्य होताहै । बातोंसे वह अपने मनोभावके प्रतिकूल भी आचरण करतीहै—द्वेष्यको भी प्रिय कहतीहै, प्रियको प्रियतर बतातीहै । इसीप्रकार दुश्शीलको सुशील तथा निर्गुणको गुणाढ्य बतातीहै । किन्तु जिसे देखकर उत्फुल्लतारक नेत्रों द्वारा हंसतीहुई प्रसन्नमुखरागा दिखायीपड़े, उसके साथ उसका भावबन्धन समझनाचाहिए ।[4] इसप्रकार भावाभावोंको जानकर ही नारी (वेश्या) का कामातन्त्रानुसार यत्नपूर्वक उपयोग करे । उपचारप्राचुर्यके कारण तथा बीच-बीच में विप्रलम्भका पुट पाजानेके कारण वेश्याओंमें काम काष्ठाग्निकी भांति दुश्चिकित्सरूपमें निष्पन्न होताहै । इतना सारा योषित्उपचारविवेचन भरतने वैशिक पुरुषके प्रसंगमें कियाहै, जो प्रकरणनामक रूपक तथा नाटकमें यथायोग (अर्थात् पताकानायकआदिके साथ) उपयोज्य है ।[5]

नाटकका सुकुमारप्रयोगत्व—भरतका कहना है कि इसप्रकार विभावों तथा अनुभावोंके निदर्शन द्वारा भावोंका अभिनय करनाचाहिए ।[6] जैसे मालाकार नानाप्रकारके पुष्पों से माला गूंथताहै उसीप्रकार अङ्गों, उपाङ्गों, रसों तथा भावों द्वारा नाट्यप्रयोग करना

१. ना० शा० २२।१६५-६७ २. वही २३।६५ ३. वही २२।६६-७०
४. वही २३।७६ ५. वही २३।७६ ६. वही २५।४

चाहिए।[1] नाटक, प्रकरण, भाण तथा वीथ्यङ्ग मनुष्याश्रित प्रयोग होनेके कारण सुकुमार प्रयोग कहेगयेहैं। सुकुमारप्रयोग राजाओंको आमोद देतेहैं, क्योंकि उनमें स्त्रियोंका स्वभावोपनत विलास दिखायी पड़ताहै। स्त्रियोंके शृङ्गाररसको लेकर यह सुकुमारप्रयोग कियाजाता है।[2] नाट्यमें नानाशीलोंवाले उत्तम-मध्यम-अधम, वृद्ध-वालिश तथा स्त्रियोंरूप प्रकृतियोंका प्रतिनिधित्व कियाजाताहै। नाट्यमें पुरुषार्थचतुष्टयका निरूपण होता है। भरतके ही शब्दोंमें—

'तुष्यन्तितरुणाःकामेविदग्धाःसमयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैवमोक्षेष्वथविरागिणः।
शूरास्तुवीररौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानेपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्तिनित्यशः॥
नशक्यमधमैर्ज्ञातुमुत्तमानांविचेष्टितम्।
तत्त्वभावेषु सर्वेषु तुष्यन्ति सततं बुधाः।
बालामूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा॥'[3]

किन्तु वास्तविक प्रेक्षक तो वह है, जो (नाटकनायकके) तुष्ट होनेपर तुष्टि प्राप्त करताहै, शोक में शोक अनुभव करता है, क्रोधमें क्रुद्ध होताहै तथा भयमें भीत होताहै[4], जैसा कि अभिनवने सहृदयका लक्षण अपने ध्वन्यालोक-लोचनमें कियाहै—'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजःसहृदयाः।' भरतका कहना हैं कि इस प्रकारका शृङ्गाररसपूर्ण कैशिकीवृत्तिसंयुक्त, नृत्तवादित्रगीताद्य नाट्य प्रदोषवेलामें प्रदर्शनीय होताहै[5], और कुशल नटको चाहिए कि वह मनसे 'मैं वही हूं' इस प्रकार अपनेको उसी पात्रके रूपमें रमाकर (काव्यानुसन्धानबलाद् इत्यर्थः) वाक्, अङ्ग, गति, लीला, चेष्टाआदि द्वारा नाट्याभिनय[6] करे।

शृंगाररसमें रुद्रटने वैदर्भी या पाञ्चाली रीतिका अनुसरण करनेको कहाहै और मधुरा तथा ललिता वृत्तियोंको स्वीकार कियाहै[7]। वैसे ही नायिकाकी ये सहायिकायें भी उसके प्रति निष्ठा रखतीहैं एवं कार्यकुशल होती हैं।[8]

---

१. ना० शा० २५।११७
२. वही २६।२५-२६
३. वही २७।५८-६१
४. वही २७।६१-६२
५. वही ना० शा २७।६३
६. 'एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीतिमनसास्मरन्।
वागङ्गगतिलीलाभिश्चेष्टाभिश्चसमाचरेत्॥ —वही ३५।१४,
७ इह वैदर्भीरीतिः पाञ्चाली वा विचार्यरचनीया। मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृंगारे ३७—
८ दूत्योदासीसखीकारुधात्रेयीप्रतिवेशिका। लिङ्गिनीशिल्पनी चैवं नेतृमित्रगुणान्विताः —द०रू०२।२६

नायिकाके यौवनके अलंकार—फिर धनंजयने भरतके अनुसार ही स्त्रियोंके यौवन में सत्वोद्भूत भाव, हावआदि बीस अलंकारोंका निर्देश कियाहै ।[१] । इनमें भाव, हाव और हेला शरीरज हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज हैं, तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये दस स्वाभावज हैं[२] । धनंजयने प्रत्येकका संक्षेपमें (थोड़ी नवीनताके साथ) इसप्रकार लक्षण कियाहै—**भावः**—निर्विकारात्मक सत्त्वसे प्रथम विकारकी उद्भूति भाव कहलातीहै[३] । भरतने इस प्रसंगमें सत्त्वको देहस्थानीय कहाथा और सत्त्वसे भावकी उत्पत्ति बतायीथी—देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः[४] । वास्तवमें तो उन्होंने भावकी उत्पत्ति चित्तसे ही मानीहै—भावश्चित्त-समुत्थितः[५] । अतः निर्भ्रान्त रूपमें रखनेकेलिए धनंजयने केवल सत्त्वशब्दका प्रयोग किया । और धनिकने भी सत्त्वशब्दका कोई पर्याय नहीं दिया और जो विकारका आश्रयरूपसे सत्त्वको बतायाहै इससे यह निष्कर्ष निकाला जासकताहै कि सत्त्वका अर्थ उन्होंने मन ही लिया, क्योंकि विकारोंका आश्रय मन ही रहताहै । जैसे अङ्कुरित होने-के पूर्व बीज कुछ फूल जाताहै, उसी प्रकार नायिकाके मनमें उत्पन्न हौनेवाला प्रथम शृंगार-विकार 'भाव' कहाजाताहै । **हाव**—आखों और भौहोंमें विकार उत्पन्न करनेवाला शृंगारमय स्वभावविशेष हाव कहलाताहै । इस दशामें नायिका अधिक बातचीत नहीं कर पाती[६] । **हेला**—हाव ही जब सुव्यक्तरूपसे शृंगारका सूचक होताहैं तो हेलानामक शरीरज अलंकार कहलाताहै[७] । अयत्नजों में—**शोभा**—रूप, विलास तथा यौवनके कारण अंगोंके सज जाने को शोभा कहतेहैं[८] । धनिकने शोभाके उदाहरणमें कुमारसम्भवका यह श्लोक दियाहै—

> "तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
> भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपिनार्यः ।।

कान्ति—शोभामें ही जब कामका आविर्भाव होताहै तो उसकी कान्ति और अधिक बढ़ जातीहै और तब उसे कान्ति कहतेहैं[९] । इसका उदाहरण हम बाणके महाश्वेतावर्णनमें देख सकतेहैं । **माधुर्य**—चेष्टामें अनुल्वणता (अन्यूनातिरिक्तता) को माधुर्य कहतेहैं ।[१०] **दीप्ति**—शोभामें कामभाव सम्मिश्रण कान्ति कहलाताहै, और ऐसी कान्तिका जब उद्रेक हो तो उसे

१ यौवनेसत्त्वजाः स्त्रीणामलंकारास्तु विंशतिः—द० रू० २।३० २ वही २।३०-३३
३ वही २।३३ ४ ना० शा० २४।७ ५ वही २४।१०
६ अल्पालापः सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।—द०रू० २।३०
७ स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका—वही २।३४
८ रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानांविभूषणम्—वही २।३५
९ मन्मथावापितच्छायासैवकान्तिरितिस्मृता—वही २।३५
१० अनुल्वणत्वं माधुर्यम्—२।३६

दीप्ति कहतेहैं[१]। **प्रागल्भ्य**—मनके क्षोभके साथ जो अंगों में ग्लानि होतीहै, उसे साध्वस कहतेहैं। उसका न पायाजाना प्रागल्भ्य कहलाताहै[२]। **औदार्य:**—सदा स्नेह एवं आदर भावसे युक्त रहना औदार्य कहलाताहै[३]। **धैर्य**—चंचलता एवं आत्मश्लाघासे रहित चित्तवृत्तिको धैर्य कहतेहैं[४]। ये पूर्वोक्त सातों स्वाभाविक इसलिए हैं कि प्रियके संग पड़कर ये स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।

अब दस स्वाभाविक अलंकारोंका विवेचन करतेहैं—(ये Psychological होते हैं) **लीला**—प्रियकी श्रृंगारविषयक वाणी वेष और चेष्टाका नायिका द्वारा मधुर अनुकरण करना लीला कहलाताहै।[५] **विलास**—प्रियके अवलोकनादिके समय जो अंगोंमें क्रियाओं तथा वचनोंमें एक वैशिष्ट्य आजाताहै उसे विलास कहतेहैं।[६] **विच्छित्ति**—जहां थोड़ी भी वेषरचना बहुतरकमनीयता ला दे वहां उसे विच्छित्ति कहतेहैं।[७] **विभ्रम**—त्वराके कारण समयपर जो आभूषणोंको उलटफेरकर पहिन लेना होताहै, उसे विभ्रमकहतेहैं।[८] (धनिकने विभ्रमके उदाहरणमें अपना सुन्दर श्लोक उद्धृत कियाहै—

श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया। भालेञ्जनं दृशोर्लाक्षाकपोलेतिलकः कृतः॥
किलकिञ्चत—नायिकामें एक साथ क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भयआदिके साङ्कर्यको किलकिञ्चत कहतेहैं।[९] **मोट्टायित**—प्रियकी कथाआदिमें जो तद्भावसे तन्मयता आजातीहै उसे मोट्टायित कहतेहैं।[१०] **कुट्टमित**-नायकके केश तथा अधरआदि पकड़नेपर नायिका दिलसे प्रसन्न होतीहुई भी, जो बाहरसे क्रोध करे वह कुट्टमित कहलाताहै[११]। **विब्बोक**—जब नायिका गर्व तथा अभिमानके कारण इष्ट वस्तुके प्रति भी अनादर दिखातीहै तो उसे विब्बोक भाव कहतेहैं[१२],

---

१ दीप्तिः कन्तेस्तु विस्तरः —द० रू० २।३६

२ निस्साध्वसत्वंप्रागल्भ्यम् वही—२।३६

३ औदार्यं प्रश्रयः सदा—वही २।३६

४ चापलाविहताधैर्यचिद्वृत्तिरविकत्थना—वही २।३७

५ प्रियानुकरणं लीलामधुराङ्गविचेष्टितैः—वही २।३७

६ तात्कालिकोविशेषस्तुविलासो ङ्०ग्रक्रियोक्तिषु—वही २।३८

७ आकल्परचना ल्पापिविच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्। वही २।३८

८ विभ्रमस्त्वरयाकालेभूषास्थानविपर्ययः। वही २।३९

९ क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिंचितम्। वही २।३९

१० मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु—वही २।४०

११. सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे—द१ रू० २।४०

१२. गर्वाभिमानादिष्टेऽपिविब्बोको नादरक्रिया—वही २।४१

ललित—कोमल तथा स्निग्ध प्रकारसे अंगोंके विन्यासको ललित भाव कहतेहैं।[१] **विहृत**—जब लज्जाके कारण नायिका अवसरकी बात भी नहीं कहपाती तो उसे विहृतभाव कहतेहैं।[२]

भोजके शृं० प्र० के सत्रहवें प्रकाशका विषय रतिके अनुभावोंका विवरण है। सरस्वती-कण्ठाभरणमें भी इसका उल्लेख हुआहै, किन्तु अपेक्षाकृत अत्यन्त संक्षिप्तरूपमें ही। 'स्मृति, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न से उत्पन्न भाषण, स्वेदरोमांच, हर्ष, अमर्ष, सुन्दरियोंके नैसर्गिक विलास लीलाविलासआदि, स्त्रीपुरुषके हेला, हावआदिका उपसंख्यानमात्र सरस्वतीकण्ठाभरण में कियागयाहै। भाव और अनुभूतिके पश्चात् इनका नाट्यकलामें स्मरण कियाजाताहै, अतः इन सबको अनुभाव कहतेहैं। सरस्वतीकण्ठाभरणमें इनका उदाहरण भी दियागयाहै। किन्तु **श्रृङ्गारप्रकाशमें** इनका विशेष विस्तार कियागयाहै। स०कं०में इतना सब नहीं है। यहां शृ०प्र०में प्रारम्भमें ही अनुभावकी परिभाषा भोजने इस प्रकारकी है—जिनमें रत्यादिसंस्कार विभावादिकोंके कारण प्रबुद्ध हुएहैं, ऐसे नायकआदिकी, स्मृति, इच्छा, द्वेष प्रयत्नके कारण मन, वचन, बुद्धि, शरीरकी चेष्टाएं (चाहे उनका अनुभव किया जाताहै, इसलिए, अथवा रत्यादिभावोंके पश्चात् (अनु) होतीहैं इसलिए) अनुभाव कहलातीहैं।[३] फिर मानस, वाचनिक, **बौद्धिक** तथा शारीरिक अनुभावोंका अलग-अलग विवेचन कियागयाहै। इनमें **मनआरम्भअनुभाव**—भाव, हेला, शोभा, कान्ति, उद्दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य तथा गाम्भीर्य ये १२ हैं। ये प्रायः सभी नाट्यशास्त्रमें भी कहेगयेहैं।[४] **वागारम्भअनुभाव**—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, सल्लाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश और व्यपदेश ये ये भी १२ ही हैं। यह भी नाट्यशास्त्रके अनुसार ही हुआहै। भरतने इन्हें वाचिक अभिनयमें कहाहैं।[५] **बुद्ध्यारम्भ अनुभावोंका** वर्णन भोजकी अपनी सूझ या कल्पना है। इनमें चार रीतियां चार प्रवृत्तियां तथा चार वृत्तियां आतीहैं। **रीतियां**—पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटीया हैं। **वृत्तियां**—भारती, आरभटी, कैशिकी और सात्त्विकी हैं; तथा **प्रवृत्तियां**—

---

१ सुकुमारांगविन्यासो मसृणो ललितंभवेत्—द० रू० २।४१

२ प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद्व्रीडयाविहृतंहितत्—वही २।४२

(धनिक ने विहृत का एक मनोहर उदाहरण उद्धृत किया है)

पादाङ्०गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिनासापदेशंलिखन्ती

भूयोभूयः क्षिपन्ती मयिसितशबलेलोचनेलोलतारे।

वक्त्रंह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधर-पुटं वाक्यगर्भंदधाना

यन्मांनोवाचकिंचित्स्थितमपिहृदयेमानसंतद्दुनोति।)

३. इदानी मनुभावं व्याख्यास्यामः। तत्र विभावैः प्रबुद्धसंस्कारस्यनायकादेः ये स्मृतीच्छाद्वेषप्रयत्नजन्मानः मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भाः तेऽनुभूयमानत्वाद्रत्यादीनामनन्तरभवनाच्च अनुभावाः।—शृ० प्र०

४. ना० शा० २४। ५. वही २४।५७

पौरस्त्या, अर्द्धमागधी, दाक्षिणात्या और आवन्त्या प्रसिद्ध हैं। अन्य सभी आचार्योंने इन रीतियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंको गुण या अलंकारके साथ सम्बद्ध कियाहै। किन्तु भोजने इन बारहोंको बौद्धिक अनुभाव मानाहै। यह भोजकी अपनी चिन्तना है। **शरीरारम्भ अनुभाव**—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडत तथा केलि ये १२ हैं। भरतने अपने नाट्यशास्त्र में स्त्रियोंके इन दस स्वभावज अलंकारों का उल्लेख किया है[1] भोजने क्रीडित और केलि इन दो अधिक का परिगणन कियाहै। (इसकेलिए शिङ्गभूपालने भोजकी आलोचना भी कीहै) इनका लक्षण भी भोजने नाट्यशास्त्रके अनुसार ही किया है। क्रीडित को उन्होंने बाल्य, कौमार तथा यौवन में एकरूप का विहार या खेल कहाहै।[2] इसके उदाहरणरूपमें कालिदासके कुमारसम्भवसे यह श्लोक उद्धृत कियाहै—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगतासखीनां क्रीडारसं निर्विशतीवबाल्ये॥

और इस क्रीडितको ही, जब प्रियतम के साथ किया जाय तो केलि बतायाहै।[3]

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलै रपारयन्तं किल पुष्पजंरजः।
पयोधरेणोरसि काचिन्दुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥

इन्हें बुद्ध्यारम्भ अनुभावके रूपमें शिङ्गभूपालने भी मानाहै, जो भोजका अनुगमन समझ पड़ताहै, और भोजने सम्भवतः राजशेखरका भी अनुसरण कियाहै—किन्तु भोजने इस विवेचन में अपना स्रोत भरतको ही प्रधान रूपसे मानाहै—

मनोवाग्बुद्धिजन्मानः आरम्भास्तु सहस्रशः। भरतादिप्रणीतत्वात् किन्त्विहैते प्रदर्शिताः।

फिर शरीरारम्भ अनुभावके रूपमें ही भोजने अधर, कपोल, हास, भ्रूकर्म, ताराकर्म, अक्षिपुट-कर्म तथा दृष्टि-प्रकारका विवेचन कियाहै, जो भरतके अनुसार ही हुआहै।

शारदातनयने उसी प्रकार मनोवाक्कायबुद्धिसे सम्बन्धित अनुभावोंका वर्णन किया है। इनमें मनसम्बन्धी (मन आरम्भ) अनुभाव स्त्रियोंके भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, दशप्रकारके होतेहैं। वाक्सम्बन्धी (वागारम्भ) अनुभाव-आलाप, प्रलाप, अनुलाप, विलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश—बारह गिनाये गयेहैं। कायसम्बन्धी (गात्रारम्भ) अनुभाव-स्त्रियों के लीला-विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, हिल्लोल, ललित-दस कहे गये हैं (इसी प्रकार शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, ललित, औदार्य तथा तेज—ये आठ पुरुष के सात्त्विक भाव भी अनुभाव में ही गिने जायेंगे। और शृङ्गाररस में इनका प्राचुर्य माना गया है।[4]) तथा

---

१. ना० शा०, २४।१२—१३

२. बाल्यकौमारयौवनसाधारणो विहारविशेषः क्रीडितम्।—स० कं० ५,

३. क्रीडितमेव प्रियतमविषये (यं) केलिः।—स० कं० ५,

४. प्राचुर्यमेषांशृङ्गारे— भा० प्र० १।१०

बुद्धि-सम्बन्धी (बुद्ध्यारम्भ) अनुभाव-रीतियां, वृत्तियां और प्रवृत्तियां कही गयी हैं। भोज के समान शारदातनयने भी रीतिआदिको बुद्ध्यारम्भ अनुभावोंमें लियाहै। रीतिको उन्होंने वचनविन्यासक्रम (पदोंको विशिष्टरूपसे रखना) कहाहै[1]—यहां शारदातनयने रीति का जो लक्षण दियाहै वह बहुतकुछ वामनकी रीति-परिभाषासे मिलताहै।[2] रीति बुद्धि-सम्बन्धी अनुभावोंमें प्रथम स्थान पातीहै।[3] रीति चार प्रकार की बताई गईहै—वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी तथा गौड़ी। साथ ही दो और भी मानीजातीहैं—सौराष्ट्री एवं द्राविड़ी।[4] यह नाम भी उन-उन देशोंकी रचनाशैलियोंको उन्हीं-उन्हीं देशोंके नामपर देदियागयाहै।[5] (जैसाकि अभिनव नेभी कहा है—'गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाक्प्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्।'[6]) इन रीतियों का भेद समास, सौकुमार्यादि अनेक दृष्टियोंसे कियागया है—और इनके कुल भेद करीब १०५ होते हैं। किन्तु ग्रन्थविस्तारके भय से शारदातनयने सबका उल्लेख नहीं कियाहै।[7] उनका तो यहांतक कहनाहैकि वे ही अक्षरविन्यास और वे ही पद-पंक्तियां अलग-अलग पुरुषोंमें अलग-अलग रचना बन जातीहैं।[8] अतः चार ही रीतियोंको मानना अधिक उपयुक्त होगा (और इन्हींमें सबका अन्तर्भाव होजायगा) फिर चारों वेदोंसे भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियोंकी उत्पत्ति बताईहै, और इस विषयमें भरतका ही अनुसरण कियाहै। शृंगाररसमें कौशिकी वृत्तिको विशिष्टरूपमें कहाहै। प्रवृत्तियां भी उसीप्रकार दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या तथा औढ्रमागधी—ये चार बताई हैं। इनमें मागधी, अवन्तिकाआदि सात भाषाएं तथा शकार, आभीरआदि वनचरोंकी हीन सात भाषाएं भी हैं। इन बुद्ध्यारम्भ अनुभावोंपर विचार करनेसे पता चलताहै कि ये सबके सब प्रायः वचन रूपही हैं, जो बुद्धिविशेषके अभिव्यंजक होनेके कारण बुद्ध्यारम्भ कहेगयेहैं।

अनुभावरूप सात्त्विकभाव—सात्त्विकभाव भी अनुभावरूप ही हैं, किन्तु सत्त्व

---

१ रीतिर्वचनविन्यास क्रमः वही १।११

२ विशिष्टपदरचनारीतिः—का० सू०,

३ 'बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते।—भा० प्र० १।११

४ तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः। सौराष्ट्रीद्राविडीचैतिरीतिद्वयमुदाहृतम्। वही—१।११

५ तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक्॥ वही—१।११

६ लोचन, १

७ तासु पञ्चोत्तरशतं विधाःप्रोक्ता मनीषिभिः।
ग्रन्थविस्तारभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते। भा० प्र० १।११

८ त एवाक्षरविन्यासास्ताएव पद-पंक्तयः। पुंसि पुंसिविशेषेणकापिकापिसरस्वती। वही—१।१२

(परभावभावित) अथवा सत्त्वपरिणामी मनसे[1] उत्पन्न होनेके कारण इन्हें पृथक् विशिष्टरूपसे गिना गयाहै। ये पहलेके ही आचार्योंके अनुसार आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद (भङ्ग) वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय। काव्यबन्ध बनकर ये विशेषरूपसे रसपोषक होतेहैं।[2]

उपचारलक्षण एवं प्रकार—वस्त्र, अङ्गराग, आभरण, माला, शय्या, आसनआदि में जिस जिसके प्रति स्पृहा हो उससे देशकालके अनुसार अतिशय आदरके साथ सत्कृत करना उपचार कहलाता है[3]—स्त्रियोंके प्रति उनके शीलके अनुकूल ही रीतिविवृद्धिकेलिए पुरुषोंको उपचार करना चाहिए। उपचार तीनप्रकारका माना गयाहै—वेश्याका, कुलजा (स्वीया) का तथा अन्याका।[4] सभी प्रकारोंमें, युवक युवतियोंमें अनेक हेतुओंसे उत्पन्न काम आलम्बनगुणों की विशेषतासे उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनप्रकारका होताहै।[5] वस्त्र, अंगराग, आभरण, माला, शय्या तथा आसनआदि तो कुलीन अथवा वेश्या सबप्रकारकी नायिकाओंमें सामान्य रूपसे दिखायी पड़तेहैं।[6] हां, कुलीनाके उपचारमें सत्य एवं ऋजुता पुरस्सर होतीहै, जब कि अन्य नायिकाओंके उपचारमें अवस्था, देश एवं कालका प्राधान्य रहताहै।[7]

यदि स्त्री पहले रक्त हुई तथा पुरुष बादमें अनुरक्त हुआ तो यह स्वभावसुभग उत्तम सम्भोग माना गयाहै, यदि पुनः उनका स्नेह समकालिक परस्पर एक साथ हुआ तो वह काम (प्रेम) सम्भोग लीलारूप मध्यम मानाजाताहै, और यदि अनुराग एकहीमें रहे तो वह अधम एवं उपहसनीय प्रेम या काम होता है।[8]

राग तथा अपरागके चिह्न—फिर शा० त० ने स्त्रियोंके राग तथा अपरागके चिह्नों को, भरतके ही अनुसार, कुछ अपनी स्पष्टता के साथ कहा है। कुलाङ्गना, वेश्या तथा अन्याके अनुरागचिह्न पृथक्-पृथक् बड़े विस्तारके साथ कहे गयेहैं।[9] शारदातनयने एक मारुतिनामक आचार्यके मतानुसार माना है कि ये अनुराग-चिह्न वेश्याआदिके पृथक्-पृथक् रूपवाले नहीं होते अपितु वे सब स्त्रियोंके सामान्य-चिह्न कहेजाने चाहिए। इस प्रकार भावपरीक्षा करके ही यदि स्त्री रक्ता हो तो उसका अनुरंजन उचित होताहै। नायकके अनुरक्त होनेपर स्त्रीकी

---

१ यत्सत्त्वपरिणामिस्याद्द्रव्यंतन्मनउच्यते। भा० प्र० १।६

२ एतेविशेषतः काव्यबन्धास्तु रसपोषकाः।—वही १।१५

३ वही ५।११२ ४ वही ५।११२ ५ वही ५।११३

६ वही ५।११३ ७ वही ५।११३ ८ वही ५।११३

९ स्त्रिया जातानुरागायानायके लक्षणान्वितं। कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत्। स्निग्धंच मसृणं चक्षुरधरः स्पन्दते स्फुटम्। स्मितोत्तरंच वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः॥ ऊर्वोः सम्पीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम्। अलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्गसमर्पणम्॥ नीवीं विस्रस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः। वचनेवचनं तूष्णीं वीक्षणेऽप्यनवेक्षणम्॥

होनेपर स्त्रीकी रति और भी पुष्ट होती है।[1] प्रियके प्रति रक्ता नायिकाके आभ्यन्तरोपचारोंका भी फिर विस्तारके साथ विवेचन कियागयाहै[2]—इसी प्रकार विरक्ता (दूरस्था या समीपस्था) के भी चिह्नोंका संकलन कियागयाहै। जिन्हें जानकर उसे तत्क्षण त्याग देना चाहिए।[3] और उत्तम-पुरुष तो विरक्तिका एक भी चिह्न देखकर विरक्त होजाताहै। किन्तु

इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तांविद्यात् कुलाङ्गनाम्। कर्णकण्डूयनंनाभेरुर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम्॥
विमर्दनंच स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः। अन्यापदेशकथनमन्यैःसस्मितभाषणम्॥
विलोकनं चसव्रीडमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम्। नखनिस्तोदनं केलिःसखीनिर्भर्त्सनं मृषा॥
पदान्तरे स्थितिर्व्याजादंजलिर्देवताच्छलात्। भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत्॥
दृष्टेदृशोर्विकासश्च माधुर्यं भाषणेऽन्यतः। प्रसादोवदनेहर्षः सम्भ्रमस्तस्य दर्शने॥
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम्। स्वभर्तुःप्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु॥
प्रेषणं भोग्यवस्तूनां समाजेतस्य गर्हणम्। सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः॥
मदम्बनाथमन्नाथेत्येवं बालोपलालनम्। भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम्॥
ये भावारागचिह्नानि स्त्रीणामुक्ताः पृथक्-पृथक्।
साधारणास्ते सर्वासां स्त्रीणामित्याह मारुतिः॥ भा० प्र० ५।११४'

१ एवं भावान् परीक्ष्यैव रक्ताश्चेदनुरञ्जयेत्।
नायकेष्वनुरक्तेषु रतिं पुष्यंति यौषितः॥ वही ५।११४

२ आभ्यन्तरोपचारस्तु रक्तायाः कथ्यतेऽधुना। रक्ताविविक्तवसतिं प्रियेणसहवांछति॥
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददातिच। सम्पूजयति मित्राणिद्वेष्टि शत्रुजनं तथा॥
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम्। तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहं चनिरीक्षते॥
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता। स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु॥
प्रथमं चेष्टतेस्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते। न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन॥
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुङ्क्तेऽन्यत्राहृतान्यपि। रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति क्षणम्॥
न दृष्टिमन्यतो धत्ते नशृणोतिबहिः क्वचित्। न चिन्तयत्यात्मनीनंकिंचिदन्यत्प्रियं विना॥
रोमांचतिप्रियस्पर्शेमुह्यतिस्विद्यतिश्वसेत्।एवंरक्तासमुत्थाःस्युरुपचाराःप्रियंप्रति॥वही५।११५

३ विरक्तानांतु लिङ्गानिकथ्यन्तेयानि कानिचित्। निष्ठीवनंदृष्टमात्रे सद्योवक्त्रावगुण्ठनम्॥
गूढावस्थानमन्यार्थपारवश्यमनादरः। अदेशकालगमनमाह्वाने कालयापनम्॥
प्रेषितस्याप्यनादानं गन्धमाल्यादिवस्तुनः। आर्तस्यानादरक्षेपोभूमौ वा दानमन्यतः॥
अङ्गसादप्रकथनं दूतादीनामनुत्तरम्। एवमादीनि चिह्नानि दूरस्थानां तु योषिताम्॥
आसन्ना दूरमध्यास्ते कथामन्यां ब्रवीति च॥
पृष्टा यथायथं ब्रूते चुम्बितास्यं प्रमार्जति। अनिष्टां चकथां ब्रूते प्रियमुक्तापि कुप्यति॥
न च चक्षुर्ददात्यस्य न चैनमभिनन्दति। शेते पुरःशाययति पुनर्निद्राति तत्क्षणम्॥
प्रबोधिता यापयति कालं रन्तुं न वाञ्छति। स्पृष्टा संकोचयत्यङ्गं निमीलयति लोचने॥

जहां राग-अपराग दोनोंके (सङ्कर) चिह्न दिखायीपड़े उसे तो स्वीकार ही करनाचाहिए।[1] जो नायकसे अनुरागभ्न करनेके कारण भागना चाहतीहै, उस नायिकाका भी प्रसङ्गात् लक्षण कहते हैं—पहले आसन पर न बैठना, फिर आसनको हिलाते रहना, बगलमें किसी न किसी अंगको हिलाते रहना, बार-बार जंभाई लेना, बार-बार द्वारकी ओर देखना, हाथपैर फैलाकर सिकोड़ना, आसनसे कटिभाग उठाये रहना, शरीर तोड़ना, अङ्गुलियां फोड़ना, बाहरकी बात सुनना आदि।[2]

विरागके कारण—युवक-युवतियोंके परस्पर विरागके कारण भी कुछ बतायेगयेहैं—कार्श्य, व्याधि, शोक, पारुष्य, रूपका संक्षय, दोषापवाद सुननेके कारण मतिलोप, (आज्ञा-उपचार आदिका) उल्लंघन, अनुचितस्थान तथा अनुचित समयमें जाना, बाहर बार-बार अपकार करनाआदि। इन कारणोंसे विरक्त होनेपर उनकी कभी संगति नहीं होती।[3] इस विरक्तिमें तथा मानके कारण होनेवाली विरक्तिमें बड़ा अन्तर है—मानजन्यविरक्ति हृद्य अनुनयाश्रित होती है और इससे वह परस्पर अनुरागको और भी पुष्ट करती है।[4]

रागचिह्नोंकी विभावना—शारदातनयने यहां कुछ चेष्टाओं द्वारा अनुरागके चिह्नों की विभावना (प्रकटीकरण)का उल्लेख कियाहै।[5] नायिका कान खुजलानेके बहाने प्रियकी

न स्नाति नालङ्कुरुते न भोगे कुरुते स्पृहाम्। विमर्दयतिहस्ताभ्यांनेत्रे व्याजृम्भते मुहुः॥
विजृम्भते परावृत्यनिष्ठीवति मुहुः सदा। प्रद्वेष्टि तस्य मित्राणिब्रवीतिकृतशासना॥
रुष्टा परिवदत्येनं स्वात्मन्यङ्गानि गूहते। कथाप्रसङ्गेनान्येन सुरते भावविस्मृतिः॥
गृहकृत्यापदेशेन कुरुते च गतागतम्। नीवीस्पर्शे सहृल्लेखमपक्षिपतितत्करम्॥
पराङ्मुखीवाशयिताव्याधादिव्यपदेशतः। एवंविरक्ताचिह्नानिदृष्ट्वातांतत्क्षणात् त्यजेत्॥
विरक्तिचिह्नैर्नैकेन विरज्येतोत्तमः पुमान्॥ भा० प्र० ५।११५-११६

१ रागापरागचिह्नानां सङ्करे तामुपाचारेत्॥ वही ५।११६

२ चिह्नानि गन्तुकामानां कथ्यन्ते ह्यानुषङ्गिकम्। अनासनं च प्रथमं चालनं चासनस्य च॥
अर्धासनेनावस्थानं पार्श्वात्पार्श्वेङ्गचालनम्। विजृम्भणं च बहुशो मुहुर्द्वारनिरीक्षणम्॥
प्रसार्याकुञ्चनं पादबाह्वोरुत्कटिकासनम्। गात्रभङ्गोङ्गुलिस्फोटोबहिर्वार्ताविकर्णनम्॥
एतानि गन्तुकामानां चिह्नानीत्युपलक्षयेत्॥ वही ५।११७॥

३ विरक्तिहेतवोयूनोर्बहवः स्युः परस्परम्। कार्श्यं व्याधिश्च शोकश्चपारुष्यंरूपसंक्षयः॥
दोषापवादश्रवणान्मतिलोपोव्यतिक्रमः। अदेशकालागमनमपकारो बहिर्मुहुः॥
इत्यादिभिर्विरक्तानां न कदाचन सङ्गतिः॥ वही ५।११७

४ मानादिजाविरक्तिर्या हृद्यानुनयसंश्रया।
अन्योन्यरक्तता भूयः पुष्यत्येवरतिंशुभाम्॥ वही ५।११७

५ उक्तानांरागचिह्नानांकथ्यन्तेऽत्र विभावनाः। कर्णकण्डूयनंव्याजादुरुणद्ध्यस्यशुभाङ्गिरम्॥

प्रिय वाणीको रोकतीहै, केश संयमनके बहाने पतिके शिरोलालन (सहलाने) को व्यक्त करती है, नाभि दिखाकर अपने सौभाग्यको प्रकट करतीहै, स्तनर्समर्दन करके गाढ़आलिङ्गनको सूचित करतीहैं, अधरस्पर्शके व्याजसे चुम्बनआदि अभिलाषोंको प्रकट करतीहै, हासगर्भित-कटाक्षोंसे सम्भोगकी उत्सुकताका भावन करतीहै, नूपुरध्वननके द्वारा अपनी (रतिवेलाकी) पुरुषायितक्रिया सूचित करतीहै, सारे अङ्गोंमें अंगड़ाई लेकर अपने सम्पूर्ण अङ्गोंका समर्पण व्यक्त करतीहै, अन्यके व्याजसे कुछ कह कर उसके भावकी परीक्षा करतीहै, दूसरोंके साथ मुस्कान सहित बात करतीहुई उसकी बोलीको अपनानेका आदर दिखातीहै, लज्जासहित देख कर ही अपने आनुकूल्यको प्रकाशित करतीहै, उत्तर न देकर अपनी स्वाधीनता प्रकट करती है, सखीको डांटनेसे शीघ्र सङ्गमके प्रति अनुकूलता प्रकट करतीहै, अपने ऊरुओंको दबाकर हृद्य अङ्गोंके स्पन्दन (संकेत) को सूचित करतीहै, कुछ दूर चल कर रुकनेके बहाने मनकी बातोंको कहने-सुनने (विनिमय) की प्रार्थना प्रकट करतीहै, तिरछे देखकर संकेतपर चलनेकी प्रार्थना प्रकट करतीहै, अपनी बाहुओंका स्वस्तिकबन्धन करके प्रियके साथ गाढ़-आलिंगनकी ही आशा रखतीहै (प्रकट करतीहै) तथा नीवीको ढीली कर फिर बांधनेके बहाने (प्रेममें) वस्त्र-स्खलन को सूचित करतीहै। इसीप्रकारकी अन्य चेष्टाओंसे बुद्धिमानों को उनके मनोभावोंको ताड़ना चाहिए।

शृङ्गारोपयोगी दृष्टियां—फिर शृङ्गारोपयोगी दृष्टिविकारोंका विस्तारके साथ विवेचन किया गयाहै, जो कभी शृङ्गाररससे सम्बन्धित होतेहैं, कभी उस रसके सञ्चारीआदि भाव[1] से। वे सब मिलकर चौंसठ प्रकारके हैं।[2] उनका नाम यहां उन्हीं शब्दोंमें भी कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा :—

केशसंयमनाद्भर्तुः शिरोलालनसूचनम्। नाभिप्रदर्शनादात्मसौभाग्यप्रकटीक्रिया ॥
स्तनसंमर्दनेनैव गाढालिङ्गनसूचनम्। अधरस्पर्शनेनैव चुम्बनार्थाभिलाषितम् ॥
कटाक्षैर्हासगर्भैश्च सम्भोगोत्सुक्यभावनम्। नूपुरध्वननैः स्वस्य पुरुषायित-सूचनम् ॥
विजृम्भिते च सर्वाङ्गे स्वसर्वाङ्गसमर्पणम्। अन्यापदेशककथनै स्तस्य भावपरीक्षणम् ॥
अन्यैः सस्मितजल्पेन तद्भाषामेलानादरः। सव्रीडं लोकनेनैव स्वानुकूल्यप्रकाशनम् ॥
अनुत्तरप्रदानेन स्वस्वातन्त्र्यप्रकाशनम्। सखी-निर्भर्त्सनेनैव शीघ्रसंङ्गमनादरः ॥
ऊरुसम्पीडनादेव हृद्याङ्गस्पन्दसूचनम्। पदान्तरेस्थितेर्व्याजान् मनोविनिमयार्थिता ॥
साचीकृतेनेक्षणेन संकेतगमनार्थिता। तद्गाढालिङ्गनायैव बाहुस्वस्तिकबन्धनात् ॥
विस्रस्य नीवीनहनाद्वासःश्लथनसूचनम्। एवमाद्यासुचेष्टासुभावाग्राह्या मनीषिभिः ॥

—भा० प्रा० ५।११७—१८

१ दृशोर्विकाराबहवः शृङ्गारस्योपयोगिनः।
भावाश्रयाःकदाचित् स्युः कदाचिद्रससंश्रयाः ॥ वही ५।११८

२ वही ५।११८—११९

विकूणितं विहसितंकुञ्चितं न्यञ्चित।ञ्चिते। स्निग्धंमुग्धं च निष्पन्दंविस्तारि च विकासि च ॥
स्तिमितं मसृणं वक्रं मधुरं चाभिलाषि च। स्थिरं प्रसन्नमलसं वलितं मदमन्तरम् ॥
स्मेरमानन्दि साकूतं विदग्धं विह्वलं तथा। निह्ञ्चितं च निभृतमुत्कण्ठितमुदञ्चितम् ॥
सोत्सुकं सोत्कमुत्कम्पमुल्लासिचसमन्मथम्। महिव्याक्षेपि विक्षेपि त्रिभंगित्र्यश्रमेवच ॥
विमृष्टं विनतं स्फीतं व्यासङ्गि च विसंस्ठुलम्। विस्फारितं विललितं ललितं च तरङ्गितम् ॥
कठोरं कलुषं रूक्षं कातरं चकितं चलम्। कोमलं तरलं तानि प्रणयि प्रेमगर्भि च ॥
सोत्प्रासंसस्पृहं ह्लादि प्रेङ्खोलंलोलमेव च। एवमुक्ताश्चतुष्षष्टिर्विकारा दृष्टिसंश्रयाः ॥

इनमें प्रत्येकका लक्षण भी दियागयाहै।[1] ये चौंसठों दृष्टिविकार केवल शृङ्गाररसमें ही उपयोगी है। इनमें कुछ अद्भुत तथा हास्यमें भी दिखाई पड़ते हैं। ये दृष्टिविकार, शारदातनय का कहनाहै कि महाकविप्रबन्धोंमें दिखाई पड़तेहैं।[2] अतः इसे भरतसे गृहीत नहीं कहाजासकता है। भरतने जो रसभावोंके अनुसार छत्तीस प्रकारके दृष्टिविकार निरूपित कियेथे, उनका तो शारदातनयने अलगसे ही विवेचन कियाहै और यह भी कह दियाहै कि भरतके छत्तीस दृष्टिविकारोंका भी विवेचन कर रहाहूं।[3] इनमें आठ (स्थायि) भावदृष्टियां हैं—स्निग्धा, हृष्टा, दृप्ता, विस्मिता, क्रोधिता, दीना, जुगुप्सिता तथा सभया।[4] आठ ही रसदृष्टियां भी हैं—कान्ता, सहास्या, वीरा, साद्भुता, रौद्रिका, करुणसहिता, बीभत्सा तथा सभयानका। और संचारिभाव-सम्बन्धिनी केवल बीस ही बताई गई हैं—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता धर्ममुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेकरा, विशोका त्रस्ता तथा मदिरा।[5] भरतने तैंतीस संचारीभावोंकी बीस ही प्रकारकी दृष्टियों द्वारा अभिव्यक्ति दिखाईथी।[6] पूर्वोक्त रसभाववाली दृष्टियोंमें 'स्निग्धा' रतिभावकी तथा 'कान्ता' शृङ्गाररसकी दृष्टियां बताई गई हैं। इनके लक्षण तथा भावविशेषके साथ सम्बन्ध भी प्रायः भरतके ही शब्दोंमें किये गयेहैं।

छठवें अधिकारमें शारदातनयने रससम्बन्धमें कुछ अन्य विषयोंपर भी प्रकाश डालाहै, जिनकी ओर अन्य रसाचार्योंने या तो संक्षिप्तसंकेतमात्र कियाहै या उसकी एकदम उपेक्षा करदीहै। भावप्रकाशन कम-बेस रूपमें एक संग्रहग्रन्थ ही कहा जासकताहै, जो मधुकरकी भांति इधर-उधर से (जहां जिस विषयका अच्छा प्रतिपादन देखा वहांसे) उन-उन विषयोंकोलेकर

---

१ भा० प्र०, ५।११९-२०

२ एतेदृष्टिविकारास्तु सम्यग्लक्षणलक्षिताः।
महाकविप्रबन्धेषुदृश्यन्ते तद्विलोक्यताम् ॥ वही ५।१२४ ॥

३ भावजा रसजाश्चापि तथा संचारिभावजाः।
षट्त्रिंशद्भरतेनोक्तास्ताः कथ्यन्तेऽत्रदृष्टयः ॥ वही ५।१२४

४ भा० प्र० ५।१२४ ५ भा० प्र० ५।१२५ ६ ना० शा० ८।८३-९१

एक निबन्ध बन गयाहै । रसके विषयमें प्रस्तुत विवेचन इसने कल्पवल्लीके अनुसार कियाहै । ये विवेचन कुछ इसप्रकारके हैं—रसोंके—अनुभूतिप्रकार गतियां, आभास अन्योन्य-मेलन, विकल्प तथा वाक्यार्थता ।[१]

शृ० उपयोगी भावविकृतियाँ—जहां स्नेह होताहै, वहीं भय होताहै, जहां ईर्ष्या होतीहै वहीं मदन होताहै । स्नेह से वैमनस्य होताहै और भयसे व्यलीक (पीड़ा या अप्रिय) होता है ।[२] ईर्ष्या तथा मदनके कारण यह अप्रिय मन्यु (कोप) उत्पन्न होताहै, जो तापके कारण मनको आतप में म्लान सस्य (हरियाली)की भांति म्लान करदेताहै । स्नेहके रहनेपर भी आलम्बनके दोषके कारण यह मन्यु वैमनस्य कहलाताहै ।[३] अन्यके साथ रहनेके कारण प्रियको प्रातः नखदन्तआदिके सरस व्रणोंसे युक्त, रातभर जगनेके कारण अलस देखकर नायिकाको जो रोष, स्वेद, कम्प तथा मुखपर विवर्णता आतीहै, 'मुझे मत छुओ' 'अच्छा है वहीं जाओ' इत्यादि जो वचन निकलतेहैं, इसी अभीष्ट अर्थकी अनुत्पत्तिको व्यलीक कहते हैं ।[४] मना करनेपरभी जो बार-बार जबरदस्ती आताहीहै, उससे संघर्ष एवं मत्सरके कारण नायिकाको व्यलीक उत्पन्न होता है । बायें हाथको हृदयपर रखकर दूसरेको हिलाती हुई क्रोधमें कहतीहै, 'तुम यहां रहो हम चलेजातेहैं ।'[५] वादा करके पूरा न करना 'विप्रिय' कह-लाता है । जो नायक कहता तो यह है कि "जब तक जीवन है मैं तुम्हारा दास हूं, औरतुम्हीं मेरी प्रिया हो" किन्तु आचरण इससे भिन्न करता है । अतः इससे 'विप्रिय' उत्पन्न होताहै ।[६]

---

१ अनुभूतिप्रकाराश्च रसानां गतयोऽपि च ।
आभासाश्च रसानांच तेषामन्योन्यमेलनम् ।।
तद्विकल्पादयोऽन्येऽपि भावा वाक्यार्थतापि च ।
अत्रामिधीयतेऽस्माभिः कल्पवल्ल्यनुसारतः ।। भा० प्र० ६।१३१

२ स्नेहोयत्र भयन्तत्र यत्रेर्ष्या मदनस्ततः ।
वैमनस्यं व्यलीकं च स्नेहतो भयतो भवेत् ।। वही ६।१३६

३ ईर्ष्याया मदनाच्चापि विप्रियं मनुरुद्भवेत् ।
यन्म्लायति मनस्तापादातपम्लानसस्यवत् ।। वही ६।१३६

४ सरसव्रणसद्भिन्नं रात्रिजागरणालसम् । प्रियं प्रभातेपश्यन्त्या वैमनस्यं प्रजायते ।।
रोषः स्वेदश्च कम्पश्च मुखे वैवर्ण्यमेव च । मास्प्राक्षीः शोभनं साधु गच्छेतिवचनंभवेत् ।।
अभीप्सितार्थानुत्पत्तिर्व्यलीकमिति कथ्यते । वही ६।१३६

५ निवार्यमाणो पि पुनः पुनरायाति योबलात् । सङ्घर्षान्मत्सरात् तस्याव्यलीकमुपजायते ।।
निधायवामं हृदये करमन्यं विधुन्वती । त्वमिहास्व वयं याम इति रोषाद्ब्रवीति च ।।
वही ६।१३६ ।

६ यावज्जीवमहंदासस्त्वमेवचममप्रिया । इत्युक्त्वा योऽन्यथा कुर्याद्विप्रियं तत्र जायते ।।
वही ६।१४०

इसमें रोना, क्रोधभरी हंसी, बार-बार दूतआदि भेजना, तथा आंसूके साथ सिर हिलातेहुए 'ठीक किया' यह कहना होताहै ।[1]

सौतके रतिसम्भोगके विषयकी प्रशंसा करनेवाले पतिके ऊपर मन्यु होताहीहै । उस समय शंकालु नायिकाके नेत्र अश्रुपूर्ण रहतेहैं, वह अपनी मेखलाआदिको उतार फेंकतीहै, चूड़ियों कङ्कणोंको हाथोमें शीघ्रतासे परिवर्तित करने लगतीहै तथा शय्यापर चुपचाप मुंह ढककर पड़ रहतीहैं । मन्युके प्रवर्धित होनेपर स्त्रियोंकी ये ही विकृतियां देखी जातीहैं ।[2] किन्तु यदि सापराध अतएव सलज्ज एवं सशंक प्रियके दृष्टिगोचर होने पर उसे ईर्ष्याभरे मीठे उलाहनोंसे खिन्न करे, अति निठुर बात न बोले, कभी अतिशय क्रोध न करे, कभी अधिक परिहास न उससे, न सखियोंसे करे, अपनी निन्दाके साथ साश्रुवचनों द्वारा हृदयपर हाथ रक्खे, स्नेहभरी नजरोंसे देखते हुए, आहोंसे, शिरःकम्पोंसे, कटीपरहाथ रक्खे, भूमिपर अपराधोंको रेखाओंमें गिनकर तथा तर्जनाओं द्वारा भी उत्तरदे, और भी इसीप्रकार अन्य चेष्टाओंको करे तो दोनों का प्रेम फिर और अधिक बढ़ जाताहै । और इस प्रकार-प्रणय-रोषके बारबार समागम से उद्दीप्त श्रृंगार अत्यधिक पुष्टि पाताहै । वैमनस्यआदि भाव तो वस्तुतः यहां श्रृंगारके उपयोगी भाव के रूपमें प्रयुक्त होतेहैं ।[3]

सुख (अनुकूल)विषय रतिको सदा पुष्ट करतेहैं । विभिन्नप्रकारकी शिरोनेत्रआदि अङ्गों की प्रक्रियासे उसकी अभिव्यक्ति होतीहै ।[4] शारदातनय का कहनाहै कि सभी सूरियोंने मन के तीनप्रकारके भाव बतायेहैं—इष्ट, अनिष्ट तथा मध्य[5] । इष्टविषयको अंगों में आह्लाद, पुलकोद्गम तथा मनोहर चेष्टाओं द्वारा विनिर्दिष्ट करतेहैं ।[6] अनिष्टभावमें अंगोंमें स्तम्भ तथा घृणाका भाव उदय होजाताहै ।[7] और मध्यस्थ विषयके रहनेपर मनमें मध्यस्थता या औदासीन्यका भाव रहताहै—न साम्मुख्य रहताहै, न वैमुख्य, न अतिहर्ष होताहै न अतिकुत्सा (निन्दा) ।[8]

फिर शारदातनयने चारों विरहोंमें नायिकाओंकी कुछ विशेष अवस्थाओंका कल्पवल्लीके अनुसार विवेचन कियाहै ।[9] जैसे, मानवियोगमें—गात्रविकृति या गोत्रस्खलन अपराध होने पर श्रेष्ठ या उत्तम नायिकाओं द्वारा प्रियस्पर्श पाकर पराङ्मुख होना, निर्भर्त्सना, न बोलना; भोगचिह्न दिखायी पड़ने पर शय्यान्तमें दूर लेटना, पसीना, गद्गद् बोलनाआदि; स्वप्नमें

---

१ रुदितंक्रोधहसितंदूतादिप्रेषणंमुहुः । सबाष्पंसशिरःकम्पंकृतंसाध्वितिवक्तिच ।।भा० प्र० ६।१४०

२ वही ६।१४१ ३ वही ६।१४०—१ ४ वही ६।१४१

५ मनसस्त्रिविधो भावः कथ्यते सर्वसूरिभिः ।
इष्टोऽनिष्टश्च मध्यश्चेत्येवं त्रेधा विभिद्यते ।। वही ६।१४१

६ वही ६।१४१ ७ वही ६।१४१ ८ वही ६।१४१-४२

९ वही ६।१४२

गोत्रस्खलन आदि करने पर अवाङ्मुख होना, शय्यासे उठकर दूर लेटना निश्वास, अश्रुमोचन, सखीआदिको देखना, अपांगोंसे आंसू बहाना, हिचकियोंसे रोना होताहै।[1] प्रवास-विरहके आकस्मिक होनेपर—हृत्कम्प, मूर्च्छा, संज्ञाभ्रम तथा स्मृति होतीहै। सम्भ्रमजन्य (अकस्मात् घबराहटके कारण) होनेपर प्रियको खोजनेकी चिन्ता प्रियमार्गको आशाभरी नजरोंसे देखना तथा विषयोंका भ्रम होजाताहै। आकस्मिक दैविक-विरह होनेपर—कृशता, सन्ताप, देवतार्चन, प्रजागर, वैवर्ण्य, अंगदाह, प्रलाप तथा अश्रु विनिर्गम होताहै[2]। और यही प्रवास जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् सोचसमझकर कियाजाताहै तो—जड़ता, निर्वेद, दीनता, वैवर्ण्य, कृशता, मालिन्य, सन्ताप, ज्वर मूर्छना, व्याधि, उन्माद तथा विषाद देखनेमें आताहै।[3] और ये ही विकार शापकृत विरहमें भी देखेजातेहैं।[4] मानादिमें मध्यम नारियोंका ईर्ष्यारोषसे भरा, सोपालम्भ तथा परुष वचन देखाजाताहै[5] और अधम कोटिकी नारियोंका प्रायः सर्वत्र बाल पकड़ कर खींचना, पीटना, बन्धन तथा परुष वाक्य देखाजाताहै।[6]

शिंगभूपाल के अनुसार जो भ्रू-विक्षेप, स्मितआदि अपने हेतु मनोगत भावोंको सीधे (साक्षात्) व्यक्त करतेहैं, उन्हें अनुभाव कहतेहैं। वे चार प्रकारके होतेहैं:—चित्तजन्य, गात्रजन्य, वाग्जन्य, तथा बुद्धिजन्य[7]। चित्तजन्य दस हैं—भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति प्रागल्भ, माधुर्य, धैर्य तथा औदार्य[8]। भोजने चित्तजन्य अनुभावोंकी संख्या बारह मानीहै। उन्होंने सर्वावस्थासमत्वरूप स्थैर्य और अविदितेङ्गिताकाररूप गाम्भीर्य दो अधिक गिनाये हैं। शि०भू० ने उनका अन्तर्भाव अपने धैर्यमें ही करलियाहै।[9] गात्रारम्भ या गात्रजन्य अनुभाव भी स्त्रियोंके दस ही हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित्त, बिब्बोक, ललित तथा विहृत।[10] इसप्रकार स्त्रियोंके (दस चित्तजन्य तथा दसगात्रजन्य) कुल बीस सत्त्वज अलंकार कहेजातेहैं। किन्तु सत्त्वज तो भाव, हाव आदि दस ही कहे जासकतेहैं जो सत्त्व अर्थात् चित्त या मनसे उत्पन्न हुए हैं। लीला विलास आदि दस जो गात्रज हैं उन्हें सात्त्विक कैसे कहेंगे? अतः इसका समाधान देतेहुए शि० भू० कहतेहैं कि यहां छत्रिन्याय[11] से (लीलादिको भी भावादिके सहचारी होनेके

१ भा० प्र० ६।१४२ २ वही ६।१४२-४३ ३ वही ६।१४३

४ वही ६।१४३ ५ वही ६।१४३

६ अधमानां तु नारीणां केशाकर्षण-ताडनम्। बन्धनं परुषं वाक्यं प्रायः सर्वत्र दृश्यते॥
वही ६।१४३

७ भावं मनोगतं साक्षात् स्वहेतुंव्यंजयन्तिये। तेऽनुभावा इतिख्याताभ्रूविक्षेपस्मितादयः॥
ते चतुर्धाचित्तगात्रवाग्बुद्धयारम्भसम्भवाः॥—र० सु० १६०-६७

८ वही १।१६१-६८ ९ वही १, पृ० ५२ १० वही १।१९९-२०७

११ छत्रिन्याय—जैसे कई लोग जा रहेंहों, उनमें एकके पास अथवा कुछके ही पास छाताहै, शेष बिना छातेके हैं, किन्तु कहांजाताहै 'छत्रिणो यान्ति' जिसमें उन सहचरोंका भी ग्रहण होजाताहै, जो बिना छातेके हैं, उसीप्रकार सत्त्वज भावादिके साहचर्यके कारण लीलादि को भी सात्त्विक कहाजायगा।

कारण सत्त्वज कहलायेंगे। इन गात्रजन्योंको भी शि० भू०ने दस ही माना और भोजके क्रीडित तथा केलि दो अतिरिक्तको वस्तुतः अनुभाव ही नहीं माना, क्योंकि क्रीडितका जो स्वरूप भोजने निर्धारित कियाहै वह भावादिसमुत्पत्ति (शृंगार-उत्पत्ति) के पहले ही छोटी कन्याका विनोदमात्र है, तथा केलि तो केवल प्रेमका विस्रम्भरूप है, वह अनुभाव कैसा ?

स्त्रीके बीस सात्त्विकोंको बताकर फिर पुरुषमें आठ सात्त्विकोंको गिनायाहै—शोभा, विलास, माधुर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य तथा तेजस्[1]। नीच पर दया, अधिक से स्पर्धा, शौर्य, उत्साह, दक्षता इतने गुणोंकी अभिव्यक्तिको शोभा कहतेहैं।[2] वृषभ (सांड़) किसी गम्भीर चाल, धीरदृष्टि, सस्मित वचन. ये सब विलास कहलातेहैं।[3] चेष्टा तथा दृष्टि-आदिकी स्पृहणीयताको माधुर्य कहतेहैं।[4] धैर्य, गाम्भीर्यको तो नायकका वर्णन करते समय पहले ही कह दियागयाहै।[5] शृंगार-प्रचुर चेष्टा ललित कहलाती है[6]। और औदार्य तथा तेजके भी नायकविवेचनके प्रसंगमें ही लक्षण तथा उदाहरण दोनों कह दिये गयेहैं।[7] इन पौरुष सात्त्विकोंमें गाम्भीर्य और धैर्य तो चित्तजन्यहैं, तथा शेष छः गात्रजन्य भाव हैं। कुछ आचार्य इन सबको सामान्यरूपसे चित्तजन्य तथा गात्रजन्य दोनों मानतेहैं।[8]

वागारम्भ या वाग्जन्य अनुभावोंको तो शिङ्०गभूपालने भी भोजवाले ही बारह प्रकार-के मानेहैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश[9]। इसीप्रकार भोजके ही अनुसार रीतियों, वृत्तियों, एवं प्रवृत्तियों-को बुद्धिजन्य अथवा बुद्ध्यारम्भ अनुभाव कहाहै।[10] इन रीतियों, तथा प्रवृत्तियोंका (काव्य) नाटकोंमें पात्रों द्वारा प्रयोग एक विशिष्ट विदग्ध बुद्धिका कार्य होनेके कारण इन्हें बुद्धिजन्य अनुभाव कहाहै। भोजके स०क०में तो इसका विवेचन हुआ नहीं है। हाँ, शृंगार-प्रकाशमें ही विस्तार से हुआ है। शिङ्गभूपालका विवेचन उसीके आधारपर हुआहै। पदोंके विन्यासकी एक विशिष्ट भंगिमाको उन्होंने रीति कहा है। वह तीन प्रकारकी होतीहै—कोमला, कठिना, तथा मिश्रा[11]। कोमलारीतिको ही वैदर्भी कहते हैं, संभवतः विदर्भदेशके लोगोंको अधिक प्रिय है इसलिए[12]। इसमें वर्गके द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण कम प्रयुक्त होतेहैं, अल्पप्राण ही वर्ण अधिक प्रयुक्त होतेहैं, श्लेष प्रसार समता आदि दस गुण दस प्राण के समान रहते हैं तथा या तो असमस्त पद या फिर स्वल्पसमस्तपद ही उसमें प्रयुक्त होतेहैं।[13]। कठिनारीति ही गौडी या गौडीया कहीजातीहै। उसमें लम्बे समास तथा महा- प्राणवर्ण प्रयुक्त होतेहैं। यह गौड़-देश-वासी विदग्धों को विशेष प्रिय है।[14] और जिसमें कोमलाकठिना दोनोंके गुण उचित-मात्रामें रहें उसे मिश्रा या पांचाली कहतेहैं यह पांचालदेशवालोंको अधिक प्रिय होतीहै।[15] इसप्रकार शिङ्गभूपाल ने केवल तीन ही रीतियों का उल्लेख कियाहै। भोजने लाटीयाकाभी

---

१ र०सु० १।२१५ २ वही १।२१६ ३ वही १।२१७ ४ वही १।२१८
५ वही, २१८ ६ वही १।२१८ ७ वही १।२१९ ८ वही १।२१९
९ र०सु० १।२२०-२२६ १० वही १।१२७ ११ वही १।१२७ १२ वही १।१२७
१३ वही १।१२८-२९ १४ वही १।१२८-२९ १५ वही १।२४०

उल्लेख किया है। भोजने लाटियाकाभी उल्लेख कियाथा। शि०भू०का कहना है कि आन्ध्री, लाटी या सौराष्ट्रीआदि भी मिश्रा रीतियां हैं। उनमें भी अपने-अपने ढंगसे मिश्रण रहताहै। वे ही सर्वप्रयुक्त पुराने पद समूह होते हैं, वे ही पुराने अर्थ-वैभव, किन्तु ग्रथन अथवा रीतिके कौशलसे उनसे बना काव्य एक नव्य वस्तु लगताहै।[१]

वृत्तियां तो वे ही भारती. सात्वती, कैशिकी तथा आरभटीही चारनाट्यशास्त्रआदिकी प्रसिद्ध हैं। उनकी उत्पत्ति मधुकैटभयुद्धप्रसंगमें भरतने बताईहै। शि०भू०ने भी वही प्रसंग दुहरा दियाहै[२]। कुछ लोगोंने चारों वेदोंसे इनकी उत्पत्ति बताईहै[३]। इनमें भारती तो शब्द-वृत्ति है तथा शेष तीन (सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी) अर्थवृत्तियां हैं।[४] इन चारों वृत्तियोंके मिश्रणसे एक पांचवीं मिश्रावृत्ति भी कुछ आचार्योंने मानीहै। वह सभी रसोंमें समान रूपमें रहतीहैं। किन्तु शि०भू०ने इसका विरोध कियाहै। उनका कहनाहै कि जब ये वृत्तियां रस-विशेषके साथ पृथक्-पृथक् रूपमें नियत करदीगयीहैं तो उस पांचवींकी क्या स्थिति होगी। जहां जिस वृत्तिका भाग अधिक होगा वहां वही वृत्ति प्राधान्येनव्यपदेशाभवन्ति न्यायके अनुसार कहीजायेगी। कम भागवाली वृत्तिकी तो गणना भी न होगी। और समानरूपमें मिश्रण तो होता नहीं, क्योंकि वैसा माननेपर कौनसा रस व्यंग्य होगा! क्योंकि सबके अपनेअपने रस तो नियतहैं। अब मिश्राकाकोईअतिरिक्त रस व्यंग्य मानाजाय तभी काम चलसकताहै। अतएव भरतने भी भाव, रस, वृत्ति, अथवा प्रवृत्तिमें जिसका जहां प्राधान्य हो उसे स्थायी या रस-संज्ञा दीहै, शेषको संचारी कहाहै[५]। इन वृत्तियोंके विवेचनमें इतना ध्यान रखनाचाहिए कि शृंगारके बुद्धिजन्य अनुभावके नाते कही तो सब गईहैं, किन्तु शृंगारसे साक्षात् सम्बन्ध केवल कैशिकीका ही मानाजाताहै। अतः शृं० र०में अन्यकी स्थिति गौड़ ही होगी। उन्होंने स्वयं भी कहा है—**कैशिकी स्यात्तु शृंगारे।**

देशोचित भाषा, क्रिया तथा वेषको प्रवृत्ति कहतेहैं।[६] भाषा भी दो प्रकारकी मानीगयीहै भाषा तथा बिभाषा। भाषायें सात मानी गयी हैं और विभाषाएं भी सात ही। प्राच्या, आवन्त्या, मागधी, बाल्हिका, दाक्षिणात्या, शूरसेनी तथा आन्ध्रमागधी (अर्धमागधी) ये सात तो भाषायें कहीजातीहैं। और शबरी, द्रमिडी, आन्ध्री, शकारी, आभीरी, चण्डाली तथा बनेचरी—ये सात विभाषायें मानीगयीहै।[८] इनके अतिरिक्त अन्य भी भाषायें तथा विभषाएं हैं, किन्तु काव्यादिमें उनका उपयोग न होनेके कारण उन्हें नहीं गिनायागया है।[९]

सात्त्विक भाव—रसष्पित्तिमें शि० भू०ने सात्त्विकों का केवल एकप्रकारके अनुभावरूपमें नहीं, अपितु पृथक् से उल्लेख कियाहै, और उन्हें विभावादिके समकक्ष मानाहै। उनका

---

२ त एव पदसंघातास्ता एवार्थविभूतयः। तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्॥ र०सु० १।२४१, ४२ २ वही १।२४४-२५६

३ ऋग्वेदाच्च यजुर्वेदात् सामवेदादथर्वणः। भारत्याद्याःक्रमाज्जाताइत्यन्ये तु प्रचक्षते॥ वही १।२६० ४ वही १।२८६ ५ वही १। पृ० ८५-८६ ६ वही पृ० ८६

७ तत्तद्देशोचिताभाषा क्रिया वेषाः प्रवृत्तयः। वही १।२६४ ८ वही १।२६५-६७

९ वही १।२६७-६८

कहना है कि भावकोंका जो चित्त दूसरोंके सुखदुःखका अनुकूल भावन करताहै, उसे सत्त्व कहतेहैं। उसे व्यक्त करनेवाले भाव सात्त्विक कहलातेहैं। ये स्तम्भ, स्वेदआदि आठहैं[1]—इन सात्त्विकोंका सभी रसोंसेसम्बन्ध होते हुए भी शृंगारके प्रसंगमें इन्हें प्राधान्येन कहागयाहै। अन्तमें शि०भू०ने भी इन सात्त्विकोंको अनुभाव रूपमें स्वीकार करलियाहै। भावकी सूचना करनेके कारण ये सात्त्विक भी अनुभाव कहे जातेहैं।[2]

शृंगारके अनुभाव तथा उनके भेद—उद्दीपन तथा आलम्बन विभावोंका विवेचन कर चुकनेपर, भानुदत्तने अनुभावोंका वर्णन कियाहै। अनुभावका लक्षण र०त०में इसप्रकार कियागयाहै—जो रसको अनुभवगोचर करायें वे कटाक्षआदि अनुभाव कहलातेहैं। अनुभाव रसके करण (साधकतम कारण ?) मानेगयेहैं। विभावतो कारणमात्रहै। किन्तुअनुभाव ऐसे कारणहैं जिनका फलरूप रसके साथ अयोग-व्यवच्छेद सम्बन्ध है।[3] रसमें अनुभावकी अत्यावश्यक अपेक्षा इसलिए होतीहै कि रसतो स्थायी भावकी ही परिपूर्णावस्था है। किन्तुहै तो वह एक आभ्यन्तर वस्तुरूप ही। बिना बाह्य किसी ज्ञापकके उस आभ्यन्तर भावरूप ज्ञानको जाना कैसे जासकताहै, अतः अनुभावकी बड़ी अपेक्षा होतीहै।[4] यहां एक सन्देह होता है जिन कटाक्षआदिको अनुभावका टकसाली उदाहरण मानागयाहै, वे उद्दीपन विभाव क्यों न माने जाँय। क्योंकि कटाक्षको देखते ही प्रेमियोंका मनोविकार परिपूर्ण हो जाताहै। इसमें अनुभव भी प्रमाण है और प्राचीनोंकी सम्मति भी है। अतः इसका समाधान करते हुए भानुदत्त कहतेहैं कि कटाक्ष आदि रसके कारणरूपसे तो अनुभाव मानेजायंगे, किन्तु रसके विषय होनेके नाते, उद्दीपन विभाव।[5] अनुभाव चार प्रकारका होताहै—कायिक, मानस, आहार्य, (जैसे—नेपथ्य-रचनासे वृद्धत्व चतुर्भुजत्वआदि) एवं सात्त्विक (जैसे कटाक्षभुजाक्षेप आदि, रोमांचआदि)। और शृङ्गारके अनुभावोंके विषयमें तो उन्होंने भरतमुनिकी कारिकाको अविकलरूपसे उद्धृत कर दियाहै—तत्र भरतः—"नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचनप्रमोदैश्च। विविधैरङ्गविकारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ कटाक्षभुजक्षेपादय ऊहनीयाः।[6] और सात्त्विकभाव तो वही आठों अविकलरूपसे शृंगाररस में प्रयुक्त होते हैं।

स्त्रियोंके दस हाव—इस प्रसंगमें स्त्रियोंकी शृङ्गारचेष्टारूप दस हावोंका भा० द० ने भी उल्लेख कियाहै—"लीलाविलासोविच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम्। मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोकोललितं तथा। विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः॥" प्रियके भूषण, वचन

१ अन्येषां सुखदुःखादिभावनाकृतभावनम्। वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौपरिकीर्तिताः॥ र० सु० १।३१० २ अनुभावाश्चकथ्यन्ते भावसंसूचनादमी —वही १।३११

३ ये रसाननुभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्ति ते अनुभावाः कटाक्षादयः करणत्वेनअनुभावकता। करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्बन्धित्वम्। र० त० ३

४ ननु रसे कथमनुभावकापेक्षेति चेत्। सत्यम्,स्थायीभावः परिपूर्णोरसः, तस्य चान्तरत्वाज्ज्ञापकेन विना कथंज्ञानमित्यनुभावस्यापेक्षणीयत्वात्। वही ३।

५ कटाक्षादीनां कारणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्।—वही ३

६ —वही ३

आदिका अनुकरण लीला कहलाता है। प्रियके दर्शन स्मरणआदिसे गमन, नयन, वदन, भ्रूचालनआदिमें जो एक विशेषता आजातीहै उसे विलास कहतेहैं। सौकुमार्य, प्रियसौभाग्य, सौन्दर्य, गर्व, क्रोध अथवा क्लेशआदिके कारण कुछ ही आभूषणोंको धारण करना विच्छित्ति (विशेष शोभा) कहलातीहै। अनुरागाधिक्य अथवा धनमद आदिके कारण वचन एवं आभूषणों का स्थानविपर्यास विभ्रम कहलाताहै। नवयौवनोद्भेद तथा चांचल्यआदिके कारण श्रम, अभिलाष, गर्व स्मित, हर्ष, भय तथा क्रोधके संकरको **किलकिंचित** कहते हैं। सपत्नीसे डर तथा लज्जाआदि के कारण खुलकर सामने बातें तो हो नहीं सकतीं, अतः जो छिपकर बार-बार देखनेकी स्पृहा होतीहै उसे मोट्टायित कहते हैं। रागाधिक्य, नख-दशन-क्षत, केश-ग्रहण, तथा अधरपानआदि के कारण सुख होने पर भी जो दुःख चेष्टा अर्थात् सीत्कारआदि होताहै उसे कुट्टमित कहतेहैं। यौवनमद, धन-मद, कुल-मद तथा प्रियअपराधआदिके कारण गर्वाभिमानसे उत्पन्न प्रियका अनादर अथवा उपेक्षारूप विकार बिब्बोक कहलाताहैं। मनकी प्रसन्नता, प्रियतमका दृढानुराग तथा धीरत्वआदिके कारण सभी अङ्गोंका जो समीचीनतासे विन्यास, उसे ललित कहतेहैं। इसी ललितके भीतर ही स्मितआदि चेष्टायें आजातीहैं। और व्याज, लज्जाआदि के कारण प्रियके सन्निधिमें भी जो अभिलाषकी अपूर्ति लगती है उसे **विहृत** कहते हैं।[1]

इन पूर्वोक्त हावोंमेंसे कुछ तो पुरुषके भी हो सकतेहैं जैसे—बिब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम। किन्तु उनके ये औपाधिक अथवा किसी कारणसे विशिष्ट रूपमें होतेहैं, जबकि स्त्रियोंके ये स्वभावगत अथवा सहज ही हैं। हां, इतना अवश्य माननापड़ेगा कि स्त्रियोंके भी ये हाव उद्दीपकके ही रहनेपर आविर्भूत होतेहैं, उसके अभावमें तिरोभूतरूपमें ही रहतेहैं।[2] इन हावों में भी कुछ केवल बाह्य ही रहते हैं।

नायिकाके यौवनके अलङ्कार—कृष्णकविने स्त्रियोंके यौवनवेलाके तेइस अलङ्कारों का उल्लेख कियाहै—भाव, हाव, हेला, कान्ति, शोभा, प्रगल्भता, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, चकित, विहृत, हास, दीप्ति, धैर्य, कुतूहल, माधुर्य तथा औदार्य।[3] उन्होंने आठवें बिन्दु (शक्तिबिन्दु) में पहले नायक नायिका तथा वृत्तियों का विवेचनकर फिर नवें बिन्दु (रम्यबिन्दु) में भावों तथा रसोंका निरूपण कियाहै।

रसके विकार-भाव—रसकी अनुकूल विकृतिको भाव कहतेहैं। वह दो प्रकार का

---

१ र० त० ६

२ ननुविब्बोकविलासविच्छित्तिविभ्रमाः पुरुषाणामपि सम्भवन्तीतिचेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम् उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यांनायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति——वही ६

३ म० म० च०, पृ० ८६

होताहै—आन्तर तथा शारीर ।[1] आन्तरभाव दो प्रकारके होतेहैं—स्थायी तथा व्यभिचारी ।[2] वे ही आठ स्थायी भाव तथा वे ही तैंतीस व्यभिचारी भाव । और शारीर भी दोप्रकारके मानेगयेहैं—सात्त्विक तथा अनुभाव ।[3] स्वपर सुखदुःखके साथ समनुभूति रखनेवाले अन्तः-करणको सत्त्व कहतेहैं । फिर ऐसे अन्तःकरणवाले देहको भी सत्त्व कहेंगे । उस देहका जो अयत्नज धर्म होगा उसे सात्त्विक भाव कहतेहैं ।[4] उनकी संख्या वही आठ है । और जो प्रयत्नज देह-धर्म रसोंको अनुभवगोचर करतेहैं उन्हें अनुभाव कहतेहैं ।[5] ये अनुभावदो प्रकारके होतेहैं[6]—शुद्ध तथा अभिनयरूप । शुद्ध अनुभाव नटमें आरोपित (आहार्य) नहीं होते, किन्तु अभिनयारूप अनुभाव नटमें आरोपित (आहार्य) माने गये हैं । फिर उन दोनोंको दो-दो प्रकार-का कहा गयाहै—वाचिक तथा आङ्गिक ।[7] शृङ्गाररस में आङ्गिक अनुभाव होतेहैं स्मित. नेत्रप्रसाद, प्रमोद, मधुरवचन, कटाक्ष, भुजाक्षेप, धृति (?) तथा मुखप्रसाद ।[8]

---

१ रसानुकूलविकृतिर्भावः स द्विविधो मतः ।
आन्तरश्चैव शारीर इतीदं सर्वसम्मतम् ।। म० म० च० पृ० ८१

२ आन्तरस्तुद्विधास्थायिव्यभिचारिविभेदतः । वही पृ० ८१

३ शारीरोऽपि द्विधा सात्त्विकानुभावविभेदतः । वही पृ० ९७

४ स्वपरान्यतरप्राप्तसुखदुःखादिभावनाम् ।
लब्धंयदन्तःकरणं सत्त्वं तद्वत्तया तथा
अयत्नजो देहधर्मः सात्त्विको भाव उच्यते । वही पृ० ९७

५ अथो रसाननुभवगोचरत्वं नयन्ति ये । प्रयत्नजा देहधर्मा अनुभावाश्चतेमताः ।। वही पृ० ९८

६ अनुभावा द्विधाप्रोक्ताः शुद्धाभिनयभदेतः म० म० च०

७ वही पृ० ९८ । ८ वही पृ० ९८

सप्तम अध्याय

शृङ्गारसञ्चारिभाव

भरतने व्यभिचारिन् शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार कीहै—इसमें वि और अभि—ये दो उपसर्ग हैं, तथा गति अर्थवाली चर् धातु है—इसका अर्थ हुआ—'जो रसोंके प्रति अभिमुख होकर विविध रूपमें गतिमान् होतेहैं।' वाग् अङ्ग तथा सत्त्वसे युक्त होकर ये नाट्य प्रयोगोंमें रसोंको निष्पत्ति तक पहुंचाते (नयन करते) हैं।[1] भरतकी दृष्टिमें प्रायः भावोंका अभिनयात्मक रूप ही प्रमुख रहाहै, मनोवैज्ञानिक रूप गौण है। अतः उन्होंने इन व्यभिचारी भावोंमें मन और शरीरकी प्रायः ऐसी अवस्थाओंका अन्तर्भाव कर लिया है, जो आठों या नवों रसों में सामान्यतः संचरित होतीहैं। इन व्यभिचारियोंमें आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्साको छोड़कर सभी भाव शृङ्गार रसमें मिलते[2] हैं। इसका विवेचन पहले ही भावप्रसङ्गमें किया जा चुका है। (पश्चाद्वर्ती प्रायः सभी आचार्योंने यही मत स्वीकार कियाहै।) यहां एक बात पुनः स्मरणीय है कि ये व्यभिचारी भी भाव इसीलिए हैं कि चित्तवृत्तिरूप हैं, जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हैं वे अनुभाव हैं।

शृंगाररसके व्यभिचारीभाव—व्यभिचारी भावोंकी संख्या तैंतीस है। उनमें तीस भाव शृङ्गाररसमें देखे जाते हैं। किन्तु इन तीसमें भी धृतिआदि जो सुखमय भाव हैं, वे ही सम्भोग शृङ्गारमें होतेहैं, निर्वेदआदि दुःखमय भावोंका औचित्य केवल विप्रलम्भमें ही दिखाई पड़ताहै। जिन आलस्य, औग्र्य, जुगुप्सा—इन तीन भावोंका भरतने शृङ्गारमें निषेध कियाहै, उन्हें केवल विभावगत रूपमें ही निषिद्ध समझना चाहिए, आश्रयमें तो विप्रलम्भशृंगारमें उनका विशिष्ट निरूपण कियाजाताहै।[3] यह अभीकहा जा चुकाहै कि निर्वेदआदि जो दुःखप्राय व्यभिचारी भाव हैं, भरत उन्हें केवल विप्रलम्भगत मानतेहैं, सम्भोगगत नहीं। वे भाव ये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न विबोध, व्याधि

---

१ वि अभि इत्येतावुपसर्गौ चर्गतौ धातुः। विविधमाभिमुख्येन रसेषुचरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।—ना० शा०

२ व्यभिचारिणश्चालस्यजुगुप्सावर्ज्याः—वही

३ आलस्यादि च स्वविभावप्र(म)दादिविषयमेवनिषिद्धम्—अभि० भार०

उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरणआदि ।[1] आदि कहनेसे दैन्यमोहादिका भी ग्रहण होजाताहै ।[2] यहां एक बात विचारणीय है—भरतने इन व्यभिचारियोंको अनुभावनामसे उल्लिखित कियाहै । उनका तात्पर्य यह है कि ये निर्वेदआदि प्रथम तो अपने अनुभावों द्वारा अनुभावित कियेजातेहैं, फिर विप्रलम्भशृङ्गार का अनुभावन करातेहैं, अतः व्युत्पत्त्या इन्हें अनुभाव कहा जाताहै ।[3] यद्यपि इन पूर्वोक्त भावोंमें श्रम और निद्रा सम्भोगमें भी होते हैं— रतिक्रीडासे श्रम उत्पन्न होताहै और श्रमसे निद्रा आतीहै, किन्तु वहाँ (सम्भोगमें) उनसे कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता है । विप्रलम्भ में तो कविगण उनका बाहुल्यसे प्राधान्य एवं चमत्कारके साथ वर्णन करतेहैं ।[4] विबोध तो सम्भोगमें भी व्यभिचारी है—विभावके सान्निध्यमें नींद कहां ? स्वप्न यद्यपि सुप्तनामक व्यभिचारीभावके अन्तर्गत ही है, तथापि स्वचमत्कारप्राधान्य के कारण पृथक् गिनाया गयाहै । व्याधि, उन्माद और अपस्मारकी जो अत्यन्त कुत्सित दशा नहीं होती वही काव्य और नाट्यमें विप्रलम्भके व्यभिचारी के रूपमें प्रदर्शनीय होतीहै, अन्यथा तो वे अन्य भावके व्यंजक होतेहैं, रतिके नहीं । मरण भी उसीप्रकारका हो कि शीघ्र ही पूर्व विच्छिन्न रति जुट जाय, अन्यथा शोक अपना स्थान बना लेगा[5] और रतिका उन्मूलन ही हो जायगा, जैसा कि महाकवि कालिदासने अजकी मृत्युके वर्णनके प्रसंगमें एक ही श्लोक में अजका देहत्याग तथा पुनः शरीरान्तरसे उसी प्रियासे मिलनका वर्णन कर शृङ्गारको पुनरुज्जीवित कर दियाहै ।

भा० प्र० में वे ही निर्वेदादि प्रसिद्ध तैंतीस व्याभिचारीभाव गिने गये हैं ।[6] शारदातनयका मत है कि यदि चित्तवृत्तिविशेषसे अन्य कोई भी भाव कहीं समझपड़े तो उसका अन्तर्भाव व्यभिचारियोंमें ही करनाचाहिए ।[7] ये व्यभिचारीभाव स्थायीके ही पोषक होते हैं—जैसे लहरें सागरमें उठती बैठती हुई उसी सागरका उत्कर्ष प्रकट करती हुई फिर उसीके रूपमें मिल जातीहैं, वैसे ही ये व्यभिचारी भी स्थायीमें डूबते उतराते हुए उसे पुष्ट करते हैं

---

१ —ना० शा० ६

२ आदिशब्देन दैन्यमोहादयः —अभि० भा०

३ 'एतेव्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति । तस्मादनुभावैरित्युक्तम् ।'—वही

४ सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथापि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते । विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनापरम् अतएव निद्रादिबाहुल्यापेक्षंचेत्थममिमिधानम् ।—वही

५ मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्रमन्तव्यम् येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते ।—भारती

६ निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद्भावास्ते व्यभिचारिणः—मा० प्र० १।६

७ अन्येऽपि यदि भावाःस्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः । अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ॥ वही १।२५

तथा उस स्थायी रूपमें ही रसात्मकता भी प्राप्त करतेहैं।[1] जैसा कि रुद्रट, भोजआदि आचार्योंने माना है, ये व्यभिचारीभाव भी यद्यपि कभी-कभी विभावादिसे परिपुष्ट होकर रसात्मकताको भी प्राप्त करतेहैं, किन्तु शारदातनयका मत है कि इन व्यभिचारियोंके अस्थिरस्वभावके कारण ये नाट्यआदिके प्रधान रस होनेकेलिए उपयोगी नहीं हैं।[2] स्थायी स्वभावतः इतना बलवान् भाव होता है कि अन्य भाव उसमें, क्षार-सागर में जैसे अन्य सभी प्रकार के जल क्षार बन जाते हैं, उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं। और चूंकि निर्वेदादिकोंका स्वभाव ऐसा सामर्थ्यवाला नहीं है, अतः वे भावमात्र ही रहेंगे, स्थायीका पद नहीं प्राप्त कर सकते।[3] और फिर भी यदि किसीने कहीं किसी व्यभिचारीभावका परिपोष किया तो वह विरसता ही पैदा करताहै, सरसता नहीं।[4] अतः नाट्यके आचार्योंने आठ ही स्थायी माने हैं, और कोई पुष्ट व्यभिचारी भी किसी न किसी स्थायीका ही अंग रूप मानागयाहै।[6] व्यभिचारी भाव तो वे ही निर्वेदादि प्रसिद्ध तैंतीस गिने गये हैं। व्यभिचारी तथा सात्त्विक (जो व्यभिचारी बन जाते हैं) भावों में कुछ ऐसे हैं जो शृङ्गाररसमें विशिष्टरूपसे रहतेहैं। इनमें भी मद, श्रम, अवहित्था, हर्ष, गर्व, स्मृति, धृति, असूया, ग्लानि, शंका, वितर्क तथा अपत्रपा और रोमांच वेपथु तथा स्वेद—ये सम्भोग शृङ्गारमें पाये जातेहैं।[7] तथा मोह, आवेग, विषाद, जड़ता, व्याधि, दीनता, चिन्ता, वितर्क, निद्रा, कार्श्य तथा श्वासादि और स्तम्भ, कम्प, अश्रुवैवर्ण्य तथा गद्‌गदादि विप्रलम्भ में देखे जाते हैं।[8]

शि० भू०ने व्यभिचारियोंका विवेचन करतेहुए अपनी एक सम्मति शा० त०के साथ दिखाईहै कि अन्य भी जो चित्तवृत्तियां संभव होंगी उनका अन्तर्भाव इन्हीं व्यभिचारी भावोंमें मानना चाहिए।[9] इन व्यभिचारियों कीएक अपनी विशेषता है कि ये परस्पर विभाव और अनुभावका भी कार्य करतेहैं—जैसे सन्ताप दैन्यका विभाव बनता है, तथा ग्लानिका अनुभाव,

---

१ भा० प्र० १।२५,२६

२ यद्यपि स्याद्रसात्मत्वं तेषांक्वापिकदाचन। अस्थिरत्वादथैतेस्युर्नाद्याद्यनुपयोगिनः॥ वही १।२६

३ यतः स्वरूपारोपेण भावानन्यानुपस्थितान्। स्वात्मत्वैक्येन गृह्णाति स स्थायीलवणोदवत्॥ वही १।२६

४ भावसाधारणत्वेऽपि निर्वेदाद्यैर्न शक्यते। स्थायित्वमात्मनोनेतुमताद्रूप्यस्वभावतः॥ वही १।२६

५ 'यत्र क्वचित् स्यात् तत्पोषो वैरस्यायैव कल्पते।' वही १।२६

६ ये किंचिदन्ये भावाश्चेत् पोषं यान्तिरसात्मना। तेषां विशेषो विज्ञेयःस्थायिष्वेवनचान्यथा॥ वही १।२६

७ वही २।३३ ८ वही २।३३

९ अन्येऽपि यदिभावाःस्यु श्चित्तवृत्तिविशेषतः। अन्तर्भावस्तुसर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु॥ —वही २।३३

प्रहार प्रलय और मोहका तो विभाव है, किन्तु औग्र्यका अनुभाव, विषाद उत्पातावेगका तो अनुभाव है, किन्तु स्तम्भका विभाव तथा व्याधि ग्लानिस्तम्भप्रलयआदिका विभाव बनती है।[1]

इन व्यभिचारी भावोंकी दो स्थिति होतीहै—स्वतन्त्र, तथा परतन्त्र। जब दूसरे के पोषक होतेहैं तो व्यभिचारीभाव कहे जाते है, और जब स्वतन्त्र होतेहैं तो इनको भाव कहा जाताहै।[2]

व्यभिचारियोंका विवेचन करते समय भानुदत्तने भी कुछ व्यभिचारियोंको शृङ्गार रसमें वर्ज्य बतायाहै जैसे—सम्भोगमें आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्साको[3] विप्रलम्भमें आलस्य, ग्लानि, निर्वेद, श्रम, शंका, निद्रा, औत्सुक्य, अपस्मार, सुप्त, विबोध, उन्माद, जाड्य तथा असूयाको।[4] भानुदत्तका मत है कि स्थायीभाव भी व्यभिचारीका काम करतेहैं। हास स्थ यी-भाव शृङ्गाररसमें व्यभिचारीभाव होता है तथा रति, शान्त, करुण, हास्य रसोंमें।[5] उत्साह और विस्मय तो सभी रसोंमें व्यभिचारी बनते हैं।[6]

शृङ्गाररसमें कुछ आचार्योंने सभी व्यभिचारी भावोंको सम्भव माना है,[7] कुछने कुछका निषेध किया है। कृष्णकविने शृङ्गारमें केवलबीस ही व्यभिचारियोंकी सम्भावना बताई है—व्रीडा, उन्माद, मद, आवेग, विषाद, औत्सुक्य, विस्मय, शंका, असूया, भय, ग्लानि, निद्रा, व्याधि, स्मृति, धृति, चिन्ता, अवहित्था, मरण, चापल तथा जड़ता।[8]

---

१ विभावा अनुभावाश्च ते भवन्ति परस्परम्। कार्यकारणभावस्तु ज्ञेयः प्रायेणलोकतः॥ तथाहि—सन्तापस्य दैन्यंप्रतिविभावत्वं ग्लानिप्रत्यनुभावत्वं च। प्रहारस्य प्रलयमोहौ प्रति विभावत्वम् औग्र्यं प्रत्यनुभावत्वं च। विषादस्योत्पातावेगं प्रत्यनुभावत्वं स्तम्भं प्रतिविभावत्वम्। व्याधेर्ग्लानिस्तम्भप्रलयादीन् प्रतिविभावत्वम्।—र० सु० १, पृ० १३९

२ स्वातन्त्र्यात् पारतन्त्र्याच्च द्वेधामीव्यभिचारिणः। परपोषकतां प्राप्ताःपरतन्त्रा इतीरिताः। तदभावेस्वतन्त्राःस्युर्भावा इति च तेस्मृताः।—वही १, पृ० १४०

३ आलस्यौग्र्यजुगुप्साःसम्भोगेवर्ज्याः —र० त० ५   ४ वही ५

५ स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति। हासः शृङ्गारे। रतिः शान्तकरुणहास्येषु।—वही ५

६ उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषुव्यभिचारिणौ—वही ५

७ केचिदूचुश्च सकलाःशृङ्गारेव्यभिचारिणः —म० च०, पृ० १०६

८ वही, पृ० १०६

अष्टम अध्याय

शृङ्गारभेद

भरतने शृङ्गाररसके दो अधिष्ठान बतायेहैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ।[1] अधिष्ठान शब्दका लोकमें स्थिति या स्थान अर्थ होताहै, जैसे 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठान-मुच्यते।[2] 'कस्मिंश्चिदधिष्ठाने'[3] आदि। तो शृङ्गार रसके दो अधिष्ठान हैं यह कहनेका तात्पर्य हुआ कि शृङ्गार रस दो स्थानोंमें रहताहै—एक है सम्भोग स्थान और दूसरा वियोग या विप्रलम्भ स्थान। किन्तु सम्भोग तथा विप्रलम्भ रतिकी दो विशिष्ट अवस्थामात्र ही हैं। अतः अधिष्ठान शब्द भी यहां अवस्थाका ही वाचक हुआ। यही देखकर अभिनवने अधिष्ठान का अर्थ अवस्था ही कियाहै, अर्थात् शृङ्गारके दो भेद या प्रकार हुए।[4] पुनःभरतने विभाव के भेदसे अथवा अभिनयकी दृष्टिसे रसमें भी भेद बतायाहै, और इस सिद्धान्तके अनुसार शृङ्गार भी, वाणीसे, नेपथ्यसे तथा क्रियासे विभावित होनेके कारण,—वाचिक, नैपथ्य, तथा क्रियात्मक—तीन प्रकारका होताहै।[5] किन्तु इन भेदोंका काव्य की मूलचेतना या शृङ्गारके मनोविज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं। स्वभावतः यह तीन भेद आगे चलकर लुप्त होगये।

समवकारगतशृङ्गारके तीन भेद—फिर समवकारनामक रूपकभेदके निरूपणके प्रसंगमें भरतमुनिने पुरुषार्थकी दृष्टिसे तीन प्रकारके शृङ्गार रसकी चर्चा कीहै—धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार तथा कामशृङ्गार।[6] जहां नायिकाके लाभमें धर्म हेतु हो अथवा साध्य हो उसे धर्मशृङ्गार कहतेहैं, वह व्रत, नियम तथा तपसे युक्त होताहै।[7] जहां अर्थका इच्छायोग हो, अथवा जहां स्त्रीसंप्रयोगविषयोंमें अर्थकेलिए रति हो, उसे अर्थशृङ्गार कहतेहैं। यहां एक शङ्का होतीहै कि समवकारके पात्र देव एवं असुर ही होतेहैं, उन देवोंमें अर्थार्थिता कैसे मानी जायगी? इसका समाधान अभिनवने इन शब्दोंमें दियाहै—कि कुछके अनुसार गन्धर्वआदि

---

१ तस्यद्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। —ना० शा० २ गीता ३।४०

३ पंचतन्त्र।

४ अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः अधिष्ठीयतेऽवस्थात्र शृङ्गाररूपेण। तेन शृङ्गारस्येमौभेदो। अभि—भार०

५ शृङ्गारंत्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्।—ना० शा० ६।७७

६ शृङ्गारःकर्त्तव्योधर्मे चार्थे च कामे च।—वही १८।२

७ वही, १८।७३

वर्गके देवोंमें अर्थार्थिता सम्भवहै। दूसरोंके मतसे अभिलषणीय अर्थ तो देवोंमें भी सम्भव होता ही है और उनके उपाध्यायके अनुसार देव नायक-नायिकाके मिलनेसे अन्योंकी अर्थसिद्धि होती है, जैसे शिव-पार्वतीका मिलन इन्द्रादिदेवोंके तारकाक्रान्त राज्यकी मुक्तिकेलिए होता है।[१] और नायकका कन्यामें अथवा कन्याका नायकमें जो परस्पर अनुराग होता है अथवा उद्यान आदिमें परकीयाके साथ जो छिपकर संगम होताहै, जैसे अहल्याके साथ इन्द्रका, वह सब काम शृङ्गार कहाजायगा।[२] शृङ्गारके ये तीनों प्रकार उन रूपकोंमें, जहां मनुष्यपात्र होते हैं, अत्यधिक दिखायी पड़तेहैं। (किन्तु पुरुषार्थोंपर आश्रित भेदोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व बहुत न चल पाया। बादके शृङ्गारप्रकाश तथा नाट्यदर्पणादि कुछ ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख मिलता है)।

विप्रलम्भ एवं करुणमें अन्तर—भरतने विप्रलम्भ शृङ्गारसे करुणके भेदका निरूपण इस प्रकार कियाहै—'विप्रलम्भशृङ्गारमें निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरणआदि जिन व्यभिचारियोंको सहकारी रूपसे निबद्ध किया गयाहै वे ही बाहुल्यके साथ करुण रसमें भी होतेहैं, जैसा कि करुणप्रसङ्गमें कहाहै—व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः —(ना० शा०)। तो फिर इन दोनोंमें क्या अन्तर रहा ? वास्तविक बात यह है कि विप्रलम्भशृङ्गारमें रहनेपर इन निर्वेदादिकोंके अन्तस्में धारावाही रूपसे **रति ही सापेक्षस्थिर भाव** रहताहै, जो पुनर्मिलनकी आशासे अनुप्राणित रहताहै। करुणमें भी रति रहीथी, किन्तु अधुना वह उच्छिन्न या निरपेक्ष रूपमें रहतीहै, अर्थात् अब पुनर्मिलनकी कोई आशा नहीं रही—जो रतिका आलम्बन था, अब वह शोक का आलम्बन होजाताहै[३] अतएव कामसूत्रके पारदारिकप्रकरणमें तथा नाट्यशास्त्रके सामान्याभिनयप्रकरणमें अभिलाषसे प्रारम्भ कर मरणपर्यन्त अवस्थाओंसे युक्त विप्रलम्भ शृङ्गार परस्पर आस्थाबन्ध **रूप रतिके रहनेपर ही** दिखाया गयाहै।[४] और फिर औत्सुक्य कहतेहैं उस विशिष्ट भावके विषय (आलम्बन) की ओर उन्मुखताको। जितने समयतक वह विषय रहता है उतने समयतक ही उसके प्रति उत्सुकता रहती है। उस विषयके नष्ट हो जाने पर तो फिर उसके प्रति उत्सुकता कहाँ—इसप्रकार यह निष्कर्ष निकलताहै कि औत्सुक्य प्रधान रहने पर ही निर्वेदचिन्ताआदि भावोंसे विप्रलम्भशृङ्गारकी अभिव्यंजना होतीहै। अतएव वहां रतिभाव सापेक्ष मानाजाताहै। करुणमें तो विषय ही नष्ट हो जाताहै। अतः भरतमुनि उपसंहार करते हैं कि—**"एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भइति"**।[५] इस प्रसङ्गमें भरतमुनिने एक बात और बड़ी मार्मिक कहीहै। वे प्रायः शृङ्गारके दोनों भेदोंको एक साथ उल्लिखित कर देतेहैं। यहीं उन्होंने कहा है—एवमेष सर्व-भावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।[६] किन्तु अभिनवकी भारती सर्वत्र

---

१ —भारती   २ ना० शा० १८।७५   ३ —वही

४ का० सू० ५।१।४ –५   ५ ना० शा०।   ६ वही, ६

उसका यह तात्पर्य निकालती है कि भरतके मतसे शृङ्गार रसके दो भेद होते हुए भी वह एक ही रस है—दो नहीं—एक एवासौ (शृङ्गारः) इति बहुश उक्तम्—(भारती)। जब भरतने उपसंहार किया कि—एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति[1] तो इसकी मीमांसा करते हुए अभिनव कहतेहैं—भरतने यहां जो 'शृङ्गारः' यह एक वचनका प्रयोग कियाहै उससे यह उपसंहार कियाहै कि—शृङ्गाररस एक ही है।[2]

रुद्रटके अनुसार शृङ्गारके दो प्रकार होतेहैं सम्भोग तथा विप्रलम्भ। उनमें परस्पर संगत पुरुषस्त्रीके रतिमूलक व्यवहारको सम्भोग तथा वियुक्तके रतिमूलक व्यवहारको विप्रलम्भ कहतेहैं। फिर यह द्विधा विभक्त शृङ्गार प्रत्येक दोरूपका माना गयाहै—प्रच्छन्नरूप और प्रकाशरूप।[3] यह 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाशरूप' भेद रुद्रटकी अपनी मौलिक सूझ है। इन्होंने ही इसका प्रथमबार उल्लेख किया है। हो सकताहै इसका उन्हें कामशास्त्रमें कुछ संकेत मिलाहो। अन्य आचार्योंने तो उनके बाद ही इस भेदकी चर्चा की है। किन्तु रुद्रटने इन दो भेदोंका केवल नामोल्लेख ही करके छोड़ दियाहै।—उनके लक्षण उदाहरणआदि कुछ नहीं दिए। सम्भवतः प्रेमियोंके प्रेमको परस्पर अथवा सर्वसाधारणसे गुप्त अथवा प्रकट बनाए रखने के कारण शृङ्गारके सभी भेदोंको प्रच्छन्न एवं प्रकाशरूप कहा जा सकताहै। इस भेद को करके रुद्रटने अपनी सूक्ष्म दृष्टिका परिचय दियाहै। अस्तु! उनके अनुसार सम्भोग शृङ्गार वह है, जिसमें नायकनायिका हर्षातिरेकके साथ एकचित्त हो परस्पर आलोकन, आभाषणआदिके सुखका अनुभव करतेहैं।[4] इस विषयमें नमिसाधुकी एक टिप्पणी बड़ी मार्मिक हुईहै। सम्भोग शृंङ्गारको कुछ लोग केवल सुरतक्रीडामात्र समझतेहैं। यह अनुचित है, आलोकन-आभाषणआदि भी तो सम्भोग ही हैं—'नतु निधुवनमात्रम्।' (ऐसी ही उक्ति आनन्दवर्धनने महाकवियोंके उत्तमदेवताके सम्भोगवर्णनका प्रत्याख्यान करते समय कहा है।[5]) रुद्रट ने शृङ्गार की आलोकन वचनादि चेष्टाओंका भी वर्णन किया है।

विप्रलम्भशृंगारके भेद—रुद्रटने शृंगारके दूसरे पहलू विप्रलम्भका विवेचन किया है। रुद्रटने ही सर्वप्रथम विप्रलम्भ शृंगारके चार प्रकारों का उल्लेख कियाहै—प्रथमानुराग, मान, प्रवास तथा करुण रूप।[6] परस्पर आलोकनआदिसे ही जब नायक-नायिकामें परस्पर

---

१ वही २ 'शृङ्गार इत्येकवचनेनैक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम्।' भारती

३ सम्भोगः संगतयोर्वियुक्तयोश्च विप्रलम्भोऽसौ।
पुनरप्येष द्वेधाप्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च॥ का० अ० १२।६

४ अन्योन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायको यदिद्धमुदौ। आलोकनवचनादि ससर्वः संभोगशृंङ्गारः॥ वही—१३।१

५ न च सम्भोगशृंगारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारःयावदन्येऽपि प्रभेदाःपरस्पर-प्रेमदर्शनादयःसम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते?—ध्व० पृ० ३३३

६ अथ विप्रलम्भनामा शृंगारोऽयं चतुर्विधो भवति। प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन॥ का०—अ० १४।१

अनुराग उत्पन्न होकर प्ररूढ़ होजाताहै उस समय रसकी प्राप्तिमें उनकी जो चेष्टाएं होतीहैं उसे प्रथमानुराग विप्रलम्भ कहतेहैं ।[1] चेष्टाओंका विवेचन रुद्रटने स्पष्ट एवं थोड़ा विशद ढंगसे कियाहै । प्रथमानुरागकी दशामें प्रेमी लोगोंको मदनताप (प्रेमकी तड़पन) अवश्य सहना पड़ताहै, जिसके उपचारमें वे हिम, शीतल जल, चन्द्र, चन्दन, कमलनाल, कदलीदल आदिका, उन वस्तुओंको बुरा कहते हुए भी, सेवन करतेहैं ।[2] इस प्रथमानुराग रूप विप्रलम्भ में ही वियुक्त प्रेमियोंको दस स्मरदशायें या दस क्रमिक अवस्थाएं अनुभूत होतीहैं । वे इस क्रम से अनुभूत होती हैं—सर्वप्रथम अभिलाष (अर्थात् उस प्रियाकी चाह) होती है, फिर चिन्ता, तब स्मरण, इसके बाद परस्परके गुणगान, तदनन्तर उद्वेग (या घबड़ाहट), तत्पश्चात् प्रलाप फिर क्रम से उन्माद, व्याधि, जड़ता और अन्त में मरण भी हो जाता है ।[3]

नायिका-प्राप्त्युपाय—प्रथमानुरागी नायक अपनी उस प्रेयसीको प्राप्त करने में अनेक प्रयत्न करताहै । उसके परिजन (दास या दासी) को साम, दान, या मानआदि किसी उपाय से, किसी अन्य प्रयोजनकेलिए, मिलायेगा । और उस परिजनके सम्मुख, जब वह उसकी बात में आ जायेगा, तब नायिकाविषयक सानुराग बातें कियाकरेगा और अन्तमें उसके प्रति अपना अनुराग भी प्रकट करदेगा ।[4] यदि नायिकाका कोई परिजन इस प्रकारका न मिले तो किसी भिक्षुणी, मालिनिआदिको, जिसकी बातपर स्वयं विश्वास करता हो तथा नायिका भी विश्वास करतीहो, इस काममें भली प्रकारसे नियुक्त करे ।[5] और उनके द्वारा अपने भावको नायिकासे निवेदित कर तथा नायिकाके चित्तको जानकर, तब अपनी अवस्थाके सूचक लेख आदि उपचारोंसे उससे (प्रेममार्गमें आगे बढ़नेकी) जल्दी करवाताहै । और जब उसे एकान्तमें अपने प्रेमके प्रति सिद्ध जान लेताहै, तो यथावसर उसे कला द्वारा, इन्द्रजालों द्वारा अथवा योगों द्वारा अनेकों बार विस्मित करता है ।[6] किन्तु इस प्रकार जब समस्त उपायों का उपयोग करके भी नायिकाको साधनेमें सफल न हो तब किसी कन्या नायिकाको साधनेका प्रयत्न करे ।[7]

परदारप्रवृत्तिनिषेध—परकीयागमनके विरुद्ध वात्स्यायनसे लेकर सभी आचार्योंका ऐकमत्य है । किन्तु हाल, अमरूकआदि कविवरोंकी उक्तियोंमें परकीयाप्रेमका कभी-कभी बड़ा मनोरम चित्र मिलताहै । अतः रुद्रटका कहना है कि कविको न तो परदाराकी इच्छा करनी चाहिए, न उपदेश और न ही उनका उपाय बतानाचाहिए । उनका वर्णन केवल विद्वानोंको (सहृदयोंको कहनाचाहिए था, पर रुद्रट तो सहृदयगोष्ठीके सदस्य थे नहीं, कैसे कहते ?)

---

१ आलोकनादिमात्रप्ररूढ़गुरुरागयोरसंप्राप्तौ । नायकयो र्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ।। का० अ० १४।२

२ वही १४। ३   ३ वही १४।४-५   ४ वही १४।६, ७

५ वही १४।८   ६ वही १४।६, १०

७ मन्येत यदानेयं कथमपिलभ्यतेनायिकानाथात् । क्षीणसमस्तोपायःकन्यांसतदेति साधयति ।। वही १४।११

प्रसन्न करनेकेलिए काव्याङ्गरूपसे कियाजाताहै। उसमें कविको दोष नहीं देनाचाहिए।[1] काव्यकी इस परदार-प्रवृत्तिको रुद्रटने खतरेसे भरी, अतः नायकको आत्मरक्षा करते हुए इसमें प्रवृत्त होने केलिए कहाहै।[2]

मानविप्रलम्भ—दूसरा विप्रलम्भ मान रूप है। नायकमें नायिकान्तरसबन्धसमुद्भूत दोषके कारण नायिका ईर्ष्यावश उसके प्रति जो भावविकार प्राप्त करतीहै, उसे 'मान' विप्रलम्भ कहतेहैं।[3] नायकके इस नायिकान्तरसम्बन्धदोषकी कई कोटियां या प्रकार हैं—ज्यायान्, मध्य, कनीयान्, तथा मध्यज्यायान्। वास्तविक रूपसे अन्य-नायिकागमन ज्यायान् दोष है—उससे बात करना मध्यम दोष है, उसे देखना कनीयान् दोष है तथा उसके द्वारा स्वयं देखा जाना मध्य ज्यायान् है।[4] फिर रुद्रटने काव्यमें वर्णित दोषचिह्नोंका भी उल्लेख कियाहै। जैसे—प्रतिनायिकाके वस्त्रआदि नायकके पास, नायिकाके अङ्गमें उसके नखदन्त आदिके क्षत-चिह्न, गोत्रस्खलन (भूलसे उस नायिकाका नाम लेलेना), सखीसे बातें आदि उस (नायिकान्तरसम्बन्ध) दोषके चिह्न हैं।[5] देश, काल, पात्र, प्रसंगआदिके अनुसार दोषको देखकर उत्पन्न नायिकाका कोप या मान असाध्य, सुखसाध्य या दुःखसाध्य होताहै।[6] वास्तव में अपने दोष तथा सहायक दोनोंके बलाबलकी आलोचना करके तब नायिकाके कोपको सुखसाध्य अथवा दुःखसाध्य (कृच्छ्रसाध्य) समझे।[7] फिर उस कोपको शान्त करनेकेलिए छः उपाय प्रयुक्त किये जातेहैं— साम, प्रदान, भेद, प्रणति, उपेक्षा तथा प्रसङ्गविभ्रंश,[8] किन्तु शृंगारमें भूलकर भी दण्डका प्रयोग नहीं करनाचाहिए, क्योंकि वह शृङ्गारको ही नष्ट कर देताहै।[9]

प्रवासविप्रलम्भ—प्रवासविप्रलम्भ वह है जिसमें नायक परदेश जायगा, जा रहा हो या गया हो, किन्तु ऋतुके अनुसार अथवा अन्यथा ही आयेगा, आरहाहै, अथवा आयाहो।[10]

---

१ का० अ० १४।१२, १३

२ सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति सुदारुणावस्थः। आत्मानं रक्षिष्यन् प्रवर्तते नायको प्यत्र॥ वही १४।१४

३ मानः स नायके यं विकारमायातिनायिकासेर्ष्या। उद्दिश्यनायिकान्तरसम्बन्धमुद्भूतं दोषम्॥ वही १४।१५

४ गमनं ज्यायान् दोषः प्रतियोषिति मध्यमस्तथालापः। आलोकनं कनीयान् मध्यो ज्यायान्स्वयंदृष्टः॥ का० अ० २४।१६

५ वही १४।१७ ६ वही १४।१८ ७ वही १४।२६

८ समप्रदानभेदौ प्रणतिरुपेक्षाप्रसंगविभ्रंशः अत्रैते षडुपायाः॥ वही १४।२७

९ दण्डस्त्विह हन्ति शृंगारम्। वही १४।२७

१० वही १४।३३।

करुणविप्रलम्भ—रुद्रटने करुणविप्रलम्भ उसे कहाहै, जिसमें नायक नायिकामेंसे एक की मृत्यु हो जाय, या एक मृतकल्प हो और दूसरा उसके विषयमें प्रलाप करे।[1] यह तो वास्तवमें करुण होगया। इसमें पुनर्जीवनकी आशा ही इसे शृङ्गाररूप देसकतीहै, किन्तु रुद्रटने उस पक्षको देखा ही नहीं।

रुद्रभट्ट का समस्त शृंगारमय विवेचन रुद्रट के अनुसार ही हुआ है। मान करनेपर प्रसादनकेलिए (अथवा मानभंगकेलिए) रुद्रभट्टने छः उपाय बतायेहैं—साम, दान, भेद, उपेक्षा, प्रणति तथा प्रसङ्गविध्वंस। (इसे अन्य आचार्योंने 'रसान्तर' तथा भरतने दण्ड कहा है)। साम नीति तो वह है; जिसमें नायक कुछ इस प्रकार सान्त्ववचन कहताहै—'सुन्दरि, अपराध करके भी क्षमाशील तुम्हारे स्नेहका ही सहारा चाहता हूं।[2] जब किसी अन्य कारणके बहाने वस्तुतस्तु प्रसन्न करनेकेलिए नायक अलङ्कारआदि देताहै तो उसे दान कहतेहैं—'यह लुब्ध स्वभाव व्यक्तियोंमें ही सफल होताहै।[3] जब मानिनीके परिजनोंको मिलाकर (दानआदि द्वारा) प्रसन्न कर, फिर उनके द्वारा प्रेयसीको प्रसन्न कियाजाताहै तो उसे भेद उपाय कहते हैं।[4] जब प्रसन्न करने की पूर्वोक्त विधियोंको न कर अन्य अर्थके द्योतक वाक्यों द्वारा प्रसन्न किया जाता है तो उसे उपेक्षा उपाय कहतेहैं।[5] नति तो वह उपाय है, जिसमें केवल दीन बनकर चरणों पर गिरना होताहैं। स्त्रियोंको प्रियकी यह चेष्टा अतिशयप्रिय एवं ललित लगतीहै।[6] और जब उस मानकी वेलामें अकस्मात् भय या हर्षआदिकी भावना आ जातीहै तो वह मानमर्दनकारक प्रसंगविध्वंस उपाय बन जाताहै।[7] ये उपाय यथोत्तर बलवान्हैं, किन्तु प्रथम तीन (साम, दान, भेद) ही अधिक प्रयुक्त किये जाने चाहिए, बादके तीन तो कभी-कभी ही प्रयुक्त कियेजायं।[8] मानके प्रसंगमें रुद्रभट्टने भी कुछ तहकी बातें कहीहैं—'प्रमदाको चाहिए कि वह प्रियको अत्यधिक खेद न पहुंचाये। मान (रूठना) भी कभी-कभी ही किया जाय और वह भी प्रियकी नति-रूप उत्सवकेलिए ही। मानके समय नायकमें भय तथा नायिकामें ईर्ष्याकी भावना रहतीहै। और ध्यानसे देखा जाय तो न बिना स्नेहके

---

१ करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरोम्रियेतनायकयोः। यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतंप्रलपेत्॥ का० अ० १४।३४

२ शृ० ति० २।४४

३ अलंकारादिकं दद्यान्नायको यत्रतुष्टये। उद्दिश्यकारणंकिंचिद्दानंलुब्धासुतद्॥ वही २।४५

४ यस्मिन्परिजनं तस्याः समावर्ज्यप्रसादतः। तेनैवलभते कान्तां कान्ताभेदः स उच्यते॥ वही २।४६

५ वही २।४७

६ केवलं दैन्यमालम्ब्य पादपातान्नतिर्मता। अभीष्टा सा भृशं स्त्रीणां ललिता च भवेत्॥ वही २।४८

७ वही २।४९ ८ वही २।५०

यह भय है, और न बिना मदनके वह ईर्ष्या। अतः मानकी वेलामें दोनोंकी परस्परकी प्रीति बढ़ती ही है।[1] सुन्दरी जब प्रियपर प्रसन्न होतीहै तो उसे कुछ ऐसे सम्बोधन देतीहै—'प्रिय, सुभग, दयित, वल्लभ, नाथ, स्वामी, ईश, कान्त, चन्द्रमुख, रमणी-जीवितआदि।' और जब रूठी रहतीहै तो—शठ, धृष्ट, निर्लज्ज, दुराचार निष्ठुर, दुःशीलवान्आदि।[2] अपने प्रियको अप्रिय बनानेके कुछ ये कारण होतेहैं—गर्व, व्यसन, त्याग, विप्रियकरण, निष्ठुर-भाषण, लोभ तथा अतिप्रवास।[3]

ध्वनिकार-सम्मत शृङ्गारभेद—आनन्दवर्धन रसादिकी असंलक्ष्यक्रमता बताते हुए उनसे सम्बन्धित भावादिकी व्यङ्ग्यताकी अनन्तरूपताकी ओर संकेत करतेहुए कहतेहैं कि "अतएव (वह रसादिरूप व्यङ्ग्य) असंलक्ष्यक्रम एक ही प्रकारका सामान्येन कहा गया, क्योंकि असंलक्ष्यतारूप वैशिष्ट्य उन सबमें समान है।" उदाहरणके लिए उन्होंने शृंगार रस लिया। 'काव्यात्माशृंगारके प्रथमतः दो प्रकार हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोगके भी प्रेमियोंकी परस्पर प्रेमपूर्वक अवलोकनसे प्रारम्भ कर सुरत (जिसके ६४ प्रकारके आलिङ्गन आदि भेद कामसूत्रप्रकरणमें देखे जासकतेहैं) उद्यानादि-विहारआदि अपरिमेय प्रकार हैं। विप्रलम्भके भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवासआदि भेद हैं। उनमें प्रत्येकके अनेक प्रकारके विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी हैं। उन सबके (सम्भोगादिकोंके और उनके विभावादिकोंके) देशभेद, काल-भेद, अवस्था-भेद, आश्रय-भेदआदिके अनुसार एक (शृङ्गार) के ही असंख्य भेद होंगे, फिर सभी रसोंके भेदोपभेद करनेमें तो अनन्त ही संख्या होंगी।"[4]

धनञ्जयसम्मत शृङ्गाररसके भेद—धनञ्जयने मूलभेदोमें थोड़ासा परिवर्तन करते हुए शृंगारके तीन प्रकार बतायेहैं—अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग। धनञ्जयके इन नूतन प्रकारके भेदकरणकी तथा विप्रलम्भ शब्दके प्रयोग न करनेकी व्याख्या धनिकने इस प्रकार कीहै—वास्तवमें वियोग (विप्रलम्भ) के दो स्वरूप होतेहैं—संयोग होनेके पूर्व, तथा संयोग होनेके पश्चात्। और दोनोके लिए 'विप्रलम्भ' शब्द सामान्यरूपसे प्रयुक्त होताहै। किन्तु, संकेत देकर अवधि बीतनेपर भी जो, अन्य नायिकाके साथ प्रेम के कारण, नायक नहीं आता, वह विप्रलम्भ शब्दका मुख्य अर्थ है। इसप्रकार विप्रलम्भशब्दका दोप्रकारका वियोग-सामान्य अर्थ कहीं लाक्षणिक न समझ लियाजाय और प्रवंचनावाला मुख्य ही न गृहीत होनेलगे, अतः

---

१ नातिखेदयितव्योऽयं प्रियः प्रमदयाक्वचित्। मानश्चविरलः कार्यः प्रणामोत्सवसिद्धये॥
स्नेहं विना भयं न स्यान्मन्मथोनेर्ष्ययाविना। तस्मान्मानप्रकारोऽयं द्वयोः प्रीतिप्रवर्धनः॥
वही २।५१, ५३

२ वही २।५४, ५५

३ गर्वाद्व्यसनत्यागाद्विप्रियकरणाच्च निष्ठुरालापात्। लोभादतिप्रवासात् स्त्रीणां द्वेष्यः प्रियोभवति॥ वही २।५६

४ ध्व० २।१२, पृ० २१७

धनंजयने उसका प्रयोग न कर स्पष्टताकेलिए अयोग और विप्रयोग शब्दका प्रयोग किया[1]। किन्तु धनंजयका यह विभाग तथा नामकरण उन्हींतक सीमित न रहा। बादके कुछ आचार्योंने भी इसे अपनाया ही। वस्तुतः (धनंजय या) धनिकका भय निर्मूल था, क्योंकि जब स्वयं भरतमुनिने 'विप्रलम्भ' शब्द का पारिभाषिकरूपमें वियोगसामान्य अर्थ कियाहै तो अब उसके इस शास्त्र के इस प्रसंगमें प्रवंचना अर्थकी भ्रान्ति किसको होगी? शास्त्रविशेष के पारिभाषिक शब्द उस शास्त्रमें उस अर्थविशेष के अभिधायक ही माने जातेहैं, लक्षक नहीं।

अयोगशृङ्गार—धनंजयका 'अयोग' वही है जिसे आचार्योंने 'पूर्वानुराग' रूप विप्रलम्भ कहा है। जब दो नवयुवकों (नायक-नायिका) का एकदूसरेके प्रति परस्पर अति गाढ़ अनुराग होताहै—यहांतक कि दोनों एकचित्त होतेहै, किन्तु पराधीनतावश या दैववश वे एकदूसरेसे दूर रहतेहैं, उनका संगम नहीं हो पाता, वहां अयोग शृङ्गार कहा जाता है[2]। योगशब्दका अर्थ है एकदूसरेको अपनाना (स्वीकार)। उसके अभावको अयोग कहतेहै। पारतन्त्र्यके कारण अयोगका उदाहरण सागरिकावत्सराज या मालतीमाधव है, तथा दैववश अयोगका उदाहरण गौरी-शिवका अयोग है।[3] शृङ्गाररसका तीन प्रकार अयोग, विप्रयोग तथा संयोग बताना सूक्ष्म चिन्तन भले ही हो, किन्तु उचित नहीं प्रतीत होताहै। अयोग वस्तुतः विप्रलम्भका ही एक प्रकार, (भोजके शब्दों में में पूर्वरागरूप, या मम्मटके शब्दों में अभिलाषरूप) है। अतः अयोग तथा विप्रयोग दो पृथक्‌रूप विप्रलम्भ शृंगार के ही कहने चाहिएथे, दो अलग शृङ्गारके प्रकार नहीं। करुणको न तो भरतने माना, न धनंजयने ही। यह ठीक भी है। उसके स्थानपर धनंजयने शापज प्रवास कहाहै और आगे मम्मटने उसकी चर्चा भी नहींकी है। सम्भवतः वे उसे शापहेतुकमें ही अन्तर्भूत मानतेहैं। अस्तु। अयोग शृङ्गारकी धनंजय ने दस अवस्थायें बताईहैं अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण। ये दसों अवस्थाएँ उत्तरोत्तर होती जातीहैं।[4] भरतने अप्राप्तसुरतोत्सवा स्त्रीकी ये दस अवस्थायें बतायी थीं[5]। इनका लक्षण धनंजयने (भरत की अपेक्षा कहीं अधिक) विस्तारके साथ कियाहै, जो सम्भवतः लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर कल्पित किया होगा। इनमें सर्वप्रथम अवस्था अभिलाष है, जिसका लक्षण इसप्रकार किया गयाहै :—'जब सर्वांग-सुन्दर नायकके प्रति नायिकाकी समागम रूप इच्छा उत्पन्न होतीहै। यह इच्छा

---

१. अव०।

२. तत्रायोगो अनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः पारतन्त्र्येणदैवाद्वाविप्रकर्षादसंगमः॥
—४।५०,५१

३. अव०।

४. द० रू०, ४।५१,५२

५. ना० शा० २४।१५६

नायक को साक्षात् देखनेपर, या उसके चित्रको देखनेपर, अथवा उसके विषयमें सुनने परहोती है। इस दशा में विस्मय, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावोंकी प्रतीति होती है। नायक या नायिकाका दर्शन साक्षात्रूपसे, चित्रके द्वारा, स्वप्नके द्वारा या इन्द्रजाल आदि मायाके द्वारा हो सकताहै। इसीप्रकार श्रवण सखियोंके गीत या मागधआदिके द्वारा गुण-स्तवनके बहाने होता है।[1] फिर चिन्तनआदि अवस्थाओंका धनंजयने निरू-पण नहीं किया। कारण कुछका तो संचारी भावोंआदिके नाते विवेचन कर चुके थे,और कुछ स्वतः नामसे ही इतनी सरल थीं कि इनकी व्याख्या की कोई अपेक्षा नहीं थी।[2] धनंजय का कहना है कि ये दस ही अवस्थायें—प्रायः आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट हुई हैं, वैसे तो महा कवियोंकी रचनाओंमें इनका अनन्त रूप देखनेको मिलताहै।[3] उदाहरणार्थ—प्रियके दर्शनया श्रवणसे जनित अभिलाषसे क्या औत्सुक्य पैदा नहीं होता ? क्या प्रियके न मिलने पर निर्वेद तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन से ग्लानि नहीं उत्पन्न होती ? इस तरह एक अभिलाष दशामें औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की अवस्था भी पाई जाती है।[4] इतना ही नहीं, अयोगकी दशामें छिपछिपकर अनुरागआदि अन्य भी बातें देखी जातीहैं, जिन्हें विस्तार से कामसूत्र से जाना जा सकता है।[5]

विप्रयोग शृङ्गार—फिर दूसरा भेद विप्रयोग है जो विश्लेष रूप है, अर्थात जिनका प्रेम रूढ़ है, जो संयुक्त हैं यह उन नायक-नायिकाका अलग होना है। यह विप्रयोग दो प्रकारका होता है—मानरूप तथा प्रवासरूप। मानरूप विप्रयोग भी या तो प्रणय के कारण होताहै या फिर ईर्ष्याके कारण।[6] इनमें, नायक-नायिका में से एकके या दोनों के कोपयुक्त होने पर, क्रुद्ध रहनेपर, प्रणयमानवाला विप्रयोग होताहै।[7] फिर प्रियके किसी दूसरी नायिकाके प्रति आसक्त होनेपर स्त्रियोंमें जो क्रोध है वह ईर्ष्याकृत मान कहलाताहै। प्रियकी अन्यासक्ति या तो सखीके मुखसे सुनी होतीहै, अथवा प्रियके स्वप्न में अन्य स्त्रीका नाम लेने, या उसके शरीर पर भोग-चिह्नको देखने या फिर नाम उच्चारण में चूक करलेसे तीन प्रकारसे अनुमित होती है। अथवा नायिका द्वारा प्रत्यक्ष देखी गयी भी होतीहै।[8] ईर्ष्या-मानोंमें पूर्वकी अपेक्षा बादवाले हेतु अधिक प्रामाणिक अतएव दुर्निवार

---

१. द० रू०, ४।५३,५४
२. वही ४।५५
३. वही ४।५५,५६
४ दृष्टे श्रुते भिलाषात्तु किं नौत्सुक्यंप्रजायते। अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्-वही ४।५६-५७
५. शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम्-अव०।
६. वही, ४।५७-५८
७. वही ४।५८
८. वही ४।५६

होतेहैं। नायिकाके इस ईर्ष्यामानको छः उपायों से हटाया जा सकता है, जैसा कि भरत ने कहाहै—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा तथा रसान्तर। मधुर प्रिय वचनोंका प्रयोग सामनामक उपाय है। नायिकाकी सखीको मिला लेना भेद है। गहने आदिके बहाने खुश करलेना दान है और पैरोंपर गिरना नति कहलाता है। यदि सामादि चार उपाय न काम करें तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना उपेक्षा कहलातीहै। संभ्रम, त्रास और हर्षादिके कारण कोप का दूर होजाना रसान्तर उपाय कहलाता है।[1]

जब किसी कार्यसे किसी उथल पुथलपर गड़बड़ीके कारण, आर्थिक शापके कारण नायकनायिका पृथक्-पृथक् स्थानों में निवास करें तो उसे प्रवासविप्रयोग कहते है। इसमें दोनोंके अश्रु, निःश्वास, लम्बी लटकती लटें आदि होजातेहैं। फिर कार्यवश प्रवास बुद्धिमें भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होनेके कारण तीन प्रकारका होता है।[2] सम्भ्रम जनित प्रवास वह होताहै जहां दैवी या मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एकदम एकदूसरेसे वियुक्त कर दिए गयेहों।[3] उत्पात, विद्युत्पात, तूफानआदि के विप्लवसे, या किसी दूसरे राजाके आक्रमण से बुद्धिपूर्वक नियोजित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है, जैसे विक्रमोर्वशीयमें पुरुरवा और उर्वशीका वियोग अथवा जैसे मालतीके कपालकुण्डला द्वारा हरलिए जानेपर मालती तथा माधवका वियोग। शापज प्रवास वह है, जिसमें नायक-नायिकाके समीप होनेपर भी उनका स्वरूप (स्वभाव या रूप) शापके कारण बदल दिया जाता है।[4]

विप्रयोगमें नायिकाओंके विशेष स्वरूप की ओर भी धनंजयने संकेत कियाहै। उनका कहना है कि प्रणयमान की नायिका विरहोत्कण्ठिता होती है, प्रवास की प्रोषितपतिका, तथा ईर्ष्या की कलहान्तरिता, विप्रलब्धा या खण्डिता।[5] इस प्रकार विप्रयोग दशाकी नायिका के पांच प्रकार धनंजयने बताये हैं। सम्भोग शृङ्गार में नायिकामें प्रियके प्रति लीला आदि, जिनका द्वितीय प्रकाशमें उल्लेख हुआ है, दस चेष्टायें पाई जाती हैं। ये चेष्टायें दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के उपयुक्त होतीहैं।[6] धनंजयने काव्यनाट्यके शृङ्गार में ग्राम्यप्रदर्शनका स्पष्टतः प्रतिषेध किया है, क्योंकि काव्यका शृङ्गार उत्तमप्रकृतियों का शृङ्गार होताहै। उनका कहना है— 'प्रिय अपनी प्रेयसीकी चाटुकरता हुआ, कला

---

१. द० रू० ४।६२,६३
२. वही४।६४,६५
३. वही ४।६४, ६५
४. अव०।
५. स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि द० रू० ४।६६
६. प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया।
   कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धाच खंडिता॥ वही ४५।६८

क्रीड़ादि साधनोंसे उसे प्रसन्न करें तथा ऐसा कोई व्यवहार न करे जो ग्राम्य हो अथवा नर्म[1] (कौशकी वृत्ति अथवा शृङ्गार) को नष्ट करने वाला हो ।'

शृङ्गार के चार प्रकार—शृङ्गारप्रकाशमें भोजने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार प्रकारके शृङ्गारका विवेचन कियाहै। यह विषय सरस्वतीकण्ठाभरणमें प्रतिपादित नहीं हुआहै। शृ० प्र०के केवल २०वें प्रकाश के काम शृङ्गारका कुछ छुटपुट उल्लेख सरस्वतीकण्ठाभरणके पंचम अध्यायमें हुआहै। यह विषय जो इन कई प्रकाशोंमें बड़े विस्तारके साथ प्रतिपादित कियागयाहै, कुछ, जैसा कि पहले कहा गया है, भ्रान्ति भी पैदा करताहै। भोजका शृङ्गार तो साधारण आचार्योंके शृङ्गारसे पृथक् है यह हमने देख लिया। अतः जब वे अपने शृङ्गार का धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार, कामशृङ्गार और मोक्षशृङ्गार रूपसे चार प्रकार बताते हैं तो वे उसके द्वारा मनुष्य की पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंके प्रति इच्छा एवं चेष्टा को ही बताते हैं-धर्म-इच्छा, अर्थ-इच्छा, काम-इच्छा और मोक्ष-इच्छा या मुमुक्षा। इसमें काम- इच्छा ही रतिशृङ्गार है। भो स्वयं कहते हैं—विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से प्रकर्ष पाता हुआ रति-नामक प्रधान भाव कामशृङ्गार कहलाता है।[2] किन्तु यहां भी भोज भ्रान्ति ही उत्पन्न करते हैं। साधारण शृङ्गारके भी, जो भोजका कामशृङ्गार है, धर्म, अर्थ कामभेद कहे गए हैं।

मनुष्य के अहंकारतत्वकी चार प्रकारकी अभिव्यक्तियां उसकेकार्यकलापों के चार प्रकारके उद्देश्योंके प्रति चार प्रकारके लगावके रूपमें होतीहैं। इन्हें ही पुरुषार्थ (या पुरुष-जीवन का प्रयोजन) कहते हैं, जो चार है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भोज ने इस अहंकार या अभिमान को उन चारों के मूल में मानाहै है—'चतुर्वर्गैककारणम्'। अतः भोजने अपने (अहंकार) शृङ्गारको धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार कामशृङ्गार और मोक्षशृङ्गार रूपसे चार प्रकारका बताया है जिसके द्वारा उन्होंने चार पुरुषार्थोंकी प्राप्ति में मनुष्यकी चेष्टाओंका विवेचन किया है। पहली बार तेरहवें प्रकाशमें उन्होंने संक्षेपरूपमें इसका निरूपण किया था, अठ्ठारहवें से इक्कीसवें प्रकाश तकमें इसीका विस्तार से एकएकका पूरे एकएक प्रकाशमें विवेचन किया। भरतने नाट्यशास्त्रमें कामको चारों पुरुषार्थी का मूल बताया था। दोनों में अन्तर यही कहाजासकताहै कि भरत कामको मूल मानतेहै और भोज आत्म-काम (अहम्) को। किन्तु जब कामशृङ्गारका भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपसे चार प्रकार किया तो

---

१. रमयेच्चाटुकृत् कान्तः कलाक्रीडादिभिश्चताम्।
न ग्राम्यमाचरेत् किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ द० रू० १७४

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् (वि) प्रकर्षमापद्यमानः प्रधान—(भा) वो रतिर्नाम कामशृङ्गाराख्यां लभते—शृ० प्र०, पृ० ७३३, भाग ४, प्रका० २२

आत्मकाम (अहंकारशृङ्गार) और काम (रतिशृङ्गार) के चारों प्रकारों में प्रायः समानता या एकरूपता होने के कारण भ्रान्ति होनी स्वाभाविक है।

रतिशृङ्गारके धर्मशृङ्गार या धर्मकामका स्वरूप गृहस्थका एकपत्नी व्रत रूप है। इसका नायक धीरोदात्त होता है।[1] अर्थशृङ्गारयाअर्थकामका स्वरूप भौतिक लाभोंकेलिए स्त्रीप्रेम है, जैसे उदयनका पद्मावतीसे प्रेम, अथवा किसीका अपनी पत्नीसे इसलिए प्रेम कि वेश्याप्रेम या परस्त्रीप्रेममें धनबलकी हानि होतीहै, और अन्य स्त्रियोंके साथभी प्रेमसम्बन्ध यदि धन या स्वास्थ्यको क्षति नहीं पहुँचाता तो इसी प्रकारका शृङ्गार मानाजायगा। इसका नायक धीरोदात्त होताहै।[2] कामशृङ्गार प्रेमीका प्रेम कहा जायगा, जैसे उदयनका अग्निवर्णका अथवा अन्य विलासीका इसका नायक धीरललित कहागयाहै।[3] और मोक्षशृङ्गार तो धर्मशृङ्गारका ही उन्नत रूप है, जिसमें गृहस्थ अपनी पतिव्रता के साथ मोक्ष प्राप्तिकेलिए प्रयत्न करता है। इसमें धीरशान्त नायक होता है। ऐसा प्रतीत होताहै कि उदात्त, उद्धत, ललित एवं शान्त—इन चार प्रकारके नायकोंको शृङ्गाररस का भी नायक बतानेकेलिए उनकी मानस वृत्तिका ध्यान रखते हुए, भोज ने उनके शृङ्गार को चार प्रकारका बताया। यह आचार्य की वस्तुतः एक अति सूक्ष्म तथा नितान्त मौलिक सूझ थी।

कामशृङ्गार—शृ० प्र० के १८वें, १९वें एवं २०वें प्रकाशों में क्रमशः धर्म अर्थ और मोक्षशृङ्गार का विवेचन हुआ है जो भोज के अहंकारशृङ्गार के प्रकार हैं। इनके विवेचनमें कामसूत्रआदिका सहारा लिया गया है। बीसवेंमें कामशृङ्गारका निरूपण हुआ है। यद्यपि है तो यह भी अहंकार-शृङ्गारका ही एक प्रकार, किन्तु काम रूप होनेके कारण रति-प्रधान हो जाता है। अतः इस प्रकाशके प्रतिपाद्य विषयका विहङ्गावलोकन अप्रासंगिक न होगा। इस प्रकाशके निरूपणमें वात्स्यायनके काम सूत्रों का एवं उसपर भी जयमंगला टीकाका विशेष उपयोग किया गया है। काम को मन का सुख नामक एक विशिष्ट धर्म बताया गया है[4]। फिर कामको दोप्रकार बतायाहै—सामान्यरूप और विशेषरूप सामान्यरूप वह है, जो मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियोंके अनुकूलवेदनीयतासे प्राप्त होताहै तथा विशेषरूप वह है जो स्त्री-प्रेमसे मिलता है। विशेषरूपके भी दो प्रकार हैं—प्रधान जो कि स्त्रीका स्पर्शसुखरूप है, एवं अप्रधान, जो कि स्त्रीके सौन्दर्यआदिकी कल्पनासे प्राप्त आनन्दरूप है। कामको सर्वत्र सुखका अभिमान (बौद्धिक-

---

१. तदेतद् धर्मशृङ्गारे धीरोदात्तस्य चेष्टितम्। स्वकीया नायिका चास्मिन् धीरोदात्तश्च नायकः। शृ० प्र० प्र० १८, वा० २, पृ० ३६३

२. धीरोद्धतस्य वृत्तेऽस्मिन् अर्थशृङ्गारसंश्रये। उद्धतो नायकः सर्वा स्त्री—वही १९, वा० २, पृ० २९८

३. ललितो नायकःसर्वायोषिद् वृत्तिस्तु कैशिकी—शृ० प्र० प्र० २० वा०। पृ० ३२५

४. कामोनाम आत्मनः सुखाभिधा (या) नो विशेषगुणः। शृ० प्र०

स्वीकृति)रूप कहागयाहै ।[1] अतः कुछ खेदकारक चेष्टाएँ भी काम ही कहीजातीहैं—(जैसा कि कामसूत्रमें वात्स्यायनने विवेचन कियाहै।) भोजने शृङ्गारप्रकाशमें इस प्रसंगमें कामका लक्षण कामसूत्रसे ही उद्धृत कियाहै। 'विषयसम्प्रयोग' तत्सम्प्रत्यय 'संस्कार' 'अभिलाष' 'मनःप्रवृत्ति' और 'संकल्प'—ये सभी कामके ही स्वरूप या प्रकार है। भोजने इनके उदाहरण दियेहैं। फिर 'हेतुभूत' तथा 'फलभूत' रूपसे कामका वर्गीकरण कियाहै। 'सम्प्रयोग' के भी दो प्रकार अङ्गसम्प्रयोग तथा अधिष्ठान् सम्प्रयोग। अधिष्ठानसम्प्रयोग भी दो प्रकारका है बाह्य एवं आभ्यन्तर। इस प्रकाशके अन्तमें भोज इस प्रकार उपसंहार करतेहैं—"यह है कामशृङ्गार, यह है काव्यका दैवत, विश्वका सर्वस्व, तथा जन्मका फल[2]।"

मोक्षशृङ्गार—इक्कीसवें प्रकाशमें भोजने मोक्षशृङ्गारका विवेचन कियाहै। मोक्षकी परिभाषा देते समय भोजने गौतमके न्यायसूत्रका अनुसरण कियाहै। विभिन्न दर्शनों के अनुसार तत्वोंकी संख्या एवं स्वरूप भी पृथक् पृथक् बताए हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तके एक मात्र तत्व ब्रह्मसे प्रारम्भ कर गौतमके सोलह पदार्थो तकका विवेचन किया और अतएव निःश्रेयसका भी उनउन सिद्धान्तोंके अनुसार विभिन्न स्वरूप बताया।

अनुरागस्थापन—शृङ्गारप्रकाशके बाईसवें प्रकाशका नाम 'अनुरागस्थापन' है। इसमें भोजने बहुतसे मौलिक विचार प्रस्तुत किएहै। गृहस्थआश्रममें सभी मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करते हैं। इनमें धर्म और अर्थ तो साधन हैं किन्तु काम साध्य है और अतएव इन तीनोंमें काम का सर्वाधिक महत्त्व है। काम साधारण और विशेष दो प्रकारका होता है, एवं वही सुख कहलाताहै। यहां भोजने नाटकों एवं काव्योंसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जैसे भवभूतिसे भारविसे। भोजका यह (काम) अनुराग चौंसठप्रकारका है—अभिलाष, आकांक्षा, अपेक्षा, उत्कण्ठा, ईप्सा, लिप्सा, इच्छा, वाञ्छा, तृष्णा, लालसा, स्पृहा, लौल्य, आशंसा, श्रद्धा, रुचि, दौहृद, आशा, आशीस्, आशंसा, मनोरथ, आस्था, अभिनिवेश, अनुबन्ध, आग्रह, विमर्श, मनीषा, अभिप्राय, पक्षपात, लोभ, आसङ्ग, अभिष्वङ्ग, सक्ति, मोह, आकूत, कुतूहल, विस्मय, राग, वेग, अध्यवसाय, व्यवसाय, कामना, वासना, स्मरण, संकल्प, भाव, रास, हास, रति प्रीति, दाक्षिण्य, अनुग्रह, वात्सल्य, अनुक्रोश, समाप्ति, विश्वास, विस्रम्भ, वशीकार, प्रणय, प्राप्ति, प्रयाप्ति, अभिमानाप्ति, स्नेह, प्रेम, आह्लाद और निवृत्ति। उन्होंने फिर इन चौसठों प्रकारों के उदाहरण दिये है। इनमें ईप्सा, लिप्सा, इच्छा तथा वांछाके उदाहरण नहीं दियेगयेहै। सरस्वतीकण्ठाभरणमें इन अनुरागप्रकारोंका विवेचन नहीं हुआहै। फिर इन चौसठोंमें प्रत्येक इस रूपमें आठ प्रकारोंका बताया गयाहै—नित्यानुराग, नैमित्तिकानुराग, सामान्यानुराग, विशेषा-

---

१. सुखाभिमानवतीइन्द्रियप्रवृत्तिः। शृ०प्र०

२. स एवं काव्य (म)-शृङ्गारःतदेतत् काव्यदैवतम्।
तदेतद् विश्वसर्वस्वं तदेतज्जन्मनः फलम्॥ वही

नुराग, प्रकाशानुराग, प्रच्छन्नानुराग, अकृत्रिमानुराग, तथा कृत्रिमानुराग । भोजने यहां इनके लक्षणआदिका भी विवेचन कियाहै । सरस्वतीकण्ठाभरणमें इन्हें शृङ्गारका महर्षि कहा गयाहै । वहां इनकी संख्या बारह गिनायी गयीहै ।[१] किन्तु शृङ्गारप्रकाशमें केवल आठ ही लीगई । शेष चार (सहज, आहार्य यौवनज तथा विस्रम्भज)को उन्हीं आठमें किसीमें किसीको अन्तर्भूत कर लिया गयाहै । उनमें 'नित्यानुराग' आठ प्रकार का बताया गया है, जो विषय, आश्रय आलम्बन, उद्दीपन, स्थान, संस्थान, रूप एवं स्वरूपके सम्बन्धसे व्यवस्थित किया गयाहै । रससम्बन्धी इन आठों तत्त्वों का यहां लक्षण भी पुनः दियागयाहै । फिर यह इन आठोंमेंसे प्रत्येक तीनतीन प्रकार का बताया गयाहै, जैसे—विषयानुराग-उच्च, निम्न, सम । आश्रयानुराग-उत्तम, कनीयान्, मध्यम । आलम्बनानुराग-शीघ्र, मध्यम, चिर । उद्दीपनानुराग-मृदु, मध्य, चण्ड । स्थानानुराग-सदृक्, सदृश, सदृश । संस्थानानुराग-सम्यक्, मिथ्या, अतिशायी । रूपानुराग-चारु, अचारु, उभयात्म। स्वरूपानुराग-गम्भीर उत्कट, प्रकट । फिर इन चौबीसों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गयेहैं ।—

नैमित्तिकानुरागप्रकारकी भी प्रथमतः आठ ही संख्या है—काल, समय, वेला; उपाधि, साधन, समावेश, देश और प्रकीर्ण । फिर इनमें भी प्रत्येक के तीनतीन भेद होतेहै जैसे—काल हैमन्तिक, वासन्तिक और वार्षिक । समय-प्रवासारम्भ, प्रत्यागम एवं प्रथमसंगम । वेला प्रदोष, निशीथ तथा प्रभात । उपाधि-तमः, चन्द्रोदय तथा ज्योत्स्ना आदि । साधन-स्नान, विलेपन आदि । समावेश-अपसर, प्रसाद और मद । देश-विविक्त, गहन एवं सेव्य । प्रकीर्ण-गीत उत्सव एवं चूतादि (आम्रआदि) । फिर इन चौबीसों के उदाहरण भी दिये गयेहैं ।

सामान्यानुराग भी चौबीसप्रकारका कहा गयाहै—जैसे द्रव्यगोचर, गुणगोचर, कर्मगोचर, संक्षिप्त, विक्षिप्त, समस्त, व्यस्त, शुद्ध, संकीर्ण, साधर्म्यकृत, वैधर्म्यकृत, महाविषय, अल्पविषय, देशहेतु, कालहेतु, धर्मविषय, धर्मिविषय; समयजन्मा, सम्बन्धजन्मा, प्राकृत, वैकृत, वयःकृत, वैदग्ध्य-कृत तथा सौभाग्यकृत । फिर इन चौबीसों के उदाहरण दिये गये हैं । किन्तु सौभाग्यकृतका उदाहरण देते समय उसे 'प्रसिद्धिकृत' नामसे अभिहित कियागया है, न कि 'सौभाग्यकृत' नाम से ।

तदनन्तर चौबीसप्रकारके 'विशेषानुराग' का विवेचन किया गया है : जैसे—जाति, कृत, क्रियाकृत, गुणकृत, द्रव्यकृत, साधारण, असाधारण, प्रतीयमान, अभिधीयमान, बाह्य, आभ्यन्तर, सदृश, असदृश, स्वप्रकाश, अन्याभिभावी, उल्लेखवान्, अनुल्लेखी, अतिरिक्त अनतिरिक्त, नैसर्गिक, स्वसम्मत, स्तोकसम्मत, बहुसम्मत, सर्वसम्मत, तथा (?) । फिर इन सबके उदाहरण दिये गयेहै । रुद्रटने प्रकाशानुराग तथा प्रच्छन्नानुरागका उल्लेख तो कियाथा, किन्तु इसपर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था । इसका इतना विस्तार तो शृङ्गारप्रकाशमें ही हो सका है ।

---

१. स० क० ५।९६,९८

प्रकाशानुराग—भी चौबीसप्रकार ही है—स्वकीयाविषय, स्वयंवराविषय, कन्याविषय, पुनर्भूविषय वेश्याविषय, सामान्योढाविषय, नवोढाविषय, प्रौढाविषय, स्वाधीनभर्तृकाविषय. प्रोषितपतिकाविषय, विरहोत्कण्ठिताविषय, कलहान्तरिताविषय, खण्डिताविषय, वासकसज्जिकाविषय, एकचारिणीविषय, सपत्नी-ज्येष्ठा-कनिष्ठा-सुभगाविषय, शुद्धान्त चारिणीप्रचार, धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध, सानुबन्ध तथा निरनुबन्ध। फिर इन सबके उदाहरण दिये गयेहै।

तदनन्तर 'प्रच्छन्नानुराग'का क्रम आताहै। यह भी चौबीसप्रकार का बताया गयाहै—पराङ्गनाविषय, स्वाङ्गनाविषय, स्वैरिणीविषय, कुमारीविषय, धीराविषय, अधीराविषय, विप्रलब्धाविषय, अभिसारिकाविषय, सुलभ, दुर्लभ, सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, सम्बद्ध, असम्बद्ध, सापदेश निरपदेश, भयनिमित, लज्जानिमित्त कालनियत, देशनियत, नागर, उपनागर, ग्राम्य तथा प्रकीर्ण इन चौबीसों के भी उदाहरण दिये गयेहै।

ऐसे ही 'अकृत्रिमानुराग'के चौबीस प्रकार दिये गएहै—प्रथम तो सहज, फिर यौवनज, आहार्य तथा विस्रम्भज—ये चार प्रकार किये गयेहै। फिर प्रत्येक के दो-दो प्रकार से आठ होते हैं। सहज-एक विषय, अनेकविषय। यौवनज-शरीर तथा मानस आहार्य्य-स्थिर तथा भङ्गुर। विस्रम्भज मुग्ध तथा प्रगल्भ। ये आठ तो मुख्य भेद है। फिर ये ही परस्पर मिलकर १६ अन्य प्रकार उत्पन्न करते है। इन सबके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गएहै।

और अन्तिम है 'कृत्रिमानुराग' जिसको भी चौबीस प्रकार का बताया गयाहै—नित्यानुकारी, नैमित्तिकानुकारी, सामान्यानुकारी, विशेषानुकारी, प्रकाशानुकारी, प्रच्छन्नानुकारी, सहजानुकारी, यौवनजानुकारी, विस्रम्भानुकारी, आहर्यानुकारी, सालम्बन, निरालम्बन, प्रसिद्धविषय, अप्रसिद्धविषय, सुप्रयुक्त, दुष्प्रयुक्त, सप्रयोजन, अन्यप्रयोजन, सप्रतिभेद, निप्रतिभेद, स्वीकृत, पुरुषकृत, उभयकृत तथा अनुभयकृत। इसी क्रमसे इनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गयेहैं।

पूर्वोक्त ६४ प्रकारोंके अनुरागके साथ इन आठ प्रकारोंका, जिनमें प्रत्येकके चौबीस-चौबीस भेद हुएहै और जो इसप्रकार १९२ होजातेहैं, गुणनकरनेपर (६४ x १९२) अनुराग प्रकारका कुलयोग १२,२८८ होता है।[1]

विप्रलम्भसम्भोगविवेचन—भोजने शृङ्गारप्रकाशके तेइसवें प्रकाशका नाम 'विप्रलम्भसम्भोगप्रकाशन' रक्खा हैं। इसमें उन्होंने रतिशृङ्गारके दो प्रधान पक्षों के मुख्य भेदों का संक्षेप में विवेचन प्रारम्भ किया है। विप्रलम्भ, प्रथमानुराग, प्रवास और करुण—ये चार प्रकार बताये गये हैं। सरस्वती-कण्ठाभरण में भी यह विषय प्रायः इसीप्रकारका विवेचित किया गया था।[2] फिर सम्भोगको भी विप्रलम्भके पूर्वोक्त चारोंमें प्रत्येकके अन्तरसे एकएक

१. द्वादशैवं सहस्राणि (१२०००) साष्टाशीतिशतद्वयी।
भवन्ति कामशृङ्गारेमूलप्रकृतयः पृथक्॥ शृ०प्र०

२. स० क० ५।४५—२६७

करके चार प्रकारको बताया गया है। सम्भोगका भी इसीप्रकार सरस्वतीकण्ठाभरणमें विवेचन किया गयाहै।[1] अपने इस विप्रलम्भके पश्चात् संभोगका विवेचन करनेवाले एकान्ततः मौलिक सिद्धान्तका समर्थन भी भोजने इस प्रकार कियाहै कि बिना वियोगकष्टकी भूमिकाके प्रेमियोंके संयोगका पोषण नहीं करते बनता, क्योंकि जबतक दोनोंकी तड़पन नहीं बताई गई तबतक मिलनके सुखका क्या मूल्य होगा ? अतएव कपड़ेपर किसी रंगको चटक करनेकेलिए पहले उसे कषाय रंगसे रंग देतेहैं।

फिर बाइसवें प्रकाशमें कियेगये अनुरागके भेदोंका प्रेमके 'विचित्र' और रागवर्धन-नामक दो प्रकारोंसे विवेचन किया गयाहै। सम्भोगके स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय-आदि भेद एवं उनके उदाहरण तथा इसीप्रकार विप्रलम्भके स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय भेद एवं उदारण दिये गयेहैं। फिर, प्रथमानुरागआदि चार विप्रलम्भके तथा तदनन्तर होनेवाले चार सम्भोगके, उनके सम्मिश्रणके तथा उनमें विचित्र, और 'रागवर्धन' पहलुओंके उदाहरण दिये गयेहैं। तदनन्तर नायिकाभेदोंको दृष्टिमें रखकर शृंगारकी मीमांसा कीगईहै। दोप्रकारके सम्पर्क बताये गयेहैं—सजातीय व्यक्तियोंके बीच तथा विजातीय व्यक्तियों के बीच। अनुगम भी दो प्रकारका होताहै—स्थितअनुगम तथा आगन्तुक अनुगम। अन्तमें विविध कवियोंसे चार विप्रलम्भ एवं चार सम्भोगके एक या एकसे अधिक भेदोंसे युक्त उदाहरण दिये गये हैं। इस संभोग एवं विप्रलम्भके दो या दोसे अधिक भेदोंसे युक्तवाले उदाहरण को संविधि कहतेहैं। इन संविधियों के सैकड़ों प्रकार सम्भव बताये गयेहैं, जिनमें कुछको संक्षेपमें उदाहृत किया गयाहै। यह प्रकाश भोजकी मौलिक उद्भावनाओंसे भरा पड़ाहै।

शृंगारप्रकाश के चौबीसवें प्रकाशमें भोजने विस्तारके साथ विप्रलम्भ शब्दकी तथा उसके चारों प्रकारोंके शब्दों की यौगिक व्याख्या अथवा निरुक्ति द्वारा उनका वही अर्थ निकालाहै, जो उनकी परिभाषा द्वारा लक्षणरूप में दिया जाताहै। इसीलिए इस प्रकाशका नाम 'विप्रलम्भान्वर्थप्रकाश' रक्खा गया है। यहाँ सर्वप्रथम पूर्वोक्त विप्रलम्भकी परिभाषा तथा, उसके चार प्रकारआदि सब कुछ संक्षेपमें पुनः कहे गयेहैं। तदनन्तर विप्रलम्भ, मानप्रवास-आदि शब्दोंसे प्रकृतिप्रत्ययआदिकी निरुक्ति द्वारा वही अर्थ निकाला गयाहै। इस विवेचनसे भोजने अपनी निरुक्तिविषयक प्रौढ़ि तथा व्याकरणसम्बन्धी विशेषज्ञता प्रदर्शित कीहै। 'विप्रलम्भमें' 'वि' और 'प्र' उपसर्ग तथा 'लभ' धातु प्रयुक्त है। 'प्र' उपसर्ग लभके साथ यहाँ 'वञ्चना' अर्थको द्योतित करता है।[2] यह वञ्चना चार प्रकारकी होतीहै—प्रतिश्रुत्यादान

१. स० क० ५।५१, ५२

२. संश्रुत्य विप्रलम्भार्थान् गृधिवञ्चयो : प्रलम्भने।
इत्यादिज्ञापकाज्ज्ञेयः प्रपूर्वोवंचनेलभिः ॥ वही ५।५६

विसंवादन, कालहरण तथा प्रत्यादान।[1] यद्यपि शुद्ध 'लभन' अर्थ तो 'प्राप्ति' है, किन्तु 'प्रके' साथ रहनेपर इसका ठीक उल्टा अर्थ 'अप्राप्ति' या 'वञ्चना' होजाताहै। इसप्रकार कभी-कभी 'प्र' विपरीत अर्थ भी देता है—जैसे—'तिष्ठतिसे' 'प्रतिष्ठते' 'वसतिसे' 'प्रवसति', 'स्मरति' 'प्रस्मरति' आदि। फिर इस 'प्रलम्भमें' लगा हुआ 'वि' उपसर्ग भी चारप्रकारका अर्थ प्रकाशित करताहुआ 'प्रलम्भकी' उन विशेषताओंको प्रकट करताहै। वे अर्थ हैं—

विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध तथा विप्रतिषिद्ध।[2] इस प्रकार विप्रलम्भके पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण—इन चारों प्रकारोंमें 'प्र' और 'वि' के पूर्वोक्त चारों अर्थ क्रमशः अनुस्यूत दिखायी पड़ते हैं, जिससे—पूर्वानुरागविप्रलम्भ—प्रतिश्रुत्यादान एवं विविध रूप है, मान—विसंवादन एवं विरुद्ध रूप है, प्रवास - कालहरण एवं व्याविद्ध रूप है तथा करुण—प्रत्यादान एवं विप्रतिषिद्ध रूप है। यद्यपि इनका 'सम्प्लव' भी देखा जाताहै, अर्थात् किसी एकप्रकारके विप्रलम्भमें अन्यके भी गुण मिलतेहैं, तथापि प्राधान्यकी दृष्टिसे यह व्यवस्था कीगईहै।

'प्र' उपसर्गकी चारों प्रकार की वंचनाओंका क्रमशः पूर्वानुरागआदि चार अवस्थाओं में इस प्रकार विवेचन किया गयाहै—पूर्वानुरागमें 'प्रतिश्रुत्यादान' रूप वञ्चना होतीहै। कटाक्षआदि द्वारा सूचित करके भी लज्जा,भय आदिकेकारण अभीष्ट आलिंगनादिका न देना।[3] 'मानमें विसंवादन' वंचना रहतीहै, जिसका लक्षण है—आलिंगनादिका निषेध या किसी अप्रिय कार्यका स्मरण कर आलिंगनादि का उचित रूप से न देना।[4] प्रवास अवस्थामें 'कालहरण'रूप प्रवंचना होतीहै, जो इन आलिंगनादि अभीष्ट वस्तुओंका काल (समय) कृत कुछ समयकेलिए अपहरण रूप होताहै। प्रिय के प्रवाससे लौटने पर प्रेयसी प्रियके साथ इन्हें पुनः प्राप्त करतीहै[5]। करुणमें 'प्रत्यादान' रूप वंचना होतीहै। प्रत्यादान का अर्थ

---

१. आदानं च प्रतिश्रुत्यविसंवादनमेव च।
कालस्यहरणं चाहुः प्रत्यादानं च वञ्चनम्॥ स० क० ५।५७

२. पूर्वानुरागपूर्वेषु विप्रलम्भेषुतत्क्रमात्।
विशेषद्योतकेनेह व्युपसर्गेणसूच्यते॥
विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च क्रमेणसः।
विनिषिद्धश्चपूर्वानुरागादिषुविषज्यते॥ वही ५।५८,६४

३. प्रतिश्रवोहिपूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः।
अभीष्टालिंगनादीनामदानंह्रीभयादिभिः॥ वही ५।५९

४. माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते।
अयथावत्प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभिः॥ वही ५।६०

५. प्रवासेकालहरणं व्यक्तमेषां प्रतीयते।
प्रोष्यागतेष्विहैतानिकान्ताः कान्तेषुयुञ्जते॥ वही ५।६१

ही होता है फिरसे वापस लेलेना, क्योंकि इसमें दैव सारे ऐसे सुख पुनः वापस-सा ले लेता है।[१] इसी प्रकार 'वि' उपसर्गकी चारों विशेषताओंको पूर्वोक्त 'विप्रलम्भ'की चारों अवस्थाओंकी वंचनामें इस प्रकार प्रदर्शित कियाहै—पूर्वानुरागमें लज्जाआदिके कारण वंचना 'विविध' होताहै, मान में ईर्ष्या आदि के कारण 'विरुद्ध' होता है, प्रवास में दीर्घकाल के कारण 'व्याविद्ध' रहताहै तथा करुण में शोक (करुणत्व) के कारण 'विनिषिद्ध' रहता है।[२]

प्रथमानुरागविप्रलम्भ (निरुक्ति)—फिर शृङ्गारप्रकाशमें प्रथमानुरागआदि शब्दों का अर्थ निरूपित हुआहै। 'राग' शब्द 'रञ्ज' धातुसे बनाहै। 'अनु' उपसर्गका अर्थ यहाँ 'पश्चात्' या 'सह' है[३]। 'राग' का अर्थ रंग या वर्ण होताहै। 'राग' का सम्बन्ध 'राज' धातुसे भी होनेके कारण 'अनुराग' का शोभा 'औज्ज्वल्य' आदिसे भी सम्बन्ध बतायागयाहै। (भरतने तो शृङ्गारको शुचि और उज्ज्वल बतायाहै) इस प्रकार अनुराग अनुषक्ति अथवा रंगना कहलाताहै। अनुरागमें रंगका अपना वैशिष्ट्य होता ही है, क्योंकि प्रेमके कारण मुखपर सात्त्विकभावके कारण ललाई आ ही जातीहै। 'राजते' का अर्थ भी तो 'प्रकर्षमापद्यते' है। प्रथमानुरागमें प्रथम शब्द उत्कृष्टअर्थको भी देताहै।[४]

मानविप्रलम्भ (निरुक्ति)— 'मान' में दो निषेधसूचक शब्द हैं, 'मा' और 'न' जो रूठी या बिना रूठी भी नायिका कहती ही है। वस्तुतः प्रेम की गति स्वभावसे सांपकी गति सी कुटिल होती ही है।[५] मानकी निरुक्ति करके 'पूजा', 'ज्ञान' 'बोधन' तथा 'मापन' अर्थ निकाला गयाहै। प्रेमपद्योंका उद्धरण देकर मानके इन चारों पहलुओंको समझाया गयाहै। 'मान' का अर्थ जब 'ज्ञान' होताहै तो वह 'अभिमान' रूप होताहै, जिसमें दुःख-वेदना भी सुखरूप मानीजातीहै—'मन्यते दुःखैकहेतुमपिसुखसाधनमेवैनमिति मानः। मनुते बुध्यते अस्मात् प्रेमास्त्विति[६] (प्रेमास्तित्व मिति) मानः।' और अन्तिम मापन भी उचित ही अर्थ है, क्योंकि इसीसे प्रेमकी गहराईकी भी नाप लग जातीहै। मान शब्द ल्युडन्त होकर भी जो

---

१. स० क० ५।६२

२. वही ५।६५, ६६

३. रागो नु सह पश्चाद्वानुरूपोऽनुगतोऽपिवा।
यूनोरपूर्वः पूर्वानुरागशब्देनशब्द्यते ॥ वही ५।६७। शृ० प्र० में उसी को इस प्रकार कहा है—अनु पश्चात् सह वा रागः। अनुरूपो रागः अनुवृत्तो रागः।

४. प्रथमश्चासौ अनुरागः वा प्रथमम् अनुरागः। प्रथमम् अर्थात् उत्कृष्टः अनुरागः ॥
शृ० प्र०

५. अहेरिवगतिःप्रेम्णः स्वभावकुटिलेतिसः।
अहेतोर्मेतिनेत्युक्ते हेतोवो मान उच्यते ॥ स० क० ५।४८

६. मान्यते प्रेयसायेन यं प्रियत्वेन मन्यते।
मनुते वा मिमीते वा प्रेममानः सकथ्यते ॥ वही ५।६६

पुंलिंगमें प्रयुक्त होताहै, उसकेलिए भोजने महाभाष्यकार पतञ्जलिको प्रमाण मानाहै। उन्होंने इसीप्रकारकी चर्चा करके अनुमान शब्दको पुंलिंगमें प्रयुक्त बताया है।[१]

प्रवासविप्रलम्भ (निरुक्ति)—प्रवासशब्दकी निरुक्ति भोजने 'वस' निवासे तथा 'वस आच्छादने' ही धातुओंसे की है। पहली धातुसे बनाते समय प्र उपसर्ग विरुद्ध अर्थ देताहै—अतः प्रवासका अर्थ होगा 'दूरजाना।'[२] फिर इसी धातुको णिजन्त करके 'वासयति' का अर्थ किसीके गन्धसे सुवासित होनेवाला अर्थ लेकर इस प्रकार निर्वचन कियाहै—'प्रकर्षेण वासयति अनुरञ्जयति तन्मयतां नयति कामिनः चित्तमिति वा प्रवासः।' क्योंकि ऐसे विरहमें परस्परकी तन्मयता बहुत बढ़ जाती है।[३] णिजन्त ही इस 'वस' का एक और अर्थ होताहै 'प्रमापण या वध' जैसे कहा है—'तूष्णीमेनं प्रवासयेत्'। इसमें चूंकि वियोगियोंका वध ही होताहै, अतः इसे भी प्रवासकहते[४] हैं—(यदि वा प्रपूर्वः वसिर्णिजन्तः प्रमापणे वर्तते तथा तूष्णीमेनं प्रवासयेद् इति, प्रवास्यन्ते हन्यन्ते वियोगिनः इति प्रवासः') ये पूर्वोक्त तीन अर्थ तो 'वस' निवासके प्रवास बनानेमें निकलते हैं। किन्तु जब इसकी व्युत्पत्ति 'वस आच्छादने' से प्र उपसर्ग लगाकर कीजाती है तो प्रका 'विरुद्ध' नहीं अपितु 'प्रकर्ष' या 'विशेष' अर्थ घोषित होताहै, और इस प्रकार प्रवासका अर्थ बनता है 'विशेष प्रकारका आच्छादन' जो वस्तुतः प्रवासकी दशामें वियोगियोंका होता ही है। तब वे एक विशेष प्रकारका वस्त्राच्छादन रखते ही हैं।

करुणविप्रलम्भ (निरुक्ति)—फिर करुणविप्रलम्भमें करुण शब्दकी बड़ी विस्तृत कई प्रकारसे निरुक्ति कीगईहै। 'डुकृञ् करणेसे अनेक अर्थमें करुण बनताहै। फिर 'किर्' विक्षेपेसे भी बनेगा, जिसका अर्थ होगा कि लोग करुणमें सभीभोगों आदिसे विक्षिप्त (पृथक्) हो जातेहैं। जब करने अर्थमें धातुका प्रयोग होताहै तो 'करोति' आदि का अर्थ होताहै 'अभूतम् उद्भावयति' नई वस्तु करना।[५] जैसे 'पटं करोति' तथा मूर्च्छां करोति। और 'चोरङ्कारं क्रोशति' में जिस ण्मुल्प्रत्ययान्त कृ का प्रयोग हुआहै, उसका अर्थ होगा 'चोरः चोर इति उच्चार्य क्रोशति।[६]। 'अर्थात् यहाँ कृ धातु उच्चारण या विलाप अर्थ

---

१. महाभाष्यकृतः कोऽसावनुमान इतिस्मृतेः।
ल्युडन्तेऽपिनपुंलिङ्गगोमानशब्दः प्रदुष्यति ॥ स० क० ५।७०

२. यत्राङ्गना युवानश्च वसते न वसन्ति च।
स प्रवासः प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते ॥ वही ५।७१

३. चित्तोत्कण्ठादिभिश्चेतोभृशंवासयतीहयः।
प्रवासयति वा यूनः स प्रवासो निरुच्यते। वही ५।७२

४. प्रपूर्वको वसिः ज्ञेयः कारितान्तः प्रमापणे। तूष्णीं प्रवासयेदेनामितिवृद्धानुशासनात् ॥ वही ५।७३

५. अभूतोत्पादनायां कृञ् दृष्टः कुरु घटं यथा। वही ५।७४

६. दृष्टश्चोच्चारणे चोरंकारमाक्रोशतीतिवत्। वही ५।७४

देतीहै। करुणमें दुःखी व्यक्ति विपुल विलाप करता ही है।[1] इस कृ के दो और अर्थ होतेहैं—'स्थापयति' तथा 'अभ्यञ्जयति'। जैसे—'अश्मानमितः कुरु' तथा 'पादौ मे सर्पिषा कुरु'।[2] भोजने करुणमें इन क्रियाओंका भी उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भोजने यह सब प्रकृति अंशके प्राधान्यको ध्यानमें रख कर व्याख्यान कियाहै। फिर प्रत्ययार्थके प्राधान्यसे भी विविध व्याख्यान कियेहैं। कारकके छहों भेदोंको, कर्त्ता, हेतुकर्त्ता (णिच्के साथ) भावकर्त्ता, कर्मकर्त्ता, कर्तृकर्म तथा भावकर्मके भी उदाहरण दियेहैं। फिर प्रत्ययोंके उत्पत्तिकाल—भूत, भविष्यत्, वर्तमान एवं अव्यक्तको उदाहृत किया है।[3] फिर उन्होंने द्रव्यरूप क्रियार्थका विवेचन कियाहै। वे प्रथमतः चार प्रकारके हैं—नित्य, नैमित्तिक स्वाभाविक तथा वैपरामर्शिक। फिर प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं। नित्य तीन प्रकारका है शाश्वतिक, वैकल्पिक, नैयोगिक। नैमित्तिकके—औद्योतिक, औपभोगिक एवं प्रायोगिक। स्वाभाविकके—आगन्तुक, नैसर्गिक एवं सांसर्गिक। तथा वैपरामर्शिकके—संकीर्ण, प्रकीर्ण एवं विप्रकीर्ण प्रकारहैं।

इनके भी पुनः उपभेद किये गयेहैं। शाश्वतिकके—निमेष, मुहूर्त्त, नडिकाआदि। वैकल्पिकके—दिन, मास, पक्ष, ऋतु एवं अयन। नैयोगिकके—संवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय एवं महाप्रलय। औद्योगिकके—प्रातः, प्रत्यूषआदि। औपभोगिकके—प्रदोषसे अर्द्धरात तक, उषःकालके पूर्वका प्रहर चन्द्रोदय एवं चन्द्रास्त भी। प्रायोगिकके—ऋतुयें, शरद्आदि। आगन्तुकके—मद, प्रमद, उत्सव, एवं व्यसनपरिहार। नैसर्गिकके—बाल्य, कौमार, यौवन, मौग्ध्य, माध्यस्थ एवं प्रागल्भ्य। सांसर्गिकके—पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, एवं क्षिप्र। संकीर्णके—क्रीडा केलि, द्यूत, व्रत, गोष्ठी एवं प्रेक्षा। प्रकीर्णके—विविक्त, उद्यान, एवं सौधादिसेवा। विप्रकीर्णके—अष्टमीचन्द्र, इन्द्रोत्सव एवं यक्षरात्रिआदि प्रेमोत्सव। इन सबके उदाहरण भी दिये गयेहैं।

पूर्वानुरागआदि का पुनः दूसरी दृष्टि से विवेचन

पच्चीसवें प्रकाशमें भोजने पूर्वानुराग का पुनः दर्शन एवं श्रवण पहलुओंसे विवेचन कियाहै, जिसके प्रसंगमें वे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका बड़े विस्तारसे विवेचन करने लगते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणमें यह विषय प्रायः नहीं कहा गयाहै। 'रस-परिशेष' के प्रसंगमें दृष्ट, श्रुत तथा अनुमित रूपसे निरूपित तीनप्रकारके ज्ञानमें इसकी चर्चा की गयी समझी जा सकतीहै। इस प्रकाशका प्रथम विषय है विप्रलम्भ शृंगारके पूर्वानुरागआदि चारों प्रकारोंकी परस्पर

---

१. मूर्च्छाविलापौ कुरुते-कुरुते साहसे मनः।
करोति चित्तं दुःखेन योऽसौ करुण उच्यते॥ स० क० ५।७६

२. दृष्टो स्वस्थापने श्मानमितः कुरुयथोच्यते।
अभ्यंजने पि च यथा पादौ मे सर्पिषाकुरु॥ वही ५।७५

३. अथ प्रत्ययोत्पत्तिकालाः—भूतो, भविष्यत् वर्तमानः अव्यक्तश्च।

साधर्म्य-वैधर्म्य-परीक्षा। भोजका विचार है कि इन चारों प्रकारोंका कुछ अपनाअपना वैशिष्ट्य है, जिससे वे परस्पर पृथक् हैं। इस वैशिष्ट्यको हम उनका परस्पर वैधर्म्य कह सकतेहैं। फिर हम यह भी अनुभव करतेहैं कि एक प्रकारमें बहुत कुछ दूसरे प्रकारकी भी बातें मिलतीहैं। यह उनका परस्पर साधर्म्य है। इस प्रकार पूर्वानुरागमें कुछ मानके कुछ प्रवासके तथा कुछ करुणके धर्म मिलेंगे। उदाहरणार्थ, यदि पूर्वानुराग विप्रलम्भ में दोनों प्रेमियोंके बीच स्थान या देशकी दूरी अधिक है तो यह उसका प्रवास-विप्रलम्भसे साधर्म्य होगा।

प्रेमकी क्रमिक अवस्थाएँ—फिर भोजने प्रेमकी क्रमिक अवस्थाओंका उल्लेख किया है, जो क्रमसे इस प्रकार हैं—भाव,[१] भावजन्म,[२] भावानुबन्ध[३] और भावप्रकर्ष[४]। शृंगार प्रकाशमें इनका लक्षण भी दिया गयाहै। और ये प्रेमकी चार अवस्थायें चार समृद्धियाँ कही गयीहैं।[५] इनमें उद्दीपनोंके बीच आलम्बनोंका प्रथम मिलन 'भाव-स्कन्ध' कहलाताहै। नायक-नायिका (आलम्बनों) का यह मिलन दोप्रकारका होताहै दर्शन—एक दूसरे को देखने-रूप अथवा श्रवण, एक दूसरेके विषयमें सुनने-रूप। फिर ये दर्शन और श्रवण भी अनेकप्रकारके हो सकते हैं (यहाँ भोजने, विभिन्न शास्त्रोंके ज्ञानके कारण प्रमाणोंका सहारा लिया है।) दर्शन-के इतने प्रकार हो सकतेहैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव। उसी प्रकार श्रवणके भी इतने प्रकार सम्भव हैं—शब्द, ऐतिह्य, श्रुतानुमान, श्रुतोपमान, श्रुतार्थापत्ति एवं श्रुतासम्भव। फिर इन दोनोंका संकर भी अनिवार्य है। भर्तृहरिके अनुसार तो[६] विश्वमें कोई ज्ञान या अनुभव ऐसा हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध किसी शब्दसे न हो, अर्थात् जो शब्दों द्वारा न कहा जासके।

अनुरागप्रकार—इत्थं पूर्वनिरूपित प्रकारके अनुरागके दो रूप होंगे—दर्शनानुराग तथा श्रवणानुराग। फिर दर्शनानुरागके प्रत्यक्षानुराग, अनुमानानुरागआदि छः भेद किये जायेंगे। और श्रवणानुरागके भी शब्दानुरागआदि छः प्रकार होंगे।[७] यहाँ फिर भोज इस अवसरपर दर्शनके विभिन्न मार्गोंके प्रसिद्ध प्रमाणोंका विवेचन करते हैं। यहाँ भोजने दर्शन

१. स० क० ५/१३
२. वही ५/२४, २५
३. वही ५/२६
४. वही ५/२७
५. तदुक्तं भावजन्मानुबन्धप्रकर्षानुरूपास्तावस्था (अवस्था) समृद्धय इति।)
६. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। वा० प०, १
७. भरतने भी प्रेमकी उत्पत्तिमें श्रवण, दर्शनको भी कारण बताया है—
श्रवणाद् दर्शनाद् रूपाद् अङ्गलीलाविचेष्टितैः।
मधुरैः संप्रलापैश्च कामः समुपजायते ॥—ना० शा० २४/१४६

एवं श्रवणसे उत्पन्न प्रेमके विपुल उदाहरण प्रस्तुत कियेहैं। प्रत्यक्षानुराग के प्रसंगमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष शब्दका अर्थ किया है— 'तत्र अक्षम् अक्षंप्रतिगतं विज्ञानं प्रत्यक्षम्।' यह प्रत्यक्ष भी छः प्रकारका होता है—साक्षात्, प्रतिबिम्ब, प्रतिमान, उत्प्रेक्षा, स्मृति तथा स्वप्न। इनमें भी साक्षात् सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष है। इस साक्षात् प्रत्यक्षका लक्षण भोजने ईश्वर-कृष्णकी सांख्यकारिकाके अनुसार किया है— 'तत्र प्रतिविषयाध्यवसायः साक्षात् प्रत्यक्षः।' स्वप्न आदिको, भोज का कहना है, कुछके अनुसार वस्तुतः प्रमाण नहीं अपितु प्रमाणाभास माना जाता है। किन्तु प्रमाणका भूत भी प्रेम उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। अर्थक्रियाकारि ज्ञानको उत्पन्न करनेपर स्वप्न आदि भी प्रमाण माने जा सकतेहैं। भोजने इन छहों प्रत्यक्षों के उदाहरण भी प्रस्तुत कियेहैं।

फिर दर्शनानुरागके भीतर अनुमानानुरागका क्रम आताहै। लिङ्ग (चिह्न) को देखकर लिङ्गीकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना अनुमान कहलाताहै। इस विषय में प्रशस्तपादभाष्य से अनुमापक निर्दोष लिङ्गके विषयकी दो कारिकाओं का उद्धरण देकर भोजने अपने मतसे इस अनुमानके लिङ्गके प्रति इतना सूक्ष्म विचार आवश्यक नहीं बतायाहै। उन्होंने तो लिङ्गाभास (सदोष लिङ्ग) को भी प्रथमानुरागके निमित्त बननेमें समर्थ बतायाहै।[1] इस अनुमान को भोजने छः प्रकारका बताया है—यद्यपि गौतम तथा ईश्वरकृष्णने इसके केवल तीन ही प्रकार बतायेहैं। भोजके छः प्रकार ये हैं—सामान्यतोदृष्ट, विशेषतोदृष्ट, प्रत्यक्षतोदृष्ट, परोक्षतोदृष्ट, विद्यमानविषय तथा अविद्यमानविषय। इनके उदाहरण एक-एक वाक्यमें क्रमशः इस प्रकार दिये जा सकते हैं:—कार्येण कारणम्, स्वरेण पुत्रम्, कृत्तिकोदयेन रोहिण्युदयम्, देशान्तरप्राप्त्याआदित्यगीतम्, धूमेन अग्निम् तथा निमित्तेन भाविनम् अर्थम्। भोजने प्रेमकाव्य से इन छहों अनुमानप्रकारोंके उदाहरण प्रस्तुत कियेहैं। अनुमानके स्वार्थ एवं परार्थआदि भेदोंको आगेके अवसरकेलिए छोड़ रक्खाहै।

तीसरा उपमानप्रमाण एवं उपमानानुराग है। भोजने उपमानके लक्षणके लिए गौतम का न्या०सू० १/१/६ उद्धृत किया है। इसके भी छः प्रकार हैं साधर्म्य, वैधर्म्य, मुद्रा, शिल्प, संज्ञा तथा अभिनय[2] की दृष्टिसे। फिर इन छहोंके उदाहरण भी दिये गयेहैं, जिनमें सौन्दर्यकी प्रशंसा उपमानालंकार द्वारा की गयीहै। भोज उपमानको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानतेहैं। उन्होंने इस विषयमें विन्ध्यवासिन् आदि आचार्योंको प्रमाण रूप में उल्लिखित किया है। अर्थापत्ति-

---

१. लिंगदर्शनादेवलिंगिप्रतिपत्तिरनुमानम्—
अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्वये। तदभावे तु यन्नास्ति तल्लिङ्गमनुमापकम्॥
विपरीत मतो यत् स्याद् एकेन द्वितयेनवा। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपो ब्रवीत्।
वयं तु लिङ्गमात्रमेवब्रूमः। तदाभासस्यापि प्रथमानुरागनिमित्तत्वात्।

२. संज्ञासाधर्म्यवैधर्म्यमुद्राशिल्पाभिनीति (तिकम्)।
ब्रूते यद्वस्तुतो रूपमुपमानं तदुच्यते॥ स० क०

प्रमाण तथा अर्थापत्यनुराग । दृष्ट प्रकारकी अर्थापत्तिके छः प्रकार होतेहैं—प्रत्यक्ष पूर्विका, अनुमानपूर्विका, उपमानपूर्विका, अर्थापत्तिपूर्विका, सम्भवपूर्विका तथा अभावपूर्विका । फिर इनके भी उदाहरण दिये गयेहैं ।

सम्भवानुराग तथा सम्भवप्रमाणभी छः प्रकारका माना गयाहै—सम्भावना यथा—मेघोदयाद् वृष्टिः । संशय या विमर्श – यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवा । बितर्क—यथा पुरुषेण अनेन-भवितव्यम् । प्रायोवाद–यथा–प्रायेणऔशीनराः तक्रपायिनः । सम्प्रत्यय—यथा-एतद् घटद्वारं तथा अग्रे नागकन्यकानगरम् । प्रत्यनुसन्धि – यथा-सोऽपि कपोलपाण्डुतादिसूचितः तस्याः-स्मराभिष्वङ्गः सोऽपि त्वन्निबन्धनः । फिर इनके उदाहरण दिये गयेहैं ।

इसके पश्चात् **अभावानुराग** तथा अभावप्रमाणका विवेचन होताहै । यह भी छःप्रकारका है—प्राक्, प्रध्वंस, इतरेतर, अत्यन्त, सम्बन्ध तथा सर्व । इनके क्रमशः उदाहरण जैसे—क्षीरे दधिनास्ति; क्षीरं दधिनास्ति; स्तम्भः कुड्योन; शशविषाणं नास्ति; चैत्रो गृहे नास्ति; तस्य नामापिनास्ति । भोजने यहाँ सम्भव और अभावको प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे स्वतन्त्र तथा उनमें न अन्तर्भूत होने योग्य सिद्ध किया है । और अन्तमें दर्शनानुरागप्रकरण यहाँ इस प्रकार समाप्त होजाता है ।

तदनन्तर **श्रवणानुरागप्रकरण** प्रारम्भ होताहै । जैसा कि पहले निरूपित किया गयाहै, यह शब्द ऐतिह्य-रूपसे छःप्रकारका होताहै । शब्दका लक्षण इसप्रकार किया गयाहै ।[1] यह दो प्रकारका होताहै—औपदेशिक तथा विधि । उपदेश छः प्रकारके होते हैं—विधिवाद, अर्थवाद, संज्ञावाद, स्वरूपवाद, मन्त्रवाद, अनुवाद । विधिका लक्षण है—प्रवृत्तिनिवृत्यो-विधायकोविधिः । इसके चार प्रकार होतेहैं—उत्पत्ति, नियोग, प्रयोग, अधिकार । फिर इनके उदाहरण दिये गये हैं । अर्थवाद चारप्रकारका होता है । स्तुति, निन्दा पुराकल्प एवं प्रकृति । स्तुति तथा पुराकल्प प्रशंसापरक, एवं प्रेरक होतेहैं । इसीलिए उन दोनोंको प्रवर्तक कहा गयाहै । शेष दोनों, अर्थात् निन्दा और प्रकृति गर्हणापरक एवं निषेधक हैं । अतएव उन्हें निवर्तक कहा गयाहै । फिर भोजने इनके उदाहरण दियेहैं । तीसरा संज्ञावाद है । इसका लक्षण है 'कर्मव्यतिहारहेतुः संज्ञा' अर्थात् उचित नाम देना । इसके भी चारप्रकार हैं—आन्वर्थिकी संज्ञा, पारिभाषिकीसंज्ञा, नैमित्तिकी संज्ञा तथा यादृच्छिकी संज्ञा । भोजने इनके ऐसे उदाहरणप्रस्तुत कियेहैं, जिनमें कवियोंने नामोंका स्वयं भी अर्थनिरूपित किया है । जैसे –'परन्तपोनाम यथार्थनामा' । 'नाम्नासुतीक्ष्णःतपसा (चरितेन) दान्तः ।' स्वरूपानुवाद के चार भेद हैं – जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य । दण्डीने स्वभावोक्ति अलंकारके भी इन्हीं चार पर आधारित चार भेद कियेहैं – मन्त्रवाद—मन्त्रका लक्षण इस प्रकार कियाहै – 'मनस्त्रा-धर्माणः शब्ददेवतात्मानः मन्त्राः । मन्त्रोंके चार प्रकार किये गयेहैं—वैदिक, पौराणिक,

---

१. शब्दविज्ञानाद् असन्निकृष्टे अर्थज्ञानं शब्दम् (:) इसविवेचनमें भोजने बहुत कुछ पूर्व-मीमांसा दर्शन से ग्रहण कियाहै ।

सैद्धान्तिक तथा लौकिक। सैद्धान्तिक मन्त्र जैसे शाक्त मन्त्रआदि और लौकिक मन्त्रोंमें लोकप्रसिद्ध जादू टोनेआदि के सभी मन्त्र आ जातेहैं। अनुवाद भी चारप्रकारके होतेहैं—विध्यर्थ, निषेधार्थ, स्तुत्यर्थ तथा निन्दार्थ। फिर इनके उदाहरण दिये गयेहैं। विधि तथा निषेध के आगे अन्य उपभेद भी किये गयेहैं।

भोजने इसके अनन्तर जैमिनिके मीमांसा-सूत्रोंके आधारपर शब्द-प्रमाण का कुछ अधिक विवेचन भी कियाहै, जो यहाँ, प्रकृतविषयकेलिए असम्बद्ध होनेके कारण, व्यर्थ विस्तारका कारण बनेगा। इतनेके बाद, संयोगसे, इस प्रकाशका शेष अंश नष्ट हो गयाहै। शायद उसमें ऐतिह्य, श्रुतानुमान, श्रुतोपमान, श्रुतार्थापत्ति तथा श्रुतसम्भवका विवेचन हुआ रहा हो। फिर छब्बीसवां प्रकाश सम्पूर्ण विनष्ट है। सम्भवतः उसमें भी पूर्वानुरागका ही विवेचन हुआ है, क्योंकि उन्तीसवें प्रकाश के प्रारम्भतक यही विषय चलताहै। तब कहीं वहाँ 'मान' का प्रकरण प्रारम्भ होताहै।

अभियोगविधि—सत्ताइसवें प्रकाशका नाम भोजने 'अभियोगविधिप्रकाश' रक्खा है। अभियोग शीर्षकके भीतर किन विषयोंका विवेचन करना भोजको अभीष्ट था, इसका तो पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकाशका जितना अंश बचा है उसमें 'संकेत' तथा 'अभिसार'—इन दो विषयोंका विवेचन किया गयाहै। संकेत—या प्रेममें गुप्त मिलन-स्थान (Love-Tryst) से इस प्रकाशका प्रारम्भ होता है। संकेत से सम्बन्धित विभिन्न परिस्थितियां उल्लिखित एवं उदाहृत हैं। संकेत-उपचार, सं०-मनोरथ, सं०-सत्कण्ठा, सं०-हर्षण, सं०-आश्वास, सं०-आगम, सं०-भ्रंश, सं०-विघ्न, सं०-उपघ्न, सं०-भङ्ग, सं०-अनुषङ्ग सं०-आशय, सं०-अपशय, सं०-प्रार्थना, सं०-बहुमान, सं०-वात्सल्य, सं०-अनुक्रोश, सं०-आक्षेपण, सं०-अभिरक्षा, सं०-तात्पर्य, सं० उपजाप, सं०-उपालम्भ, में विप्रलम्भ, सं०-आशिष्, सं०-प्रश्न। फिर अभिसरणका निरूपण किया गयाहै—विरहविसूरण, सखीसम्प्रश्न, इतिवृत्ताख्यान, सखीशिक्षा, ध्वान्तप्रतीक्षा, ध्वान्तानुशोचन, ध्वान्तसत्कार, चन्द्रिकाभिसरण, चन्द्रिकानिर्वेद, चन्द्रोदय-निन्दा, चन्द्रतिरस्कार, अभिसरणसाध्वस, अभिसरणोत्साह, अभिसारिका वृत्तान्त, वञ्चितावृत्तान्त, परिभोगदर्शन, सखीव्याजगर्मा (गर्हा ?), अविनयगूहन तथा चिह्न-निह्नव। इन सबके दो-दो उदाहरण, प्रायः सब प्राकृत भाषासे ही, दिये गयेहैं। ये वस्तुतः नायिकाका प्रिय-मिलनके लिए जानेकी विविध अवस्थायें हैं। विरहके क्षणमें से प्रारम्भ कर, प्रियसे मिलने जानेकी इच्छा, मिलन, वापस आकर मिलनचिह्नोंके निगूहनतकमें अनेक अवस्थाएँ निरूपित की गयीहैं। इस प्रकार यह 'अभियोग' प्रकाश समाप्त होताहै। सरस्वतीकण्ठाभरण में 'प्रेम की परीष्टि' नामसे इस विषयका अतिशय संक्षेपमें संकेतमात्र किया गयाहै।[1]

---

१. विप्रलम्भोभियोगाद्यैः संभोगेसाध्वसादिभिः।
मिथःपरीक्षा याः प्रेम्णो निर्दिष्टास्ताः परीष्टयः॥ —स० क० ५।५४

दूतप्रेषणप्रकार—अठ्ठाईसवें प्रकाशका विषय दूत-प्रेषण है। विप्रलम्भ शृङ्गारके पूर्वानुराग प्रकारमें अभियोगविषयका दूतप्रेषण एक पहलू (पक्ष) है।

दूत प्रेम-सन्देश-वाहक या प्रेम-सहायक होते हैं। उनकी संख्या ८४ है। उनके भेदका आधार दसप्रकारकी ये विशेषताएँ हैं—जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, सम्बन्ध, अर्थ, प्रयोजन, प्रयोग, योग्यता, तथा स्त्रीत्व।[१] उनमें जाति—जैसे-देव, मनुष्य, किन्नर, वानर, शुक, शारिका, पारावत, हंस, आदि। गुण--जैसे पितृ-पैतामह, अदृष्टवैकृत, अविसंवादक, अलोभशील, अमन्त्रविस्रावी, धार्मिक तथा भासहिष्णु। क्रिया—जैसे—सहपांसुक्रीडित, उपकारसम्बद्ध, जन्मान्तरार्जित, सहाध्यायि, समानशीलव्यसन, यश्च अस्य रहस्यानि मर्माणिविधात् अन्यस्य च विधात् 'द्वि-त्रि-अपत्यम्, तथा सहसंवृद्ध। द्रव्य—जैसे-मालाकार, ताम्बूलिक, गान्धिक, सौरिक, पीठमर्द, विट, विदूषक, पाषण्डी तथा मित्र। सम्बन्ध—जैसे गुरु, सखा, शिष्य, आत्मन्, ज्ञाति, औरस, तथा कनीयान्। अर्थः—जैसे-अर्थानर्थ प्रतिघात, सहार्थताप्राप्ति, प्रतारण, आनृण्य, कीर्ति तथा प्रतीति। प्रयोजन—जैसे-नेह, कुतूहल, अभिप्रायोपालम्भ, पूर्वप्रार्थना, अभ्यन्तरप्रार्थना, तथा शीलसंग्रह। प्रयोग—जैसे—प्रच्छन्न, प्रकाश, हीन, उत्कृष्ट, उद्धत, उदात्त, धृष्ट, तथा शठ। योग्यता—जैसे—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ, पत्रहारक तथा मूकदूत। स्त्रीत्वादि—जैसे-ईक्षणिका, भिक्षुकी, सखी, धात्रेयिका, विधवा, दासी, शिल्पकारिका, तथा शिल्पिनी। फिर इन सबके उदाहरण दिये गयेहैं। केवल 'योग्यता'के विषयमें उदाहरण नहीं दिये गये। उसे आगे 'दूती-कल्प'के प्रसंगमें उदाहृत करनेके लिए छोड़ दिया गयाहै। 'योग्यता'को पूर्ण करनेकेलिए गुण आवश्यक है—सम्भावना, विश्वास, प्रवृत्ति, मन्त्रसंग्रह, मनोनिर्वाण, उत्साह, अविश्वास तथा कार्य निर्णय।[२] दूतके कुछ अन्य गुणोंका भी उल्लेख किया गयाहै, जैसे उसकी वावदूकता, तथा कल्पनाशक्ति। उदाहरणकेलिए (प्रमाणरूप से) 'सक्तुमिव तितउना भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि' (ऋ० वे०) तथा 'शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः आदि (मालती माधव) उद्धृत किया गयाहै। योग्यता का एक अन्य गुण-समुदाय भी दिया गया है—शुश्रूषा, श्रवण ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह, तथा तत्त्वाभिनिवेश। यहाँ वाग्मिताकी पुनः दूसरे प्रकारसे प्रशंसा कीगयीहै। फिर इन गुणोंका विभिन्न प्रकारके दूतोंमें विभेद बताया गयाहै। योग्यताके अनुसार स्त्रीत्वादि कापुनः वर्गीकरण किया गयाहै।

दूतकर्म तदनन्तर चौबीसप्रकारके दूतकर्मका विवेचन हुआ है, जो इसप्रकार है—प्रवेश, विश्वासोत्पादन, उपावर्तन, अनुवर्तन, उपन्यास, अवस्थानिवेदन, इङ्गिताकारज्ञान,

---

१. जातिर्गुणाः क्रिया द्रव्यं सम्बन्धार्थः प्रयोजनम्।
प्रयोगो योग्यता स्त्रीत्वं दूतभेदेषु हेतवः॥

२. संभावनाथ विश्वासः प्रवृत्तिर्मन्त्रसंग्रहः।
मनोनिर्वाणमुत्साहः आश्वासः कार्यनिर्णयः॥

उपायज्ञान, प्रकरणज्ञान, प्रतारण, समाश्वासन, अत्ययप्रतीकार, प्रयोज्य-प्रेषण, सन्धिरक्षा, प्रतापव्यावर्णन, उपजाप, पराक्रमण, बन्धुरत्नापहार, मित्रोपग्रह, सुहृद्विभेद चार-ज्ञान, गूढदण्डातिचार, चारसमाधान तथा समाधिमोक्ष। भरतने दूतीके इन गुणोंका उल्लेख किया था—प्रोत्साहनकौशल, मधुरकथा, दाक्षिण्य, कलाज्ञत्व, लसहत्व (लडहत्व ?) तथा संवृत-मन्त्रत्व[1]। भोजने इस प्रसंगमें पूर्वोक्त चौबीस गुणोंका पुनरुल्लेख कियाहै। इन चौबीसोंके भी आगे अलग-अलग प्रकार बताते गयेहैं। उदाहरणार्थ प्रवेशके अठ्ठारह प्रकार होतेहैं। इन सबके उदाहरण दिये गयेहैं। उदाहरण प्रधानतया भवभूतिके 'मालतीमाधव'से प्रस्तुत किये गयेहैं! इस विषयको भी सरस्वतीकण्ठाभरणमें अतिशय संक्षेप रूपसे 'प्रेमकी परीष्टि' नामसे विवेचित किया गयाहै।

दूतसम्प्रेषणादि—उन्तीसवें प्रकाश का नाम 'दूतसम्प्रेषणादि' है। इसका अन्तिम भाग विनष्ट हो गयाहै। इसमें पूर्वराग विप्रलम्भके अन्तर्गत ही ४८ प्रकारके दूतसम्प्रेषणादि विषयोंका विवेचन किया गयाहै। उनमेंसे चालीसको तो एकसाथ प्रत्येकको दो-दो उदाहरणों-के साथ कहा गया है। वे इस प्रकार हैं —दूतसम्प्रेषण, संदेशदान, सुपात्रप्रणिधान, दूतानुगम, सखीविगर्हण, मार्गोदीक्षण, गमागमन्विता, चिरयद्विमर्श, दूतागमन, आकारपरीक्षा, दूतप्रति-भेद, दूतपरिप्रश्न, दूतव्यवहार, दूतवाक्याकर्णन, गमनवृत्तान्त, प्रवृत्युपलम्भ, प्रियसन्देश, सुहृत्सम्मन्त्रण, अवस्थानुभव, सहायोत्साहन, प्रियदूतागमन, दूतप्रतिपत्ति, वार्ताभिधान, कार्यपर्यनुयोग, दूतवाक्य, उत्तराभ्युदयपत्ति, दूतप्रतिवाक्य, दूतवाक्याक्षेप, दूताभिमर्त्सन, परिजनक्षोभ, गुरुजनशंका, सहायवेग, इतिकर्तव्यता, स्वयंप्रवृत्ति, नायकनयन, प्रियाभिगमन, उपस्थान, सम्भ्रमविकल्प, नायिकाप्रतिबोधन, सुहृत्परिहास। तदनन्तर आठ शेष अवस्थाओं-का भेदोपभेदसहित निरूपण हुआहै। वे हैं—दूतपुरस्कार, इतिवृत्ताख्यान, अवस्थाज्ञान, अवधान, संविधान, शक्ति विवेचन, समागमोपाय, तथा समीहितसिद्धि। इन ४८ में से कुछ के भेद इसप्रकार कहे गयेहैं। अवस्थाज्ञान (अनुभव का ज्ञान) तीनप्रकारका बताया गयाहै—दृष्ट, श्रुत तथा अनुमित। 'अवधान' के चार विभाग किये गयेहैं—देश, काल, कार्य तथा पात्र। 'शक्तिविवेचनके' चार प्रकारहैं—प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति, एवं दैवशक्ति। 'समागमोपायके' अनेक रूप हैं—तपस्या, साहस, माया, छद्म, छलितक, हठ, वेष, रूपान्तरा-पत्ति, इन्द्रजाल, विनिर्गम, लेख, चेष्टानुवर्तन, कार्योपदेश, साहाय्य। 'इतिवृत्तज्ञानके' इति-वृत्तके भीतर बारहवें प्रकाश में कहे हुए पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच कार्यावस्थाओं, संस्थाओं एवं सन्धियों का उल्लेख किया गयाहै। 'समीहितसिद्धिके' भीतर भोजने प्रमाणों, प्रमेयों तथा अनुमानके पाँचों अवयवोंका विवेचन कियाहै। और इसके साथ ही इसप्रकाश का अन्त होता है।

---

१. प्रोत्साहनेषु कुशला मधुरकथा, दक्षिणाच कालज्ञा।
लडहा संवृतमन्त्रा दूतीत्येभिर्गुणैः कार्या ॥ ना० शा० २५।१२

मानविप्रलम्भ—तीसवें प्रकाशमें विप्रलम्भके 'मान' स्वरूपका निरूपण हुआहै। भोजने प्रेममें मानकी अनिवार्यमनोज्ञता बताईहै।[१]

सरस्वतीकण्ठाभरणमें इस मानके विषयमें तथा प्रवास और करुणका भी केवल एक-एक पद्य उद्धृत कियागयाहै। शृंगारप्रकाशमें भोजने इनपर पूरेपूरे एकएक अध्याय लिखेहैं। यहाँ मानका लक्षण बताया, फिर उसके भेद बताये—उत्तम मान, वह है, जो नायिका करे; कनीयान् वह है, जो नायक करे; और मध्यम वह है जो दोनों करें। फिर मानसम्बन्धी २४ पहलुओंको गिनाया एवं उनके उदाहरण प्रस्तुत कियेहैं। मानविषयाश्रयालम्बनभेद, मान-जातियाँ, मानविशेष, विषयप्रकीर्ण, आश्रयप्रकीर्ण आलम्बनप्रकीर्ण, विषयकर्म, आश्रयकर्म, प्रकीर्णकर्म, मानविकार, मानोपलक्षणस्थान, मानोत्पत्तिकारण, मानोपलक्षण, मानोद्दीपन, मानविलास, मानमोट्टायित, मानसुखानुभव, मानोत्पत्तिप्रकीर्ण, मानोपाधिभङ्ग, मानभङ्ग-कारण, मानोपशान्ति, मानोपशमलक्षण, मानभङ्गावधि, मानानुभवन-सौख्य। तदनन्तर विषय, आश्रय तथा आलम्बनमें प्रत्येकको १२ प्रकारका बताया है। विषय वह व्यक्ति है, जिसके प्रति भाव उठता है, आश्रय वह व्यक्ति है जिसके मन में वह भाव उठता है, तथा आलम्बन उस विषयकी ही विशेषता है, जिसकेलिए विषयके प्रति आश्रयके मनमें भाव उठताहै।

मानप्रकारादिनिरूपण--भोजने मान (मानजातियों) के २४ प्रकार सोदाहरण बतायेहैं—भाम, कोप, क्रोध, उत्प्रास, रोष, ईर्ष्यायित, मन्त्रयित, असूयित, वैमनस्य, उन्माद, मन्यु, मात्सर्य, अभिनिवेश, अवस्था (ज्ञा ?) विसूरण, वैलक्ष्य, अनुशय, कालुष्य, क्षोभ, आवेग अमर्ष, कोपातिरेक (Something meaning Kopatireka—Dr. Raghavan) उग्रता तथा प्रणयकलह। एक अन्य प्रकारसे मानके २४ भेद (मानविशेष) बतायेहैं—सहज, आहार्य, यौवनज, विस्रम्भज, स्थिर, भङ्गुर, सम, विषम, प्रकाश, गूढ़, चण्ड, मृदु, उद्भट, मसृण, ऋजु, वक्र, साध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य, असाध्य, पुराण, जीर्ण, पुनर्नव तथा नव।

फिर २४ प्रकारके विषयप्रकीर्णका विवेचन है। तदनन्तर आश्रयप्रकीर्णका क्रम आताहै। आलम्बनप्रकीर्ण सात प्रकारके गिनाये गयेहैं—परिहास, आशंसा जिज्ञासा, कुतूहल, कैतव, कारण तथा प्रताप। विषयकर्म, आश्रयकर्म तथा प्रकीर्णकर्म में प्रत्येक छः प्रकारका बताया गयाहै। मानवैकृत, मानवितर्क, मानभङ्गोपाय, मानपरिप्रश्न, चित्र-चाटूक्तियाँ, प्रियोपालम्भ, वैलक्ष्य, अनुशय, ज्ञानान्यथात्व, छायाभ्रंश, उत्कण्ठावेश, वैक्लव्य, प्रविलाप,

---

१. प्रवासात् प्रथमं मानो मिधीयते। कथं पुनरस्य वैचित्र्यं ? श्रूयताम्। अयं दोषों पि मद इव मतङ्गेषु, विग्रहो पि सहकारभाव इव माकन्देषु, कार्श्यादिहेतुरपि तपःप्रबन्ध इव सात्त्विकेषु, प्रियविनो—त्याग इव वदान्येषु, कटुरपि मरीचावचूर्ण इव (षाड) वेषु, कलुषो पि कज्जलनिवेश इव वनितालोचनेषु, दुरासदो पि भ्रमर इव प्रसूनसंस्तरेषु, वक्रोऽपि उक्तिविशेष इव कविकाव्येषु, यूनां मनस्सु उपजायमानः प्रकर्षप्रेमसंपदः सम्पद्यते।

सन्ताप, विषय-व्यावृत्ति, आरम्भ, तथा अभिशंकाका निरूपण हुआहै। तदनन्तर मानसम्बन्धी सत्ता, अनुबन्ध, प्रकर्ष, सम्पर्क, अनुगम तथा पुनः प्रादुर्भावका विवेचन कियाहै। फिर मानभङ्गोपाय कहे गयेहैं—साम, दान, भेद तथा दण्ड। साम तो प्रियवचन या अनुवृत्ति या प्रणामरूप है। दानको तीनप्रकारका कहा गयाहै। शंकाआदि उत्पन्न करना, इन्द्रजाल, तथा माया—ये भेद कहे गयेहैं। और उपेक्षा, प्रतिकोप एवं प्रस्थानको दण्ड कहा गयाहै। फिर मान-परिप्रश्न तथा चित्रचाटूक्तियोंका निरूपण किया गयाहै। इसी में आगे ६ प्रकारके विमर्श तथा ६ प्रकारके उपालम्भोंका भी विवेचन किया गयाहै।

मानके प्रथम चौबीस प्रकारोंमें नवम प्रकीर्ण है—जो इसप्रकार हैं—प्रतिबोधन, समाश्वासन, परिहास, उपदेश, प्रतिबेध, उपजाप तथा स्खलितगोपन। फिर मानविकार ६ प्रकारके बताये गयेहैं—जायते, विवर्धते स्थीयते, विपरिणमते, अपक्षीयते एवं विनश्यति। मानोपलक्षणस्थान ये हैं—हृदय, चक्षु, वक्त्र, वाक्, वपु: एवं चेष्टित। इसके अनन्तर पाण्डुलिपिका कुछ अंश नष्ट हो गयाहै। सम्भवतः उसमें मानस्थानके ६ प्रकारोंके उदाहरण दिये गयेथे।

तदनन्तर मानोत्पत्ति-कारण इस प्रकार कहे गयेहैं—विप्रियकरण, प्रियकरण, वारित-वामता, कामचार, शाठ्य, प्रतारण, खण्डन, अवज्ञा, अकृतज्ञता, सपत्नीनामग्रहण, गोत्रस्खलन तथा अकृतज्ञता (अकृतज्ञता की पुनरुक्ति हुई है) उनके उदाहरण भी दिये गये हैं।

मानोपलक्षण ये हैं, जिनका सोदाहरण निरूपण हुआ है—अवज्ञान, अत्यादर, विकृत-वीक्षण, अनालोक, असम्भाषण, वाक्पारुष्य, अश्रूद्गम, दीर्घनिश्वास, विलक्षणस्मित, अना-लोक, अत्यन्तानुकूल्य तथा प्रसाधन-अग्रहण।

फिर ये मानोद्दीपन विवेचित हुएहैं—वयस्यावाक्य, विपक्षसन्निधि, सखीवैलक्ष्य, सपत्नी-उपहास, सौभाग्यदर्शन, दाक्षिण्योक्ति, अत्यन्तोपेक्षा, द्रष्टव्य प्रलाप, अपराधस्मरण, विपक्षानुकम्पा, आर्द्रापराधता तथा प्रियानुनय। इन सबके उदाहरण भी दिये गयेहैं। मान-विलासमें मान किये हुई नायिकाकी विभिन्न वक्रोक्तियोंका विवेचन किया गयाहै। मान-मोट्टायित—अतिकटु मानविलास ही मान-मोट्टायित कहा गया है—'विलास एव काक्वादिना अतिवक्रो मानमोट्टायितम्।' मान-सुखानुभव ६ प्रकारके कहे गयेहैं—बहुमत, जिघृक्षित, अनुबन्ध, रक्षित, उपद्रुत, विद्रुत। फिर मानोत्पत्तिकारणोंका निरूपण किया है। तदनन्तर मानोपाधिभङ्ग विवेचित हुए हैं। उपाधियाँ ये हैं - अंग, चक्षुष, चित्त, चाटु, धैर्य कार्य, शक्ति, आकार, देश, काल, पात्र तथा संज्ञा। फिर ये मानभङ्गकारण विवेचित हुए हैं—मद, त्रास, भय ऋतूपगम, उपवनविकास, सुरभितवनवात, कोकिलाद्यालाप, प्रभात, प्रदोष, चन्द्रोदय, प्रवासारम्भ तथा विविक्त। इनको एक पद्य में भी दिया गया है। मानोपशान्तियों का निरूपण (सोदाहरण) इस क्रम से हुआ है—विरोधि-प्रादुर्भाव, प्रतिपक्ष-अभियोग, प्रत्यनीक-घर्षण, विपक्षअभिभव, परिभ्रंश, अवस्रंसन, स्खलन, विघट्टन, उन्मूलन, पलायन तथा पुनर्भाव।

मानोपशमलक्षण इस प्रकार हैं--नयन-निमीलन, मुख-प्रसाद, बाष्प-मोक्ष, पुलकोद्भेद, रोषप्रतिभेद, अक्रमनिन्दा, मनोजुगुप्सा, मानानुशय, मानयोग्य, मानानुयोग । भोजने इनके उदाहरण भी दिये हैं । मानभङ्गोपाधियां इस प्रकार हैं--निद्रा, मद, त्रास, भय, अज्ञान, प्रसंग, प्रमाद, देश, काल, कार्य, पात्र, सुप्त इत्यादि । फिर मानानुभवसौख्य ये हैं—पादपतन, प्रसह्याश्लेष, हठकचग्रह, चुम्बनबलात्कार, प्रियप्रणयोक्ति, उपालम्भासूक्ति, स्नेहपरीक्षा, विपक्षअभिभव, सखीश्लाघा, बन्धुबहुमान, लाभ-विशेष तथा शृङ्गारवृद्धि ।

प्रवासविप्रलम्भ निरूपण – इकतीसवें प्रकाशमें तीसरे प्रकार के विप्रलम्भ 'प्रवास' का सांगोपांग निरूपण किया है । मानके पश्चात् तथा करुणके पूर्व इसकी स्थिति है । प्रेमकी रागवर्धनता तथा विचित्रता भी इसकी इसी क्रममें पड़तीहै ।

विप्रलम्भके पूर्वरागआदि चारोंभेदों में मनकी चार प्रकारकी विभिन्न दशायें या अवस्थायें भी होतीहैं—विक्षेप, विकास, संकोच तथा सक्षेप । फिर प्रवासका लक्षण दिया गयाहै । इस प्रवासके तीन प्रधान प्रकार होतेहैं - देवकृत, धर्मकृत तथा अर्थकृत। तदनन्तर प्रवासके सामान्य एवं विशिष्ट दृष्टिसे, ५२ भेद माने गयेहैं । उनमें सामान्यभेद तो चौबीस हैं – भूतपूर्व, अभूतपूर्व, साधारण, सहजराग, असाधारण, विस्रब्धराग, प्राप्तसमय, अप्राप्तसमय, सप्रतिविधान, निष्प्रतिविधान, सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, सावधि, निरवधि, अल्पकाल, दीर्घकाल संसृष्ट, असंसृष्ट, प्रकाशकृत प्रच्छन्नकृत, सोपसंहार, निरुपसंहार, नायिकानिमित्त तथा नायककृत । और विशेष भेद २८ - चार प्रकार के देवकृत—शाप, पाप सम्भ्रम तथा विभ्रम। चार प्रकार के धर्मकृत—साभिप्राय, निरभिप्राय, सानुताप तथा निरनुताप । चार प्रकार के अर्थकृत—साभ्यनुज्ञा, निरभ्यनुज्ञा, सोपधान तथा निरुपधान । फिर चार प्रकार के देवधर्मापन्न – प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, तथा परिणत । चार प्रकार के देवार्थापन्न – ग्राम्य, नागर, उपनागर तथा विप्रकीर्ण । चार प्रकार के धर्मार्थापन्न—हित, अहित, सुख तथा दुःख । चार प्रकारके देवार्थापन्न—विवृत, आयत, त्र्यस्र एवं चतुरस्र । और इन सबके उदाहरण भी दिये गयेहैं । भोजने प्रवास के इन ५२ भेदों में प्रत्येक की तीन क्रमशः अवस्थाएँ (स्कन्ध) बताईहैं—प्राप्ति (प्रारम्भ) व्याप्ति तथा समाप्ति । फिर इन तीनों अवस्थाओंमें प्रत्येकके आठ प्रकाण्ड कियेहैं । प्राप्तिस्कन्ध की ये अवस्थाएँ हैं—प्रवासाशङ्का—अर्थात् प्रियविप्रयोग-संभावना । प्रवासारम्भ—नायकका प्रियापरित्याग । प्रिय-प्रस्थान—नायकका घरसे बाहर निकलना । प्रियानुगम—सीमान्त तक प्रिया द्वारा प्रेमवश अनुगमन । प्रियाप्रश्न—बिदाके समयके वचन, आलिंगनादि । प्रतिनिवृत्ति—प्रियकी विदाईके अनन्तर प्रियाका वापस आना। प्रवासचर्या—प्रियाका विरह (प्रोषितपतिका रूप में) । इसमें जीवनचर्या का निरुपण भोजने इस प्रकार सविस्तर किया है—देश – स्वकीय, परकीय, स्वकीय-परकीय, अनुभय । काल—साधारण, असाधारण, उल्लेखवान्, अनुल्लेख । कार्य—सामान्यवत्, विशेषवत्, नित्य तथा नैमित्तिक । पात्र—उत्तमादिक, उदात्तादिक, मुग्धादिक, तथा धीरादिक । औचित्य—जाति,

क्रिया, गुण तथा द्रव्य द्वारा। शक्ति—औत्साहिकी, वैशिकी, साहायिकी तथा दैविकी। साधन—उपादान, हेतु, करण एवं अधिकरण। उपाय—स्वाभाविक, प्रायत्निक, सार्वलौकिक तथा यादृच्छिक। सबके उदाहरण भी दिये गयेहैं।

प्रवासवृत्तान्त—यद्यपि यह प्रवासचर्या ही है, किन्तु प्रवासचर्याके ही देशकाल आदि पहलुओंका दूसरी दृष्टिसे व्याख्यान करनेकेलिए इसे पृथक् ही रक्खा है। इसमें देश है—ग्राम्य, आरण्य तथा साधारण। काल—उपक्रान्त, प्रक्रान्त, व्यतिक्रान्त। कार्य—निर्वर्त्य-वृत्तिआदि। पात्र—उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ। औचित्य—स्नेह, उद्योग तथा औत्सुक्य सम्बन्धी। इसमें शक्ति, साधन तथा उपाय का अभाव कहा गया है।

फिर व्याप्तिस्कन्धप्रकाण्डका विवेचन होता है जिसमें ये आठ प्रकाण्ड हैं—वियुक्तस्वरूप, वियुक्तावस्था[1], विरहोद्दीपन, (देश, देशचिह्न, काल, कालचिह्न, वस्तु, वस्तु-चिन्ह, कार्य तथा, कार्यचिन्ह ये आठ हैं। एक अन्य प्रकारसे विरहोद्दीपन ये हैं—स्मरण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चित्तारम्भ, वागारम्भआदि। इनमेंसे प्रत्येकके फिर भेदोपभेद हैं तथा सबके उदाहरण दिये गयेहैं) विरहप्रतीकार, सहायाश्वासन, सहायोपालम्भ, उत्कण्ठाविनोद तथा सन्देशदान—पत्रादिलिखनाआदिका विवेचन होताहै।

इसके अनन्तर समाप्तिस्कन्धके आठकाण्ड कहे गयेहैं—प्रवृत्त्यागम, प्रवृत्तिपरिप्रश्न, अवधिप्रतीक्षा, मार्गोदीक्षण, दैवनिमित्तशकुनोपश्रुति, सुस्वप्नदर्शन, सुनिमित्यनुभव तथा प्रियप्रत्यागम। फिर इनके उपभेदों तथा उदाहरणोंका विवेचन हुआहै।

करुणविप्रलम्भ निरुपण—बत्तीसवें प्रकाशके प्रारम्भमें एक बार फिर कामशृङ्गार की तथा उसके सम्भोग एवं विप्रलम्भ पक्षोंकी चर्चा की गयी है (और यह पुनरुक्ति नवीं बार यहाँ हुई है) करुणविप्रलम्भकी परिभाषा तथा विवेचन के साथ कष्टमय भी उसके प्रेमतत्त्व में स्थान का निरूपण किया गया है।[2] करुणविप्रलम्भ तथा शोकमें कुछ इस प्रकार भेद प्रतिपादित किया गयाहै—

---

१. 'मनसि चिन्ता, अनुस्मरणं च, दृशिप्रजागरः विषयव्यावृत्तिश्च, वक्त्रे लज्जाप्रणाशः उन्मादश्च, वाचि गुणकीर्तनम् विलापश्च, वपुषिकार्श्यव्याधिश्च, चेष्टायां जाड्यं मूर्च्छा च।'

२. कः पुनरयं करुणो नाम ?—कुपितकामिनीपार्ष्णिप्रहार इव (अ) सुकुमारो पि रागिणाम्, तिमिराभिसारिका-वेष इव मलीमसोपि चौर्यरतरुचीनाम् अतीव अनुरज्यते मनः प्रेमसामयिकानाम्।

करुण विप्र०	शोक
रत्येकहेतु	प्रीतिदयाद्यनेकहेतु
पुनः संगमफल	अपुनःसंगमफल
स्त्रीपुंसविषय	अस्त्रीपुंसविषय
सप्रत्याशारूप	निष्प्रत्याशारूप

करुणविप्रलम्भके बारह प्रकार बताये गयेहैं, जो सभी आश्रयकी दृष्टिसे किए गए हैं—देव-आश्रय, पौरुष-आश्रय, देशआश्रय, काल-आश्रय, स्वरूप-आश्रय, परिमाणआश्रय अनुरागआश्रय, सम्भोगआश्रय, विप्रलम्भआश्रय, नायकआश्रय तथा नायिकाआश्रय। फिर इनके और उपभेदोंका तथा उदाहरणोंका विवेचन हुआ है। करुणके विवेचनमें अनुभावोंका सर्वाधिक महत्त्व है। भोजने करुणके अस्सी अनुभाव गिनायेहैं। उन्होंने नाटककी मुख,-प्रति-मुखआदि पांच सन्धियोंको ही करुणकी पांच क्रमिक अवस्थायें बताकर प्रत्येकके १६ भेद कियेहैं। वे इस प्रकार हैं—करुणकी मुख-अवस्था के व्यसनाभिघात, अङ्गाभिभव, चेष्टा सम्मीलन, मोहसमावेश, चेतनाप्रत्यागम, मूर्च्छाविच्छेद, शोकप्रत्यग्रता, शोकावेग, दुःखनिर्यातन, दुःखावसाद, दुःखसन्दीपन, दुःखव्यवहार, दुःखातिवाहन, बाष्पमोक्ष, अवस्थानुभव तथा अवस्थान्तरावेश।

प्रतिमुख अवस्थाके—परिदेवन, अनुशोचन, गुणसंस्मरण, स्वभाग्यगर्हण, विलाप, प्रलाप, प्रविलाप, आत्मनिन्दा, हृदयोपालम्भ, जीवितजुगुप्सा, दैवधिक्कार, शोकोन्माद, दुःख-सम्भेद, सहायापेक्षण, सहायानुनीति तथा (?)

गर्भ-अवस्थाके—सुहृत्परिदेवन, सुहृत्प्रलाप, परिजनानुशोचन, परिजनाक्रन्द, गुरूप-रोदन, गुरुजनविलाप, सहायाक्रन्दन, सहायाभ्युपपत्ति, सहायाभाषण, सहायप्रश्न, साहसाग्रह, मरणाभिनिवेश, सहायाभ्यर्थन, सहायशिक्षा, मरणोपक्रम तथा मरणाध्यवसाय।

विमर्शके—समाश्वासन, उद्धर्षण, प्रतिबोधन, उत्साहन, अनुकम्पन, विप्रलम्भण, प्रलोभन, उपपत्तिदर्शन, प्रश्वासन, सत्यापन, प्रत्यापन, आप्यायन, तन्मतव्याक्षेप, भयोपदर्शन, उपालम्भन, तथा प्रतिकोप।

और निर्वहणके—मरणाध्यवसायविद्रव, शोकतिरस्कार, शोकलाघव, शोकविनोद, तपस्योद्वेग, दैवसम्प्रयोग, त्रिकालदृष्टदर्शन, तदुपदेश, सहायस्वीकरण, तदध्यवसाय, प्रत्यूह-शमन, प्रत्याशानुबन्ध, समयप्रतीक्षा, संविधानकप्रकार, प्रत्युज्जीवन तथा पुनःसमागम फिर इन सबके उदाहरण भी दिये गये हैं।

सम्भोगशृङ्गारनिरूपण—शृ० प्र० के तैंतीसवें प्रकाशसे सम्भोगशृङ्गारका विवेचन चलता है। भोजने, अपनी शैलीके अनुसार प्रायः शब्दोंकी व्याकरणात्मक निरुक्ति करके विस्तृत अर्थ-व्याख्यान कियाहै, क्योंकि वे वैयाकरण भी जो उच्चकोटिके थे। सम्भोगशब्दकी निरुक्ति स० क० में कुछ इसप्रकारसे की गयीहै—इसमें भुज् धातु तथा 'सम्' उपसर्ग है, और

अन्तमें 'घञ्' प्रत्यय जुड़ताहै। इसप्रकार इसशब्दकी निष्पत्तिमें तीन अंश हैं—उपसर्ग, धातु तथा प्रत्यय। और इन तीनोंमें धातुका अपना चार-चार प्रकारका अर्थ है। 'भुज्' धातु विभिन्नगणोंमें चारअर्थोंमें प्रयुक्त होतीहै—पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार (भोजन) तथा अनुभव[1]। 'सम्' उपसर्ग भी चार अर्थोंको द्योतित करताहै—संक्षेप, सङ्कर, सम्पूर्ण तथा सम्यक्[2]। इसकेलिए भोजने पाणिनिसे प्रमाण भी उद्धृत कियेहैं। इसीप्रकार प्रत्ययभाग (घञ् तथा सुप्) के आठ अर्थ निष्पन्न होतेहैं - भाव के, हेतु के तथा ६ कारकों के।[3] फिर प्रत्ययोत्पत्तिकालके भी आठ अर्थ हैं—भूत, वर्तमान, भविष्यत्, व्यक्त, भूतिविशेष, वर्तमान-विशेष, भविष्यद्विशेष, व्यक्तविशेष। इन सबके उदाहरण प्रायः पशु, पक्षी, वृक्षआदि नायका-भासोंसे सम्बन्धित दिये गये हैं। और इसविषयमें उन्हें महाकविकालिदासके कुमारसम्भव तृतीयसर्गसे विपुल उदाहरण मिल गये, जिन पर भोजने अपनी सुन्दर समीक्षायें भी प्रस्तुत कीहैं।[4] इसप्रकार भोजने तिर्यक्-सम्भोग के रूप में सामान्य सम्भोगका विवेचन कियाहै। तदनन्तर उन्होंने नागरिकसम्भोग या विशेष-सम्भोगका विवेचन किया है। सम्भोगके स्थायी आदिका विचार तो उन्होंने पहले ही कर दिया था। सम्भोग चारप्रकारका होता है—विप्रलम्भके चारों प्रकारोंमें प्रत्येकके पश्चात् एक प्रकारका सम्भोग बतायाहै। हर एक प्रकारके वियोगका अवसान संयोगमें ही तो होता है। अतः पहले वियोग तब संयोग। नहीं तो क्या संयोग और क्या वियोग? भोजने धातु-उपसर्गके अर्थोंका विवेचन करते हुए चार विप्रलम्भोंके अनन्तर होने वाले चारों सम्भोगोंका उन-उन वैशिष्ट्योंसहित विवेचन कियाहै। और यह तथ्यतः ठीक है कि पूर्वानुरागके अनन्तर होनेवाले भोगमें संक्षेप और पालनका भाव रहताहै।[5] मान के अनन्तर होनेवाले में सङ्कर एवं कौटिल्य रहताहै।[6] प्रवासके अनन्तर होनेवाले में सम्पूर्ण तथा अभ्यवहार[7], और सम्यक् तथा अनुभवका भाव करुणके अनन्तर होनेवाले सम्भोगमें होता है।[8] फिर उन्होंने इन पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार एवं अनुभवके

१. भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु।
भुनक्तिभुग्नो भूंक्तेऽन्नं भुंक्ते सुखमितीष्यते॥ स० क० ५

२. समा समासे चत्वारो विशेषास्तमुपासते।
संक्षिप्तोऽप्यथ संकीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान्॥ वही ५।८३-८४

३. ततो घ प्रत्यये सति।
भावे वा कारके वापि रूपं संभोग इष्यते॥

४. सैषा पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिभिः। वही ५।७२
दर्शिता कालिदासेन प्रेमप्रस्थान-पद्धतिः॥ वही

५. वही—५।७६, ८५

६. स० क० ५।८०, ८६

७. वही—५।८७ ८. वही—५।८२, ८८

प्रकार बताये हैं—पालन – लब्ध-परिरक्षण, रक्षित-विवर्धन, विवृद्धोपयोग, अलब्धप्रतीक्षा; कौटिल्य—वैपरीत्य, वैयात्य, वैदग्ध तथा वैचित्र्य; अभ्यवहार—श्रद्धा, नितान्त-आसक्ति, पर्याप्तता तथा कृतार्थत्व; अनुभव—समयज्ञान, प्रियाध्यवसाय, कार्यानुष्ठान तथा फलाधिगम। भोजने बतायाहै कि ये पालनआदि वस्तुतः सब प्रेमकी विभिन्न क्रमिक अवस्थायें हैं, जिनसे होकर वह प्रारम्भ होताहै, पनपता है, तथा अन्तमें पूर्णता को प्राप्त करताहै। इस विषयमें पूर्वनिरूपित नायक-नायिकाओंसे सम्बन्धित उदाहरण भी दिये गयेहैं।

शृङ्गारप्रकाशके चौतीसवें प्रकाशमें प्रथमानुरागके अनुसार होनेवाले सम्भोगका वर्णन हुआहै। सरस्वतीकण्ठाभरणमें भोजने संभोगके स्वरूप के विवेचनके पश्चात् उसे चारप्रकारका बताया है—प्रथमानुरागानन्तर, मानानन्तर प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर। शृ० प्र० में पहले तो सम्भोगका व्याख्यान किया है फिर इस प्रथमप्रकारके संभोगके ६४ अंगोंका (भोज को यह ६४ संख्या बहुत प्रिय है भी) विवेचन सोदाहरण किया है—विस्रम्भण, प्रेक्षोदीक्षण, परिहार, परिहारविलास, कन्दुकक्रीड़ा, केलिद्यूत, ऋतुत्रय, (चार) समायात, कालावस्थानुभव, पूर्वाह्निक, मध्याह्निक, अपराह्निक, अस्तमय, सन्ध्यातमस, चन्द्रोदय, ज्योत्स्ना, प्रादोषिक, निशीथ, रात्रिपरावृत्ति, प्राभातिक, वनविहारगमन, वनविहार, पुष्पावचय, श्रमानुभव, प्रच्छायादिसेवा, जलक्रीडा, नेपथ्ययोग, क्रीडापर्वतविहार, एकशाल्मली, नवलतिका, पांचालानुयान, नवपत्रिका, कदम्बयुद्ध, विसरवादिका, इन्द्रोत्सव, कौमुदीप्रचार, यक्षरात्रि, अष्टमीचन्द्रक, कुन्दचतुर्थी, सुवसन्त, सहकारभञ्जिका, दोलाविलास, उदकक्ष्वेडिका, मदनोत्सव, गृहप्रत्यागमन, सहायव्यापार, प्रसाधनग्रहण, गोष्ठीविहार, वास गृहोपागमन, अभिसारिका-प्रतीक्षण, दूतीविसर्जन, स्वयं वा गमन, आगतोपचार, परिचरण, विसर्जन, कञ्चुकादिमोक्ष, रतारम्भ, रत, रतावसान तथा निद्रानुभव। सरस्वतीकण्ठाभरणमें इनमें से कुछ को 'प्रकीर्ण' नामसे उल्लिखित किया गयाहै[1]। इनमें सातवेंसे बारहवेंतकके छः अंग विनष्ट हो गयेहैं। शेष ५८ के दो या तीन या किसीकिसीके चारचार भेदों के उदाहरणतक दिये गयेहैं।

शृ० प्र० के पैंतीसवें प्रकाशमें ही भोजने शेष तीनों प्रकारोंके सम्भोगोंको एकसाथ कह दियाहै। उचित तो यह था कि जैसे प्रथम प्रकारकेलिए एक पूरा प्रकाश दिया, वैसे ही इन तीनोंका भी हिस्सा लगाते। किन्तु ऐसा समझ पड़ताहै कि भरतके नाट्यशास्त्र की भाँति शृ० प्र० को भी भोजने छत्तीस अध्यायोंमें ही सम्पन्न करनेकी योजना बना रक्खीथी। इधर बात बढ़तेबढ़ते चौंतीस प्रकाशतक समाप्त हो गया, अतः अब तीनको एकमें समेट दिया। भोजको १२ संख्या तथा इसका पूरा पहाड़ा पसन्द था, अतः उनके विवेचनमें इन्हीं संख्याओंका प्राधान्य रहताहै। सरस्वतीकण्ठाभरणमें ये विषय प्रायः नहीं ही हैं। यहाँ भोजने पहले तो मानानन्तर सम्भोगआदि शब्दोंमें पहलेकी तरह समासआदिका विचार कियाहै। फिर मान टूटने पर होने वाले इस संयोग में जो-जो वस्तुयें परिलक्षित होतीहैं उनका हवाला

१. स० क० ५।६३-६६

इस प्रकार दिया है—मानशैथिल्य, मानापगमलिंग, मानापह्नव, मानापगम, प्ररोदन, प्रियाभ्युपपत्ति, मुधाप्रतिषेध, परिसान्त्वन, चित्रचाटूक्तियाँ, स्खलितगोपन, प्रणिपात, प्रियोत्थापन, अश्रुप्रमार्जन, मानशेष, अपराधस्मरण, प्रेमवैमनस्य, स्तनोत्कम्प, निश्वसित, स्वेद-रोमांच, कपोलोष्ठस्पन्दन, मुखप्रसाद, व्याजशपथ, वक्रवीक्षित, उपालम्भ, प्रत्युत्तर, अवख्या (ज्ञा) भ्रंश, प्रेमाविर्भाव, प्रेमालिंगन, प्रियोपरोध, शृङ्गारवृद्धि, हठकचग्रह, प्रसह्याश्लेष, पाणिताडन, पादाभिघात, दयितयातना, प्रत्यनुनय, प्रेमैवेकृत, लज्जागम, मानरामणीयक, विस्रम्भसम्भाषण, मानासक्ति, मानप्रतिपादन, सखीपरिहास, मानानुशय, माननिन्दा, मानानुचिन्तन, मानप्रध्वंस तथा मान-अपुनर्भव। ये ४८ अवस्थायें हैं जिनसे होकर मान टूटता है। इन सबके दो-दो या अधिक उदाहरण दिये गयेहैं।

प्रवासानन्तर पदके समासआदि विषयोके विचारके पश्चात् प्रिय की प्रवासस्थितिके समाचार सन्देशका उल्लेख प्रत्येकके दो-दो उदाहरणोंके साथ किया गया है। वे अवस्थायें इसप्रकार हैं— प्रियागमनवार्ता, प्रियसखीवाक्य, दिष्ट्या वृद्धि, प्रीत्यादि, सम्भ्रम, अभ्युत्थान, प्रियाभ्यागम, सन्दर्शन, प्रियाभ्युपपत्ति, परिजनप्रमोद, मंगलसंविधान, मनःप्रहर्ष, उत्सव, भवनप्रतिसंस्कार, कार्श्यादुपलम्भ, प्रहर्षोपचय, प्रेमपुष्टि, प्रसाधनग्रहण, वृत्तानुस्मरण, अवस्थानिवेदन, दुःखादिपरिप्रश्न, देशसम्पदुपवर्णन, स्वदुःखसंकीर्तन तथा शृङ्गारवृद्धि। इस प्रसंगका अवसान तथा अग्रिम प्रसंगकी अवतारणा करतेहुए भोज कहते हैं— प्रवासानन्तरो प्येष संभोगः समुदाहृतः। करुणानन्तरस्याथ प्रपञ्चः परिकीर्त्यते।

तदनन्तर पहले करुणानन्तर पदमें समासआदिकी मीमांसाकी फिर करुणविप्रलम्भके बादसे पुनःप्राप्तितक की २४ अवस्थाओंका निरूपण किया, जो इस प्रकार हैं—प्रियसन्दर्शन, सम्भ्रमाकुलता, प्रमोदवृद्धि, चित्तविस्मय, प्रियाभिभाषण, जीवितेशतिलज्जा, प्रियोपच्छन्दन, सुहृद्अपेक्षा, वृत्तान्तकथन, विस्रम्भोत्पत्ति, इतिकर्तव्ययोग, बान्धवागम, प्रियजनाभ्युपपत्ति, गुरुजनस्नेह, ज्ञातिअभिनन्दन, भाग्यप्रशंसा, नेपथ्यादिग्रहण, पुरप्रवेश, नागरिक-क्षोभ, गृहोपगमन, उत्सवानुभव, दयितसाहचर्य, शृङ्गारपुष्टि तथा सौख्यपरम्परा, इनमें भी प्रत्येक के दो-दो उदाहरण दिये गयेहैं।

शृङ्गारप्रकाशके अन्तिम अध्याय, छत्तीसवेंप्रकाशमें पूर्वके अध्यायों में जिन चारप्रकार के सम्भोगोंका वर्णन किया गयाहै, उनकी भी चार अवस्थाएँ बताई गयीहैं, जो इसप्रकार हैं—सत्ता, अभिव्यक्ति, अनुबन्ध तथा प्रकर्ष। नायक-नायिकाके मिलन पर रतिस्थायीभावके प्रारम्भमात्रको 'सत्ता' अवस्था कहा गयाहै। 'अभिव्यक्ति' वह अवस्था है, जिसमें इस रतिस्थायीका अपने विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावके साथ संयोग होताहै। 'अनुबन्ध' वह अवस्था है, जिसमें अभिव्यक्त रतिका नैरन्तर्य चलताहै, और जिसमें तदनुकूल वस्तुओंका संग्रह तथा प्रतिकूलका परित्याग होताहै। 'प्रकर्ष' वह अवस्था है जिसमें रति भावकी परिणति शृङ्गार रसके रूपमें होजाती है। इन चार अवस्थाओंमें 'सम्' उपसर्गके चारों अर्थ भी क्रमशः

गोचर होतेहैं—'सत्ता'में भोग संक्षिप्त होता है। इसीप्रकार अभिव्यक्तिमें 'संकीर्ण', 'अनुबन्ध' में सम्पूर्ण तथा 'प्रकर्ष'में सम्यक् होताहै।

तदनन्तर यहाँ सम्भोगके पूर्वोल्लिखित 'सामान्य' एवं विशेष' रूपोंका सोदाहरण पुनरुल्लेख किया गयाहै। पहले सामान्यका विवेचन हुआहै फिर विशेषका। विशेषके संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण तथा सम्यक् अवस्थाओंमें प्रत्येक के १२ भेद होतेहैं—जैसे, 'सत्ता'के संक्षिप्त अवस्थामें १२ प्रकारके राग होतेहैं—सात्त्विक नायकके चार प्रकारके राग—हरिद्राराग, रोचनराग, काम्पिल्यराग तथा रीतिराग। रजोगुणके नायकके चार राग—कुसुम्भराग, लाक्षाराग, अक्षीबराग तथा माञ्जिष्ठराग। तामसनायकके चार राग—कर्दमराग, कषायराग, सकलराग, तथा नीलीराग।

अभिव्यक्ति तथा संकीर्णमें प्रेमके बारह प्रकार होतेहैं—आवृत्तव्याज, अनुवृत्तव्याज, परिणतव्याज, अध्याहृतव्याज, कृत्रिमव्याज, अपेक्षितव्याज, अन्तरव्याज, बहिर्व्याज, उभयव्याज, बहुव्याज, निर्व्याज तथा सर्वव्याज—इनके उदाहरण भी दिये गयेहैं। अनुबन्ध तथा सम्पूर्णमें भी प्रेमके १२ प्रकार होतेहैं—धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध, धर्मानुबन्ध, अधर्मार्थो (?) इसका शेष अंश विनष्ट हो चुका है। साथ ही प्रकर्ष और सम्यक् अवस्थाका भी प्रेमप्रकार-विनष्ट हो गयाहै। ये प्रकार 'प्रेमपाक' कहे गयेहैं। आगे जो अंश सुरक्षित हैं उसमें पिचुमन्दपाक, कपित्थपाक, क्रमुकपाक और खर्जूरपाकका उल्लेख हुआ है, जो संख्या में चार हैं। यहाँ शृङ्गारप्रकाश का जो अंश विनष्ट हो गया है उसकी पूर्ति स० क०के आधारपर कुछ इसप्रकार होतीहै कि वे मृद्वीकापाक, नारिकेलपाक तथा आम्रपाक रहे होंगे। शेष पाँचका तो वहाँ भी उल्लेख न होनेसे कुछ भी नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता है। इसप्रकार महाराज भोज इस प्रसंगके साथ कामशृङ्गारकी प्रशंसा करते हुए अपने ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाशकी इन शब्दोंके साथ समाप्ति करतेहैं—

> तदेतत्काव्यसर्वस्वं तदेतत् काव्यजीवितम्।
> य एष द्विप्रकारो पि रसः शृङ्गारसंज्ञकः॥

मम्मटने शृङ्गारके दो प्रधान भेद सम्भोग तथा विप्रलम्भ मानेहैं। उन्होंने ध्वनिकार के अनुसार सम्भोगप्रकारकी अनन्तता मानते हुए भी उसे एक ही नामसे अभिहित कियाहै। मम्मटने विप्रलम्भको पाँच प्रकारका बतायाहै—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शापरूप हेतुओंसे।[1] यहाँ उनका विवेचन विप्रलम्भके हेतुओंकी दृष्टिसे हुआहै। अतः इनको क्रमिक भी नहीं समझना चाहिए। किसी अवस्थामें इनमें कोई विप्रलम्भ हो सकताहै। और इस दृष्टिसे विभाग वस्तुतः अत्यन्त मनोवैज्ञानिक हुआहै। यदि पूर्वरागआदि प्रसिद्ध चार प्रकारोंके साथ इन पाँचोंकी समीक्षा कीजाय तो प्रतीत होगा कि पूर्वरागके स्थानपर

---

१. अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।—का० प्र० च० उ०

अभिलाष होसकताहै। मानके स्थानपर ईर्ष्या-प्रवास कहा ही गया है। केवल इसमें विरह एक नवीन प्रकार है तथा करुणको हटा दिया गयाहै और शाप एक नया प्रकार सम्मिलित कर लिया गयाहै। करुण-विप्रलम्भ शृङ्गारमें प्रायः शाप एवं वरदानका तत्त्व अवश्य रहताहै, अतः करुण न कह कर मम्मटने शाप ही कहा, और यह उचित भी है। करुण शब्दके प्रयोगसे व्यर्थकेलिए शोक-मूलक करुणरसके साथ भ्रम पैदा होजाताहै। फिर इनके सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये गयेहैं।

हेमचन्द्रने शृङ्गारके संभोग, विप्रलम्भ इन भेदोंको उसी प्रकारका मानाहै जैसे गोत्वके शाबलेय, बाहुलेय भेद (शृङ्गारस्येमौभेदौ गोत्वस्येव शाबलेयबाहुलेयौ—का० अनु०)। आगे उन्होंने बतायाहै कि एकमें दूसरेकी सत्ताकी चेतना बनी रहती है, बल्कि इसीके कारण वह वर्तमान दशा प्रिय होतीहै[1]—हेमचन्द्रने इन भेदोंके भी लक्षण कियेहैं—जैसे संभोग वह है, जिसमें प्रेमीजन लज्जादिसे निषिद्ध होती हुई भी अपनी अभीष्ट दर्शनादिक्रियाओंका सम्यक् भोग करतेहैं। यह सम्भोग सुखमय धृत्यादि व्यभिचारीभावोंके द्वारा रुचिमय बनता हुआ तथा रोमाञ्चस्वेदादि वाचिक, कायिक, मानसिक व्यापार रूपी अनुभावोंसे युक्त होकर परस्परावलोकनालिङ्गनचुम्बनादि अपरिमित भेदोंवाला होताहै। (का० अनु० पृ० ८४)

विप्रलम्भ उसे कहते हैं, जिसमें सुखास्वादके लोभसे आत्माको विशेषरूपसे प्रलब्ध (वञ्चित) किया जाता है। इसमें शङ्का-औत्सुक्यादि व्यभिचारी तथा संतापजागरादि अनुभाव होतेहैं। हेमचन्द्रने विप्रलम्भके तीन ही भेद मानेहैं—अभिलाष, मान तथा प्रवासरूप।[2] उन्होंने करुणविप्रलम्भभेद नहीं मानाहै, उसे करुण ही कहाहै।[3] इसमें अभिलाष भी दैवयोगसे तथा परवशरूपसे दो प्रकारका होताहै।[4] प्रतिज्ञाभङ्गके भयसे भी जो संयोग नहीं होपाता, जैसे कादम्बरीका चन्द्रापीडके साथ, उसे भी पारवश्यज ही (अभिलाष) विप्रलम्भ कहेंगे।[5] प्रणय और ईर्ष्याके कारण मानविप्रलम्भ होताहै (प्रणयेर्ष्याभ्यांमानः)। प्रेमपूर्वक वशीकरणको प्रणय कहतेहैं। उसके भङ्ग होने पर मान प्रणयमान है, और वह भी स्त्री-पुरुष अथवा दोनों का होता है।[6] जबकि ईर्ष्यामानकेवल स्त्रीका होताहै।[7] प्रवास कहतेहैं दोनों प्रणयियोंका

---

१. अतएव तद्दशाद्वयमीलन एव सातिशयश्चमत्कारः—का० अनु०, पृ० ८३
२. 'सच······त्रिधा अभिलाषमानप्रवासभेदात्—वही, पृ० ८५
३, करुणविप्रलम्भस्तु करुण एव—वही, पृ० ८५
४. दैवपारवश्याभ्यामाद्योद्वेधा—वही, पृ० ८६
५. प्रतिज्ञाभङ्गभीत्यापि यो न सङ्गःकादम्बर्याश्चन्द्रापीडेन, सोपि पारवश्यज एव।
—वही, पृ० ८७

६. प्रेमपूर्वकोवशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गे मानः प्रणयमानः।
सच स्त्रियाः पुंसः उभयस्यवा—वही, पृ० ८७
७. ईर्ष्यामानः स्त्रीणामेव······। वही

पृथक्पृथक् देशमें स्थित होना।[१] यह कार्य, शाप तथा संभ्रमके कारण होताहै।[२] इनमें सम्भ्रम कहतेहैं दैवी या मानुषी विप्लवोंके कारण व्याकुलताको।[३]

शारदातनयने शृङ्गाररसको तीन प्रकारका बताया है--वाचिक, नैपथ्यात्मा तथा क्रियात्मा।[४] संसारमें जिस भाव अर्थात् वस्तु अथवा पदार्थके सम्बन्धमें जो रस उत्पन्न होता है, उसे उसीके नामसे जाना जाता है।[५] जिसमें भावपूर्ण, मधुर, नर्मपेशल, श्रवणोंको आनन्दित करने वाले सुन्दर छन्द (सुवृत्त) हों उसमें वाचिक शृङ्गार माना जाताहै।[६] जिसमें यौवनभूषित अंग, सुन्दरवस्त्र, अंगराग, आभूषण, एवं माल्यआदिसे सुशोभित हों उसे आङ्गिक शृङ्गार कहतेहैं।[७] जिसमें दन्तच्छेद्य, नखच्छेद्य, भणित, सीत्कार, चुम्बन, चूषण-आदिभाव, हेलाआदि केलियां शयनाधरपानादि उपचार, संगीतआदिका आयोजन हो उस शृङ्गारको क्रियात्मक शृङ्गाररस कहतेहैं।[८]

धनञ्जयकी भाँति शारदातनयने भी शृङ्गाररस को तीन प्रकार का बतायाहै—वियोग, अयोग तथा संभोग।[९] और सर्वप्रथम अयोग का लक्षण कियाहै—विभावआदिसे परस्पर उद्भूतराग होकर भी जो युवक-युवतियों का मिलननहोसके उसे अयोग कहतेहैं। (यह अन्य आचार्योंका पूर्वराग विप्रलम्भ ही कहा जा सकताहै[१०])। इस 'अयोगमें नायक-नायिका दोनोंकी दस अवस्थायें होतीहैं।[११] इसमें दोनोंकी परस्पर देखादेखी साक्षात्, चित्र, स्वप्न, छाया, अथवा माया (जादू) आदिसे होतीहै।[१२] और यह कोई आवश्यक नहीं कि अयोगके वर्णनमें इन दसों अवस्थाओंका वर्णन किया ही जाय। महाकवियोंके प्रबन्धों में

---

१. प्रवासोभिन्नदेशत्वम्—का० अनु०

२. कार्यशापसंभ्रमैः प्रवासः—वही पृ० ८८

३. सम्भ्रमो दिव्यमानुषविद्वरादुत्पातवातादिविप्लवात् परचक्रादिविप्लवाद्वाव्याकुलत्वम्।
—वही

४. शृङ्गारो वाचिकः कश्चिन्नैपथ्यात्मा च कश्चन।
क्रियात्मा कश्चिदित्येवं शृङ्गारस्त्रिविधःस्मृतः॥ भा० प्र० ३।६४

५. येन येन च भावेन यादृटशोजायते रसः। तत्तद्भावाख्ययासद्भिर्बोध्यतेतादृशो रसः॥वही

६. वही ३।६४

७. वही ३।६४

८. वही ३।६५

९. वियोगायोगसंभोगैः शृङ्गारो भिद्यते त्रिधा।' वही ४।८५

१०. भा० प्र० ४।८५

११. अस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि। वही ४।८५

१२. साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायागुणादिभिः।
नायिकायाः नायकस्य दर्शनं स्यात् परस्परम्॥ भा० प्र०४।८५

इनके यथासम्भव अनेक रूप दिखाई पड़तेहैं।[१] फिर प्रथमतः सम्भोग सुखमें लीन युवक-युवतियोंका अलग हो जाना वियोग कहलाता है, जो दोप्रकारका होता है—मानकृत तथा प्रवासकृत[२]। मान भी दोप्रकारका होताहै—प्रणयमान तथा ईर्ष्याकृतमान। जब दोनों परस्पर कोपसे झल्लाते हैं तो वह प्रणयमान कहलाता है, और जब प्रिय किसी अन्य नायिकाका संग करता है तो पूर्व स्त्रीको ईर्ष्यामान होताहै।[३] अन्यासङ्ग भी अनुमान द्वारा, प्रत्यक्ष तथा सुननेसे जाना जाताहै। अनुमान तीन प्रकार से लगता है—गोत्रस्खलन से, भोगचिह्न देख कर तथा स्वप्न में बड़-बड़ाने से। प्रत्यक्ष तो साक्षात् स्वयं अपनी आँखोंसे देखा होताहै और सुनना दासी सखी आदिके मुखसे होताहै। मानको दूर करनेके लिए वेही प्रसिद्ध उपाय गिनाये गये हैं—साम, दान, भेद, नति, उपेक्षा तथा रसान्तर।

भिन्न देशमें रहना प्रवास कहलाताहै। शापवश, बुद्धिपूर्वक तथा घबड़ाहटके कारण वह प्रवास तीन प्रकारका माना गयाहै। बुद्धिपूर्वक प्रवास तीनों कालोंके अनुसार भावी, भवन्, भूत, तीनप्रकारका होताहै। शापवश वह है, जिसमें स्वरूपआदि ही बदल जाते हैं, तथा सम्भ्रम या घबड़ाहट के कारण वह प्रवास है, जो दैवी या मानवी उत्पातोंके कारण होताहै।[४]

करुणविप्रलम्भ—करुण विप्रलम्भके विषयमें अपना मत देते हुए शारदातनय कहते हैं कि कुछ आचार्योंने वियोगका एक प्रकार मरण भी मानाहै। किन्तु वह सम्भव नहीं, क्योंकि (नायक-नायिकामें) एकके मरनेपर जब दूसरारोता-धोता है तो वह तो शोक ही हुआ[५]। वहाँ रति कहाँ? हाँ, यदि मरणमें प्रत्युज्जीवनकी आकांक्षा बनी रहे तो वह वियोगके दुःखोंके समान ही दुःखों वाला माना जाताहै।[६] (अतः वियोगमें ही उनकी गणना हो सकती है।)

संभोग शृङ्गार तथा उसके भेद—सम्भोग शृङ्गार नायक-नायिकाके परस्पर स्पर्श-विशेषआदिके अनुसार चारप्रकारका बताया जाताहै। इस सम्भोगरूप काममें सौख्य,

---

१. भा० प्र० ४।८५

२. वही ४।८५

३. वही ४।८६

४. वही ४।८६

५. वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत्। मृते त्वन्यत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः॥
वही ४।८६

६. मरणंयदि सापेक्षं प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया। तद्वर्ण्यते वियोगोत्थदुःखसाधारणात्मकम्॥
वही ४।८७

अभिमान, संकल्प एवं फलवत्ता रहतीहै । अतः इनसे युक्त इसके क्रमसे मित, संकर, सम्पन्न तथा समृद्धिमान् भेद होतेहैं [१] । ये भेद भोजके अनुसार चार विप्रलम्भोके पश्चात् होनेवाले चार सम्भोगके अनुकरण पर किये गये हैं । इनमें परस्पर साध्वसआदि उपचारोंके कारण जो नायिका-नायकका प्रथम मिलनमें सीमितता या बन्धन रहता है उसे मित कहते हैं[२] । जब (मान भंग होनेपर) प्रसन्नताकी ही स्थितिमें व्यलीक (असत्य, अहित, वंचना) आदिका स्मरण आजानेसे कुछ कोप आजाताहै, तो उस सम्भोग को संकर कहते हैं ।[३] प्रवास भोग कर लौटे प्रेमी जब परस्पर मिलकर सम्पन्न-काम होते हैं तो उस सम्भोगको सम्पन्न कहते हैं ।[४] और प्रेमीके पुनः जीवित होनेसे जो उनका हर्ष अतिशय उद्दीपित होता है, उसे समृद्धिमान् कहते हैं । [५]

सम्भोग शृङ्गारकी विशिष्ट चेष्टायें (अनुभाव) चुम्बन, आलिङ्गन आदि हैं, तथा स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, साध्वसआदि [६] (सात्त्विक) विकार हैं । उसीप्रकार वियोगमें शीतलोपचार, चिन्ता, निःश्वासआदि चेष्टायें तथा स्तम्भ, वैस्वर्य, कम्प, अश्रु, मूर्च्छाआदि विकार होतेहैं । [७]

वियोग में बारह मन्मथावस्थायें—शारदातनयका कहनाहै कि परस्पर अनुरक्त युवक-युवतियोंका मिलन न होनेपर (अर्थात् वियोग-अवस्थामें) दस या बारह प्रकारकी मन्मथावस्थायें होतीहैं ।[८] वे ये हैं—इच्छा, उत्कण्ठा, अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणस्मृति, उद्वेग, प्रताप, उन्माद, व्याधि, जाड्य तथा मरण । इनमें अन्तिम दोका वर्णन कुछ आचार्योंने मना किया है ।[९] पूर्वमें देखे एवं संश्लिष्ट हुएकी गुणसम्पत्तिसे मनकी स्पन्दन-प्रवण्ता (झुकाव) को इच्छा कहा है ।[१०] जिससे सभी इन्द्रियोंमें सुखानुभूतिकी भावना होतीहै, विभिन्न सङ्कल्पोंसे पूर्ण उसके प्राप्तिकी इच्छाको उत्कण्ठा कहा गयाहै ।[११] उत्कण्ठाजन्य भावोंका भी शारदातनयने इसी प्रसंगमें उल्लेख कर दियाहै - मनमें सम्भोगके सङ्कल्प (तरह-तरह के विचार) होतेहैं । उसका रास्ता देखतेहैं । अङ्गों में शैथिल्य रहताहै । मनस्नेहसे भरा रहताहै । तरह-तरहसे मनोरथोंमें डूबते उतराते रहतेहैं । घुटनों पर या हाथपर कपोलों को रखते हैं । मुखका वर्ण प्रसन्न रखतेहैं । स्वेदकी गर्मी बनी रहती है, तथा वाणी गद्गद् निकलतीहै ।[१२]

---

१. सौख्याभिमानसंकल्पफलवान् काम इष्यते ।
समितः सङ्करश्चेतिसम्पन्नश्च समृद्धिमान् ॥ भा० प्र० ४।८७

२. वही ४।८७ ३. वही ४।८७
४. वही ४।८७ ५. वही ४।८७
६. वही ४।८७ ७. वही ४।८७

८. तैस्तैरुपक्रमैर्यूनोरक्तयोश्चेदसङ्गमे ।
दशधा मन्मथावस्था भवेद्द्वादशधा थवा । वही ४।८८

९. वही ४।८८ १०. वही ४।८८

११. सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते ।
तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठांकवयो विदुः ॥ वही ४।८८ १२. वही ४।८८

संकल्प तथा इच्छा उत्पन्न व्यवसायके साथ जो प्रियसे मिलनेका उपाय है उसे अभिलाष कहतेहैं ।[1] अभिलाषसे ये भाव (अनुभाव तथा सात्त्विकआदि) उत्पन्न होतेहैं । 'कभी भीतर जाना, कभी बाहर रास्तेमें निकल जाना, प्रियके दृष्टिपथमें रहते हुए विविध काम-चेष्टायें करना, अपनेको सजाना तथा कहीं अकेली ही रहनाआदि ।[2] प्रिय किस उपायसे प्राप्त हो, वह केवल मेरा ही होकर कैसे रहे, वह क्या कहेगा, मैं उसे क्या कहूँगी, दूतआदि भेजूं क्या, उससे क्या प्रयोजन, आदि प्रकारके हृदयके वितर्क चिन्ता कहलातेहैं ।[3] मान्मथी चिन्तामें नायिकाके ये भाव या चेष्टायें होती हैं—मेखलाआदि पहिनती है, फिर अपने ही हाथों (प्रियकी भाँति) उसे अदाके साथ छूतीहैं, अपनी ही जांघों एवं नाभिका (उसीप्रकार) स्पर्श करतीहै, नीवीको (प्रियकी भाँति) ढीला करतीहै, फिर स्वयं बाँधतीहै, आखोंमें आंसू उमड़ते रहते हैं, नेत्र अर्धोन्मीलित तिरछी पुतरियोंवाले (आकेकर) रहतेहैं, बिना किसी लक्ष्यके भीतर-बाहर आगे-पीछे देखा करती (आँखें दौड़ाती) हैं।[4]

किसी देश या किसी कालसे सम्बन्धित सुख या दुःखके अनुभूत भावोंका मनसे ध्यान करना स्मृति कहलातीहै ।[5] इस मान्मथी स्मृतिमें ये चेष्टायें (भाव) होतीहैं—ध्यान करना, लम्बी सांसें लेना, चिड़चिड़ाना (द्वेष्टि), किसी भी दूसरे कामको बुरा कहना, न खाना, न नींद लेना और न कहीं प्रसन्नताका अनुभव करना ।[6] जब रूप, उदारता, गुण, लीला, चेष्टा, हास, विलास, सौन्दर्य, आलाप, माधुर्य आदिमें उन-जैसा दूसरा पुरुष नहीं, इस प्रकार प्रियकी प्रशंसा की जातीहै, तो उसे 'गुणस्तुति' कहते हैं । गुणस्तुतिमें इसप्रकार मान्मथीचेष्टायें होतीहैं—धीरे-धीरे गुणोंको गिनतीहै, भावभीनी नज़रोंसे देखतीहै, रोमांच होआताहै, वाणी गद्गदरहती है, कपोलोंपर स्वेदोद्गम होआताहै, दूती द्वारा विस्रम्भ-निवेदन किया जाताहै प्रियसे समागमकी चिन्ता बनी रहतीहै ।[7] क्रोध, शोक, भयादिके कारण मनके कम्पन (अस्थैर्य)—को 'उद्वेग' कहते हैं । इस मान्मथ, उद्वेगमें निःश्वास, उन्निद्रता, चिन्ता, स्तम्भ, विवर्णता, तथा अश्रु आते रहतेहैं । शयनासनमें मन नहीं लगता, हृदयमें कचोट (हृल्लेख) उठतीहै तथा मनमें दीनता (उत्साहहीनता) बनी रहतीहै ।'यहाँ देखा था' 'यहाँ आलिंगन किया था, यहाँ आयेथे, यहाँ खड़ेरहे, यहाँ आनन्द लियाथा, 'यहाँ लेटेथे' यहाँ अलंकार किया था इत्यादिप्रकारके वाक्य कहना 'प्रलाप' कहलाताहै । इस मान्मथविलापमें कुछ इस प्रकारकी चेष्टायें देखी जातीहैं —भीतर-बाहर, आगे-पीछे, दूरसे समीपसे कहीं देखतीहै, कहीं जातीहै, कहीं रुक जातीहै, कहीं बैठ जातीहै, कहीं लेट जातीहैं, कहीं निन्दा करतीहै, कहीं प्रसन्नता प्रकट

१. भा० प्र० ४।८८

२. वही ४।८८

३. वही ४।८८,८९

४. वही ४।८,८८९

५. सुखदुःखादिभावानां देशकालानुषङ्गिनाम् ।
अनुभूयातिवृत्तानां विमर्शो मनसास्मृतिः ॥ वही ४।८९

६. भा० प्र० ४।८९

७. वही ४।८९

करतीहै, गली-कूचेमें चिल्लातीहै, घूमती है।[१] जो 'उन्माद' विरहजन्य होता है उसमें 'अतद्'में 'तद्' का दुराग्रह होताहै। सभी दशाओंमें सर्वत्र, सर्वथा तथा सर्वदा मन प्रियमें ही लगा रहताहै। उसीकी चर्चामें उसे आह्लाद मिलताहैं। अन्य इष्ट वस्तुओंसे भी चिढ़ती है। बारबार लम्बी आहें भरना, बिना पलकें गिराये खड़ी रहना, विहारकी वेलामें रोना, चिल्लाना, ध्यान करना, गाना रुचि लेना, हंसना, प्रशंसा करना और फिर बेहोश होजाना उसकी स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं।[२] काम्य-द्रव्यों द्वारा विलोभन और किसी कारण भेजे गये भी उन द्रव्योंका अपमान होनेसे जो अभीष्ट (प्रिय) का मिलना नहीं होपाता उससे 'व्याधि' उत्पन्न होतीहै। इस मान्मथ-व्याधिमें मोह, अंगदाह, सन्ताप, शिरःशूल, वेदना, मुमूर्षा जीवनके प्रति उपेक्षा, लड़खड़ाना, पलकोंका गिरा रहना, आहें, स्तम्भ, परिदेवना आदि चेष्टाएँ देखी जातीहैं।[३] सदा सभी प्रकारके कार्योंमें चेतनाका न रहना जाड्य कहलाता है। इष्ट, अनिष्टको न जानना, सुख-दुःखका अनुभव करना, पूछनेपर कुछ उत्तर न देना, न देखना, 'हाय-हाय' करते रहना, 'हूँ-हूँ' करना, अङ्गोंमें शैथिल्य आना, कृशता, वैवर्ण्य, निःश्वास, स्तम्भ, स्पर्शके प्रति अनभिज्ञता—ये मान्मथ 'जाड्य' की चेष्टायें गिनाई गईहैं।[४] इन पूर्वोक्त (एकादश) अवस्थाओं तकमें किये गये प्रतीकारों (उपायोंसे) भी यदि दोनों प्रिय परस्पर मिल न सके तो काम (प्रेम)-अग्निमें जले हुए उनका 'मरण' ही होताहै। किन्तु इससे अमंगल हो जाताहै अतः प्रेमियोंके मरणकी कल्पना नहीं कीजातीहै।[५] इस प्रकार देशकालगुण तथा चेष्टाद्वारा श्रृङ्गाररसका उत्कर्ष, सम्पत्ति, वृद्धि तथा पुष्टि होतीहै।[६]

सम्भोगविवेचन—और इन पूर्वोक्त सारे विवेचनोंका उपयोग बताते हुए शारदातनय कहतेहैं कि 'स्थिर अनुरागवाले प्रेमियोंकी इस प्रकारके विनोदों एवं परस्पर उपचारोसे सम्भोगश्रृङ्गारकी पुष्टि होतीहै।[७] फिर भोजके अनुसार सम्भोग शब्दकी व्युत्पत्ति, तथा उसके प्रकारआदिका विवेचन हुआहै। भुजि धातु चार अर्थों में प्रयुक्त होतीहै—पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार तथा अनुभूति। अतः सम्भोग भी चार प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त होताहै, जो क्रमसे अनुराग, मान, प्रवास और करुण—इन चारप्रकारके विप्रलम्भोंके पश्चात् एक-एक कर के होताहै, और उसका नाम क्रम से, 'मित', 'सङ्कर', 'सम्पन्न' तथा 'समृद्धिमान्' दियाजाता[८] है। इनके लक्षणआदि भी भोजके ही अनुसार कियेगयेहैं।[९]

विश्वनाथके श्रृङ्गारके भेदोंके विवेचनमें कोई वैशिष्ट्य नहीं हैं। पूर्वरागवर्णनमें विश्वनाथका मत है कि पहले तो नायिकाकी ओरसे प्रेमका वर्णन किया जानाचाहिए, फिर

---

१. भा० प्र० ४।६०
२. वही ४।६०
३. वही ४।६०
४. वही ४।६०
५. वही ४।६१
६. वही ४।६१
७. भा० प्र० ६।१३८
८. वही ६।१३८
९. वही ६।१३९

उसके संकेतोंसे पुरुषका उसके प्रति प्रेम वर्णित किया जाय।[1] यह पूर्वराग तीनप्रकारका हुआ करताहै[2]—नीलीराग, कुसुम्भराग और मंजिष्ठा-राग। भावप्रकाशकार ने तो पूर्वराग के नहीं अपितु राग के ही ये तीन प्रकार बताये हैं। राग वह प्रेम-प्रकर्ष है, जो दो हृदयों को परस्पर इस प्रकार एक रंग में रंग देता है कि वे जीवनके सभी सुखदुःखात्मक भोग्यों को सुख रूप ही मानने लगते हैं। ऐसा प्रेम जब चित्तमें दीप्त होताहै तो उसे राग कहते हैं। उसके नीली, कुसुम्भ, और मंजिष्ठा तीन प्रकारहैं। विश्वनाथने सम्भवतः वहींसे लेकर उसे केवल पूर्वरागसे सम्बन्धित कर दियाहै। भावप्रकाश ने मञ्जिष्ठाराग को श्रेष्ठ, नीलीराग को मध्यम तथा कुसुमम्भराग को अधम बतायाहै।

ज्येष्ठो मञ्जिष्ठारागः स्याद् नीलीरागस्तुमध्यमः।
कुसुम्भरागः कविभिरधमः परिकीर्तितः॥

जिस प्रेममें बाहरी चमक-दमक तो बहुत न दिखायी पड़े, किन्तु जो हृदयसे कभी न हटे, वह नीलीराग कहा जाता है, जैसे राम और सीताका।[3] जिस प्रेममें बाहरी चमक-दमक तो बहुत हो, किन्तु हृदयसे वह हट भी जाय उसे कुसुम्भराग कहतेहैं।[4] और तीसरे प्रकारका प्रेम है मंजिष्ठा राग, जो बाहरदिखावेमें भी खूब आवे और हृदयसे कभी हटेभी न।[5]

मान (विप्रलम्भ) का अर्थ है (प्रणय) कोप। वह दो प्रकार का होता है, प्रणय-समुद्भव मान तथा ईर्ष्यासमुद्भवमान।[6] प्रणयमानका अर्थ है बिना किसी कारणके रूठ-जाना। प्रेमकी चाल ही टेढ़ी होतीहै। दोनों प्रेमियोंके हृदयमें परस्पर अतिशय प्रेमके रहने पर भी ये नखरे हुआ ही करतेहैं। यही मान विप्रलम्भ कहलाताहै।[7] पतिकी अन्य नायिकापर आसक्ति देखकर, अनुमानकर अथवा सुनकर जो नायिका का प्रणयकोप होताहै उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।[8] विश्वनाथने मान-भंगके उपाय भी पूर्व आचार्योंकी भांति ६ बताये हैं—साम, भेद, दानआदि।

---

१. आदौवाच्यः स्त्रियारागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः। सा० द०
२. नीली कुसुम्भं मंजिष्ठा पूर्वरागो पि च त्रिधा। वही
३. न चाति शोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः॥ वही ३।१९६
४. कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते। सा० द० ३।१९७
५. मंजिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते। वही ३।१९
६. मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः॥ वही ३।९
७. द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपोयः कारणं विना॥ वही ३।१९८-९९
(प्रमोदे प्रेम्णि—तर्कवागीश)
८. पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमितेश्रुते।
ईर्ष्यामानोभवेत् स्त्रीणां तत्रत्वनुमितिस्त्रिधा॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा॥ वही ३।१९९-२००

उन्होंने प्रवास भी कार्य, शाप एवं सम्भ्रमवश तीनप्रकारका बतायाहै। प्रवासमें प्रेमकी एकादश अन्तर्दशाएँ या अवस्थाएँ बताईहैं। वे इस प्रकार हैं—अङ्गअसौष्ठव ताप, मूर्छना, कृशता, अरुचि, अधीरता, अनालम्बनता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छना तथा मृति।[१] इन तीनप्रकारके प्रवासोंमें कार्यवश होनेवाला प्रवास भी तीनप्रकारका होताहै—भावी, वर्तमान तथा भूत, क्योंकि कार्य-विषयक विचार भविष्य, वर्तमान तथा भूत तीनों कालों में सम्भव है।[२]

पूर्वरागके सम्बन्धमें जिन अभिलाषआदि दस मदनदशाओंका तथा प्रवासके सम्बन्धमें जिन अंगासौष्ठवआदि ग्यारहदशाओंका अलग-अलग उल्लेख किया गयाहै, उनके विषयमें कोई ऐसा कठोरनियम नहीं समझनाचाहिए, क्योंकि पूर्वराग वाली दशा प्रवासमें भी देखी जातीहै और प्रवासवाली पूर्वरागमें भी। (वस्तुतः दोनों महादशाओंमें बहुत कुछ साम्य भी तोहै।) विश्वनाथने यहाँ पृथक् विवेचन करनेमें केवल प्राचीन परम्पराका निर्वाहमात्र किया है।[३]

जब प्रियतम या प्रेयसीमेंसे कोई एक दिवंगत होजाताहै, किन्तु उसके पुनरुज्जीवित होनेकी आशा या आश्वासन रहताहै, उस समय जो दूसरा (रतिलियेहुए) खिन्न रहताहै, उसे करुण विप्रलम्भ कहतेहैं।[४] जैसे 'कादम्बरीमें' पुण्डरीक-महाश्वेतावृत्तान्त में। करुण-विप्रलम्भके विषयमें आचार्योंके मतवैविध्यका दर्शन यहाँ भी होताहै। इस विषयमें विश्वनाथने बहुत कुछ भोजके मतका अनुगमन कियाहै। उन्हें दशरूपकका मत उचित नहीं समझ पड़ता। विश्वनाथका कहना है कि यदि मरणके पश्चात् फिरसे मिलन नहीं होना है, अथवा मिलन हो भी तो उस शरीरसे नहीं शरीरान्तरसे, तो वहाँ करुणरस ही माननाचाहिए।[५] यहाँ कुछकी मान्यता है कि इस महाश्वेतावाले वृत्तान्तमें ही पुण्डरीकके मरणके पश्चात् आकाशवाणी होनेपर ही जब पुनर्मिलनकी आशा बँधतीहै तो रतिका उद्भव होताहै, और उसे शृङ्गार (विप्रलम्भ) कहा जासकताहै। आकाशवाणीके पूर्व तो करुण ही रहताहै। अतः इसे करुणविप्रलम्भ ही कहाजायगा। किन्हीं आचार्यका यह मत कि पुनर्मिलनकी प्रत्याशा

---

१. सा० द० ३।२०५-२०६

२. भावी भवन् भूत इति त्रिधा स्यात्तत्रकार्यजः।
कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ॥ सा० द० ३।२०८

३. अत्रपूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभये षामप्युभयत्र संभवे पि चिरंतनप्रसिद्ध्याउभयसंभवे विविच्यप्रतिपादनम् ॥
वही, पृ० १७२

४. यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरंपुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥ वही ३।२०९

५. पुनरलभ्येशरीरान्तरेण वा लभ्ये करुणाख्य एवरसः ॥ वही

के पश्चात् भी प्रवासविप्रलम्भही यहाँ होगा[१] दूसरे आचार्यको स्वीकृत नहीं है, क्योंकि उनका कहना है कि इस विप्रलम्भका मरणरूप एक विशेषप्रकार होनेके कारण, प्रवाससे पृथक् रूप ही माना जायगा।[२] वस्तुतः शृङ्गारके 'प्रवास' एवं 'करुण' पक्षोंमें परस्पर सबसे बड़ा भेद यह है कि प्रवासमें जीवित शरीरसे देशान्तर जाना होताहै, जबकि करुणमें शरीरके प्राणमात्र शरीर छोड़ कर चले जातेहैं। दशरूपकमें करुणविप्रलम्भको शृङ्गारका भेद नहीं माना गयाहै। उसे करुणरसके ही अन्तर्गत रखा गयाहै।[३] संगमाशा होनेपर अधिकसेअधिक उसे प्रवासशृङ्गाररूप ही माना गयाहै, जैसा कि अभी कहा जाचुकाहै। किन्तु विश्वनाथको उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। इस विषयमें उन्हें भोजका मत ही मान्य समझ पड़ताहै। अस्तु।

संभोग शृङ्गार— विश्वनाथने सम्भोगके चार प्रकार बतानेमें भोजके साथ अपनी पूर्णतया सहमति दिखायीहै। इन्होंने भी पूर्वरागआदिके अनन्तर एक-एक प्रकारका सम्भोग मानाहै।[४] इसकेलिए विश्वनाथने भी भोजकी प्रसिद्ध कारिकाको उद्धृत कियाहै—बिना पहले विप्रलम्भके सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती, जैसे कषायमें रंगनेपर वस्त्रपर रंग और भी चटक चढ़ताहै। वस्तुतः साहित्यदर्पणका यह सम्पूर्ण शृङ्गारप्रकरण प्रायः भोजका ही अनुयायी हुआहै।

शिङ्गभूपालने उसमतका विरोध कियाहै, जो शृङ्गारके अयोग, विप्रयोग तथा संयोग तीन भेद करताहै। अयोगको पूर्वानुरागरूप तथा शेष मान, प्रवास, करुणको विप्रयोगरूप बताया है। और विप्रलम्भशब्दका प्रयोग संकेत देकर भी न मिलना अर्थात् विप्रलब्धके अर्थमें किया है, क्योंकि वहाँ वंचना रहतीहै। अन्य विरहप्रकारोंकेलिए विप्रलम्भका प्रयोग उपचार अथवा लक्षणासे मानाहै। शि० भू० का कहनाहै कि वंचना तो विरहके चारों प्रकारोंमें रहती है, जैसा कि भोजने प्रदर्शित कियाहै। अतः सबकेलिए विप्रलब्धशब्द ही प्रयुक्त किया जानाचाहिए। उसमें चारों प्रकारकी वंचनाएँ 'वि' उपसर्गसे मिल जायेंगी।[५]

और सम्भोग शृङ्गार उसे कहतेहैं, जिसमें पहलेके सभी न मिलेहुए, अथवा मिलकर बिछुड़े हुए नायकनायिका मिलकर परस्पर स्पर्शन, आलिंगनआदिका सुख भोगतेहैं।[६]

---

१. यह मत दशरूपक में धनिक-जैसा समझ पड़ता है—'कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीकथनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गारएवेति।' द० रू० ४।६७

२. वही, पृ० १७३

३. मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः। व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः—वही ४।६७

४. कथितश्चतुर्विधो सावानन्तर्यात्तुपूर्वरागादेः। —सा० द० ३।२१३

५. र० स० २, पृ० १८६-९०

६. स्पर्शनालिंगनादीनामानुकूल्यान्निषेवणम्
   घटते यत्र यूनोर्यत् स सम्भोगः। र० सु० ६।२२०।२३१

शि० भू०ने भी विप्रलम्भके पूर्वरागमानप्रवासकरुण चारों प्रकारोंके पश्चात् होनेवाले अलग-अलग सम्भोगका भी चारप्रकार माना है, जिसे क्रमसे संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्नतर तथा समृद्धिमान् कहाहै ।[१] इनके लक्षण भी प्रायः भोजके ही अनुसार हैं ।[२]

भानुदत्तने विप्रलम्भ शृङ्गारका लक्षण रसतरङ्गिणोमें इसप्रकार किया है । प्रेमी युगलकी परस्पर मुदित पञ्चेन्द्रियाँ जब परस्पर सम्बन्ध न पायें, अर्थात् एकदूसरेको न देख पायें, न सुन पायें, न स्पर्श कर पायेंआदि, अथवा जब उनके परस्पर अभीष्टकी प्राप्ति न हो तो विप्रलम्भ शृङ्गार होताहै ।[३] किन्तु ऐसा लक्षण करने पर अव्याप्ति दोषकी भी शंका होसकतीहै, क्योंकि मानरूप विप्रलम्भमें देखना सुनना तो वाकायदे होता ही है । इसका समाधान यह है कि उससमय उनकी इन्द्रियाँ परस्पर मुदित नहीं रहतीं, अतः यह भी मुदित इन्द्रियोंका सम्बन्धाभावरूप विप्रलम्भ ही है—क्योंकि लक्षणमें 'मुदित' पद प्रधान है ।[४] इसी प्रसंगमें एकअन्य विवेचन भी बड़ा विशद हुआहै कि अभिसारिका नायिकाका शृङ्गार विप्रलम्भ मानाजाय या संयोग । इसका समाधान भानुदत्तने इसप्रकार दियाहै कि बात तो यही ठीक है कि वह विप्रयुक्ता ही है । किन्तु इतनी विशेषता है कि शीघ्र ही प्रियदर्शनकी प्रत्याशाके कारण उसे प्रमोद है, विरहके धर्म अश्रुपातआदि वहाँ नहीं हैं ।[५] भानुदत्तने विप्रलम्भको पाँचप्रकारका बतायाहै—देशान्तरगमनसे, गुरुनिदेशसे, अभिलाषसे, ईर्ष्याके कारण तथा शापवश । इनके अतिरिक्त अन्य कारणोंसे भी विप्रलम्भ हो सकताहै ।[६] जैसे—समयके कारण, देवके कारण तथा विड्वर (उपद्रव)के कारण ।

कृष्णकवि के अनुसार भी शृंगार रसके सम्भोग तथा विप्रलम्भ दो ही भेद हैं । विप्रलम्भ पाँच प्रकार का होता है—शाप, प्रवास, अभिलाष, ईर्ष्या तथा वियोग से उत्पन्न (शापप्रवासाभिलाषेर्ष्यावियोगजभेदतः पृ० १०१) इनमें मानरूपविप्रलम्भ ईर्ष्याजन्य है और किसी (सम्भ्रमआदि) कारणसे विश्लेष वियोगज है । चक्षुःप्रीतिआदिको प्रायः पूर्वरागकी दस अवस्थायें आचार्योंने कहीहैं, किन्तु कृष्णकविने उन्हें शृङ्गारांकुरकी कारणभूत अवस्था मानी है, और उनकी गणना भी की है । इनकी गणनामें प्रायः कभी-कभी भेद होजाताहै ।

---

१. र० सु० २।२२२-२२६

२. वही २।२२२-२६

३. यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्तिर्वाविप्रलम्भः । र० त०

४. न च मानात्मके विप्रलम्भे व्याप्तिरितिवाच्यम् । मुदितपंचेन्द्रियसम्बन्धभावरूपस्य विशिष्टाभावस्यतत्रापि सत्त्वात् । तदानींयूनोरिन्द्रियाणां मुदितत्वाभावात्—वही ६

५. ननु या प्रियमभिसरति सा विप्रयुक्ता भवेदिति चेत् । सत्यम्, सा विप्रयुक्तैव । अचिरदर्शनप्रत्याशानुवृत्तप्रमोदेनविरहधर्मस्याश्रुपातादेरसम्भव इति ।—वही ६

६. स च विप्रलम्भः पंचधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशादभिलाषादीर्ष्यातः शापाच्चेति । समयादैवाद्विड्वरादित्यादयो प्युन्नेयाः ॥ वही ६

कृष्णकविने उसका भी उल्लेख कर ही दियाहै—कुछ आचार्य प्रलाप, उन्माद और मोहको भी दशाओंमें गिनते हैं । संख्या दस ही रहती है, किन्तु पाठमें भेद हो जाताहै ।[1] अन्तमें भोजके शृंगाररसके सिद्धान्तको श्रीकृष्णकविने कुछ अपनी समझ के अनुसार संक्षेपमें उद्धृत किया है ।[2] रसोवैसः--इस श्रुतिके प्रमाणसे रस एक ही है और वह शृङ्गाररूप । उसके धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—ये चार भेद हैं । धर्मशृङ्गारमें धीरोदात्त नायक,स्वकीया नायिका, भारती वृत्ति, पौरस्त्य प्रवृत्ति तथा पांचाली रीति होती है । अर्थशृङ्गारमें धीरोद्धत नायक सभीप्रकारकी नायिकायें, मागधी प्रवृत्ति, आरभटी वृति तथा गौडीरीति होतीहै । कामशृङ्गारमें धीरललित नायक, सभी प्रकार की नायिकाएँ, दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकीवृत्ति तथावैदर्भीरीति होती है । और मोक्ष शृङ्गारमें धीरशान्त नायक, स्वकीया नायिका, लाटी रीति, सात्त्वतीवृत्ति तथा अवन्त्याप्रवृत्ति कही गयी है ।

शृङ्गारभेदके प्रसङ्गमें पण्डितराजने संयोग तथा वियोगकी अपनी मौलिक परिभाषा दीहै —संयोगका अर्थ स्त्री-पुरुष (दम्पतीका) एक स्थान पर रहना नहीं है,[3] क्योंकि एक शय्यापर भी बैठे हुए नायक-नायिकाका ईर्ष्याआदिके कारण, कवियोंने विप्रलम्भ ही शृङ्गार वर्णन किया है । इसीप्रकार वियोगका अर्थ भिन्न स्थानोंपर रहना नहींहै, क्योंकि एक ही शय्यापर पूर्वोक्त रूपमें विप्रलम्भ देखा गयाहै । अतः इन संयोग-वियोग दोनोंको चित्तकी विशिष्ट प्रकारकी वृत्तियाँ समझनाचाहिए, जो 'संयुक्त हूँ' या 'वियुक्त हूँ' इसप्रकारके विचार या मनोभावरूपमें होती हैं ।[3] सामराजदीक्षित के अनुसार उसके सम्भोग, विप्रलम्भ दो भेद होते हैं । विप्रलम्भसे भिन्न रतिप्रकर्षको सम्भोग शृङ्गार कहतेहैं, ।[4] जिसमें परस्पर अनुरक्तप्रिय और प्रेयसी दर्शनस्पर्शआदिका भोग करतेहैं । दर्शन भी तीनरूपका होता है—साक्षात्, चित्र तथा स्वप्न में ।

———

१. म० म० च० पृ० १०१-२

२. अथभोजनृपादीनां मतमत्रप्रकाश्यते ।
रसोवैस इतिश्रुत्यारस एकः प्रकीर्तितः ।
अतोरसः स्याच्छृंगार एक एवेतरे तु न
धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः ।। इत्यादि—वही पृ० १०७–१०८

३. संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात् । एवं वियोगोपि न वैयधिकरण्यम् दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद्द्वाविमौ संयोग वियोगाख्या-वन्तःकरणवृत्तिविशेषौ यत् संयुक्तोवियुक्तश्चास्मीतिधीः ।। —र० गं० १

४. सम्भोगलक्षणंतु विप्रलम्भभिन्नत्वे सतिरतिप्रकर्षत्वम्—शृ० अ० ल०

नवम अध्याय

शृङ्गाररसाभास

नाट्यशास्त्रमें भरतने चार मौलिक अथवा मुख्य एवं चार गौण रसों का विवेचन किया है। शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स – ये चार मौलिक रस हैं। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक इन चार गौण रसों की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रकार उन्होंने शृङ्गारसे हास्यकी उत्पत्ति बताईहै। वस्तुतः जब शृङ्गारकी नकल कीजातीहै तब वह शृङ्गार नहीं रहता। वहाँ स्वभावतः हास्य रस समुत्पन्न होताहै। अर्थात् शृङ्गारकी अनुकृति हास्यका विभाव है। इसी प्रकार रौद्रका जो कर्म अथवा चेष्टा होतीहै उसका पर्यवसान अथवा फल करुणमें होता है, अर्थात् रौद्र करुणका विभाव है। वीरकी चेष्टाएँ अद्भुत पैदा करतीहैं। अर्थात् वीर अद्भुतका विभाव है और बीभत्सको देखकर स्वभावतः भय उत्पन्न होताहै, अर्थात् बीभत्स, भयानकका विभाव है।[2] (यद्यपि भोजने भरतके इस सिद्धान्तका विरोध किया है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्तमें अन्वय-व्यतिरेक दोनों रूप से व्यभिचार दोष उपस्थित होता है, क्योंकि यदि शृङ्गारकी अनुकृतिसे हास्य है, तो वीरकी अनुकृति को भी हास्य कहा जाना चाहिए, क्योंकि वह भी हास्य का विभाव है।)[3] भरत के पूर्वोक्त सिद्धान्त को कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया और उनके अनुसार भरत का यह पूर्वोक्त कथन रसों के परस्पर सम्बन्धकी दृष्टिसे केवल एक प्रकारकी अध्ययन-दृष्टिकी ओर संकेत करताहै कि किस प्रकार भाव एकदूसरेसे सम्बन्धित रहतेहैं और किस प्रकार एक भाव दूसरे भाव तक पहुँचता है[4] आदि

---

१. तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति अत्र—
शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च—
भयानकः —ना० शा० ६।३९

२. शृङ्गारानुकृतिर्यातु स हास्यस्तुप्रकीर्तितः।
रौद्रस्यचैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः सतु भयानकः॥ —वही ६।४०, ४१

३. अथोच्यते—शृङ्गारानुकृतिर्येह स हास्यरस इष्यते। तर्हि वीरस्यानुकृतिर्याहि सोऽपि
हास्य इतीष्यताम्। —शृ० प्र०, भाग २.

४. एन० ओ० आर० में डॉ० राघवन्—

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस रूपमें भरत ने रसाभासके ही सिद्धान्तकी अवतारणा की है। इस प्रसंगमें अभिनवने अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अन्ततः हास्यमें परिणत हो जाता है, क्योंकि आभास एक प्रकारसे विकृत रूप ही होता है, और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषयमें स्थायीकी प्रवृत्ति उसकी विकृति है, जिससे प्रमाताका हास्य ही उद्‌बुद्ध होता है। किन्तु यह रसास्वादन प्रक्रियामें पश्चाद्‌वर्ती स्थिति है—हास्यकी अनुभूति अनौचित्यका ज्ञान होनेपर ही होती है, उसके पूर्व शृङ्गारादि रसोंकी अस्थायी प्रतीति होलेती है। इस प्रकार आरम्भमें सहृदय शृङ्गाराभास आदिका अनुभव करता है और परिणतिमें हास्य रस का। आभास कहते हैं प्रतिबिम्ब आदिके समान अवास्तव स्वरूप को, जैसे शुक्तिमें रजतके स्वरूपकी प्रतीति रजतका आभास है यह एक प्रकारसे अतद्‌में तद्‌की प्रतीति रूप है। किन्तु जिस क्षण यह प्रतीति होती है उस क्षण तो वास्तविक ही रहती है—उसका मिथ्यात्व तो बादमें भासित होता है। इस प्रकार जहाँ रस या भाव अवास्तविक होते हुए भी पहले तो वास्तविक ही प्रतीत हों और बादमें अवास्तविक, वहाँ उन्हें रसाभास अथवा भावाभास कहा जायगा। अतः भरतने शृङ्गारकी अनुकृतिको हास्य रस ठीक ही कहा है।[1] नाट्यशास्त्रकी इस पूर्वोक्त पंक्तिका उल्लेख करते हुए अभिनव कहतेहैं कि भारतका यह अनुकृति शब्द 'आभास'का ही पर्यायवाची है।[2] बादमें उस प्रश्नपर परवर्ती आचार्योंने विस्तारसे विचार किया। उद्‌भटने यद्यपि आभासके लक्षणका अलगसे उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ऊर्जस्वि अलंकारका लक्षण वही किया है जो बादमें मम्मट आदिने रसाभास भावाभासका माना है। उनका कहना है कि काम, क्रोध, आदिके कारण अनुचित प्रवृत्त रसों तथा भावोंको ऊर्जस्वि अलंकार कहते हैं।[3] सम्भवतः यही उद्‌भटका रसाभास भी था, क्योंकि रसाभासकी सत्ता तो वे मानते ही थे, जसा कि समाहित अलंकारके लक्षण में उन्होंने इसका उल्लेख किया है।[4] रुद्रटने केवल शृङ्गाराभासका विवेचन कियाहै और अपनेसे विरक्तके प्रति किसीके रक्त होने अथवा रति भाव होनेको उसका लक्षण बताया है, साथ ही यह भी कहा है कि यह शृङ्गाराभास उत्तम प्रकृतियों (आभाष्य) में नहीं प्रयुक्त किया जानाचाहिए।[5] आनन्दवर्धनने असंलक्ष्यक्रम ध्वनिके प्रसंगमें रसाभास एवं भावाभास

---

१. —ना० शा० ६। ४०

२. एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुंजानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्यर्कोऽर्थः ॥ —'लोचन', पृ० १७८—१७६

३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्। भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते। का० सा० स० ४।७

४. रसाभाव-तदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्। अन्यानुभावनिःशून्यरूपयत्तत्समाहितम्—वही

५. शृङ्गाराभास; स तु यत्रविरक्तेऽपि जायते रक्तः।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः॥ काव्या० १४।३६

की भी गणना की है ।[1] उसमें भी, प्रधान रूपसे व्यंग्यता होने से, ध्वनिकाव्यताका सद्भाव बताया है [2] किन्तु इनको आभासता कब मानना चाहिए, उसके क्या लक्षण हैं, इत्यादि प्रश्नोंपर उन्होंने कोई विचार नहीं किया । सम्भवतः रुद्रटवाला 'विरक्ते-रक्तः' आदि लक्षण इन्हें स्वीकृत था । अभिनव ने ध्वन्यालोक की पूर्वोक्त कारिका की व्याख्या के प्रसंग में विभाव की आभासताहोने पर रत्यादि स्थायिओं की चर्वणाभासता मानी है तथा उसे रसाभासता का विषय बताया है ।[3] वस्तुतः इसमें रतिकी कामना या अभिलाष मात्र होती है, जो स्थायिस्वरूप नहीं अपितु व्यभिचारिमात्र है । किन्तु उसका अनुभव करनेवाले सहृदया को स्थायिभाव-सी प्रतीत होती है । रस रत्याभास या व्यभिचारिभावरूपरति के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं । इसीलिए वह रति स्थाय्याभासरूप में ही उपस्थित होतीहै । अर्थात् विभावाभास, अनुभावाभास तथा व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न होकर जो केवल चर्वणाभास होता है) वह शृङ्गाराभास कहलाता है—जैसे सीता के प्रति रावण की 'दूराकर्षण-मोह.मन्त्र इव मे'—इत्यादि उक्ति को सुनकर शृङ्गाराभास की प्रतीति होती है । रावण द्वारा सीता के प्रति व्यक्त की गई रति वस्तुतः रति नहींहै, रत्याभास है, क्योंकि उसमें दोनो ओर से परस्पर आस्थाबन्ध नहींहै । रावण अपनी कामान्धता के कारण' अपने प्रति सीता की – घृणा तथा उपेक्षा को समझ नहीं पा रहाहै, क्योंकि जिस क्षण वह ऐसा जान जाय उसी क्षण उसका सीता के प्रति सारा अभिलाष विलीन हो जाय । और न ही उसे इस बात का भी निश्चयहै कि सीता उसके प्रति अनुरक्त ही हैं । अतएव रावण के उस अभिलाष को रति का आभास ही कहा जायगा, वैसे ही जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति रजताभास कही जातीहै । इस प्रकार अभिलाष के एक पक्ष में ही रहने पर शृङ्गाराभास ही समझना चाहिए ।

रुद्रट के लक्षण के अनुसार अभिनव ने भी विभाव की आभासता को ही रसाभास का हेतु माना है । मम्मट द्वारा दी गई आभास की परिभाषा में उद्भट के ऊर्जस्विगत अनौचित्य शब्दका प्रयोग दिखाई पड़ता है—जब रस तथा भाव अनुचित रूप में प्रवर्तित दिखाये जांय तो क्रमशः रसाभास एवं भावाभास कहलातेहैं ।[4] अर्थात् जब किसी स्थायी भाव अथवा

---

१. रसभावतदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।। ध्व०२।३

२. रसभावरसाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरितिव्यपदेशः ।
वही २१ प १६०

३. "यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः ।"
—'लोचन', ध्व० २।३

४. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।—का० प्र० ४

किसी संचारीभाव का विषय ऐसे को बनाया जाय जिसे नहीं बनाना चाहिए, तो वह, अनुचित प्रवर्तित होने के कारण, न पूर्ण, न वास्तविक ही आस्वाद्य होगा, अपितु वह उसका आभास कहा जायगा। उदाहरण में उन्होंने अनुभयनिष्ठ तथा बहुनायकनिष्ठ रतिविषयक पद्य प्रस्तुत किया है। यहाँ आस्वाद्यदशा में तो यह असंलक्ष्यक्रमरूप शृङ्गार आदि रस ही होगा—अनौचित्य की प्रतीति थोड़ी देर बाद होती है, और तब वह रसाभास तथा भावाभास कहलायेगा।[1]

मम्मट ने तिर्यगादिकों के भावों को रसाभास नहीं माना था। भयानक रस के उदाहरण में उन्होंने शाकुन्तलका 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' आदि पद्य उद्धृत किया, जिसमें मृग के भय का वर्णन है, तथा 'मित्रे क्वापि गते' आदि में पक्षी के विप्रलम्भ का, क्योंकि इनमें उन्हें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। किन्तु उनके सिद्धान्तोंका बहुशः अनुगमन करने वाले आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में इस प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है। उनका कहना है कि—'इन्द्रिय-रहितों (जैसे वृक्ष, लता, नदी आदि में तथा पशुपक्षियों (तिर्यगादि) में तथा इसी प्रकार निशा, चन्द्रमा आदिमें रत्यादि भावोंका आरोप करने पर रसाभास तथा भावाभास माना जाता है।[2] हेमचन्द्र ने ऐसे रसाभास तथा भावाभासका समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों को जीवित माना है, अर्थात् उन अलङ्कारों के सहारे से ही रसाभास तथा भावाभास की योजना की जा सकती है।[3] किन्तु ध्वनिवादी रसाभास तथा भावाभास वहीं मानते हैं, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो उसको असंलक्ष्यव्यङ्ग्यप्रकार का ध्वनिकाव्य कहते हैं। समासोक्ति आदि अलङ्कारों में तो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत रहता है, वाच्यार्थ प्रधान होता है। सबसे बड़ी बात तो यही है कि अभिनव तथा मम्मटके अनुसार तो निरिन्द्रियों एवं तिर्यगादिकों के भावों में रस-भाव ही होंगे, उनकी आभासता नहीं।

साथ ही हेमचन्द्रने अनौचित्यके कारण भी आभास माना है।[4] अन्योन्य के प्रति अनुरागादि के अभाव के कारण रत्यादि में अनौचित्य रहता है। अतएव उसे रसाभास तथा भावाभास कहतेहैं।[5] इसी प्रकार अनेक कामुकविषयक अभिलाष को भी आभास ही

---

१. तन्मयीभवनदशायां तु रतेरास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन। तदसौ शृङ्गाराभास एव तदङ्ग भावाभासः।—'लोचन'

२. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।······ आदिशब्दान्निशाचन्द्रमसोर्नायकत्वाध्यारोपात्संभोगाभासः।—का० अनु०,

३. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम्। —वही

४. अनौचित्याच्च—वही

५. अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्याद्रसभावाभासौ॥ वही

कहा जायगा।[१] इस अनौचित्य-कृत रसाभास के प्रसंग में तो हेमचन्द्र ने मम्मट का ही अनुगमन किया है।

एकावलीकार विद्याधरने मम्मट के अनुसार केवल अनौचित्य-प्रवृत्त स्थायी (और व्यभिचारी) को रसाभास तथा भावाभास का हेतु माना है[२]—हेमचन्द्र आदि द्वारा तिर्यगादिगत रसाभास वाले सिद्धान्त का उन्होंने प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि तिर्यक् प्राणियों को विभावादिका ज्ञान नहीं होता, अतः वे रसभाजन नहीं हो सकते—यह कहना ठीक नहीं, क्यों कि फिर तो कुछ मनुष्य भी विभावादि ज्ञानशून्य होनेके कारण इसके विषय नहीं हो सकते। रस के प्रति प्रयोजकता किसी का विभावादिरूप से सम्भव होना होता है, उसका विभावादि ज्ञान नहीं। विभावादिज्ञान उसे हो चाहे न हो। और पशु-पक्षियों में इस प्रकार की विभावता को प्राप्त करने की योग्यता होती है, अतः उनके भावों का निरूपण रस का विषय बन सकता है—जैसे कुमारसम्भव के इस श्लोक में—

"ददौ सरः (रसात्) पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा॥"

यहाँ पूर्वार्ध में गज-आलम्बनविभाव से उत्पन्न होकर, वसन्त आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीपित होकर, सुगन्धित गण्डूषजलदानरूप अनुभाव से प्रकाशित होकर, तथा हर्षादि-व्यभिचारी भावों से उपस्थित होकर करेणु (हथिनी) की रति सम्भोग श्रृङ्गार रूप में आस्वाद्य बनती है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में चक्रवाक की रति सम्भोग श्रृङ्गार रूप में प्रकाशित होती है।[३]

प्रतापरुद्रीय में विद्यानाथ ने श्रृङ्गार को लोकोत्तरनायकाश्रित रहने पर तो रस माना है, किन्तु तिर्यक्म्लेच्छादिविषयक होने पर रसाभास रूप कहा है। उन्हें श्रृङ्गाराभास तीन प्रकार का स्वीकृत है—एकत्रानुराग (अनुभयनिष्ठरति) रूप, तिर्यक्म्लेच्छादिगत तथा नायिका का बहुनायकनिष्ठ।[४] तीनों प्रकारों के मूल में अनौचित्य ही माना जायगा। शारदातनय ने भाव-प्रकाश में अङ्गीरस के तृतीयांश में भी अङ्गीरस के प्रविष्ट हो जाने पर

१. यथावा—'स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विनायं।
.... ध्यायसि तु यम्॥
अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुमः इत्याद्यनुमतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति॥
—का० अनु०, पृ० १२३

२. 'यत्र पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव॥
—एकावली उन्मेष ३,

३. वही उन्मेष ३,

४. अतएव श्रृङ्गारस्य म्लेच्छादिविषयत्वेनाभासत्वम् तथा चोक्तम्—
एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा।
योषितो बहुसक्तिश्चेन्द्रमासास्त्रिधा मतः॥ प्र० रु० पृ० २२८-२८

मर्यादोल्लंघन होने के कारण रसाभासता मानी है।[1] शिङ्गभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' में इस रसाभास के प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है। वे सिद्धान्ततः इस विषय में शारदातनय के अनुगामी हैं। उनका कहना है कि जैसे कोई अविनीत अमात्य स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति बढ़ाकर स्वामी (राजा) को आभासदशा में पहुँचा देताहै वैसे ही अङ्गरस कारण अङ्गीरस आभास बन जाता है।[2] इस विषय में उन्होंने भावप्रकाश की उन कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनमें प्रत्येक अङ्गरस के उद्रेकके कारण अङ्गीरस की आभासता कही गयी है।[3] हास्य-भूयिष्ठ होने पर शृङ्गार शृङ्गाराभास कहलाता है, जो चार प्रकार का होता है—अराग, अर्थात् नायक-नायिका में एक में ही राग हो, दूसरे में नहीं; अनेकराग, अर्थात् स्त्री का अनेक पुरुषों में अथवा पुरुष का अनेक स्त्रियों में राग (दक्षिण नायक का तो एक नायिका में ही प्रौढ़ राग होता है, अन्यों में केवल उसकी नायक वृत्ति ही रहती है, राग नहीं। अतः उसे आभास नहीं कहा जायगा); तिर्यग्राग, तथा म्लेच्छराग अर्थात् अनुत्तमप्रकृतिवाले व्यक्तियों का राग।[4]

शिङ्गभूपाल ने इस रसाभास के प्रसङ्ग में एकावली में विद्याधर के 'तिरश्चामस्त्येव रसः' वाले मत का बड़े तर्क के साथ खण्डन किया है। उनका कहना है कि मुनि (भरत) ने शृङ्गाररस में शुचि, समुज्ज्वल तथा दर्शनीय वस्तु को ही विभाव होने योग्य बताया है। तिर्यक् प्राणियों में उद्वर्तन, मज्जन, आकल्परचना आदि के अभाव के कारण उज्ज्वलत्व, शुचित्व तथा दर्शनीयत्व सम्भव ही नहीं। और यह कहना कि अपने जातिगतोचित धर्मों से करी-करिणी के प्रति विभाव हो जायेगा, ठीक नहीं। क्योंकि उस रूप में करी करिणी के

---

१. भागद्वयप्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता। रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥"
—भा० प्र०

२. अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्।—र० सु० २।२६३,

३. वे पंक्तियां इस प्रकार हैं—
शृङ्गारोहास्यभूयिष्ठः शृङ्गाराभास ईरितः।
हास्यो बीभत्सभूयिष्ठो हास्याभास इतीरितः॥
वीरोभयानकप्रायो वीराभास इतीरितः।
अद्भुतः करुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते॥
रौद्रः शोकभयाश्लेषाद् रौद्राभास इतीरितः।
करुणो हास्यभूयिष्ठः करुणाभास उच्यते॥
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते।
स स्याद्भयानकाभासो रौद्रवीरोपसङ्क्रमात्॥

४. र० सु०

राग के प्रति कारण बनता है, विभाव नहीं। और स्वजातिगतोचितधर्मों के कारण कोई वस्तु विभाव नहीं बनती, अपितु भावक अथवा सामाजिक के चित्त में उल्लासोत्पत्ति के हेतु रत्यादिविशिष्ट धर्मों के ही कारण। फिर, औचित्यविवेक ही विभावादि ज्ञान होता है। उससे रहित होने के कारण तिर्यक् प्राणी विभावत्व नहीं प्राप्त कर सकते। यद्यपि कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जिन्हें विभावादि-ज्ञान नहीं होता। तो क्या उनमें भी रसाभास ही माना जायगा ? हाँ, म्लेच्छगतराग ऐसे ही विवेकरहित मनुष्यों का तो उपलक्षण है। अतः उसे रसाभास ही कहना चाहिए। रसाभासता के लिए अविवेकजन्य अनौचित्य ही मूल में रहता है।[1]

वस्तुतः अनौचित्य ही रस-भाव की आभासता के मूल में माना जाना चाहिए। अनौचित्य भी दो प्रकार का होता है—असत्यरूप तथा अयोग्य रूप। वृक्ष, लता, नदी आदि अचेतन प्राणियों में वर्णित होने पर रत्यादिभाव असत्यरूप अनौचित्य से युक्त होता है, तथा नीच पुरुष एवं तिर्यक् प्राणियों में रहने पर अयोग्य रूप अनौचित्य से युक्त होता है। अतः वह उभयत्र आभास ही कहा जायगा।[2]

रसाभासके प्रसङ्गमें भानुदत्तने एक बड़ा मार्मिक विवेचन किया है—जैसे एक नायिका का अनेक नायकविषयक रति रतिआभास है, उसी प्रकार एक नायक का अनेक नायिका-विषयरति भी आभास ही है। किन्तु यहाँ (नायक की बहु-नायिका-विषयक रति में) एक विशेषता की ओर ध्यान रखना चाहिए कि जिस नायक की बहुत-सी नायिकायें व्यवस्थित हैं वहाँ अनौचित्य के अभाव के कारण रसाभास नहीं माना जायगा, नहीं तो, कृष्ण की रति, जो सकलोत्तम नायक माने जाते हैं, आभासरूप हो जायगी, क्योंकि वह भी तो बहुकामिनी,विषयक ही है।, अतः अव्यवस्थितबहुकामिनी-विषयिणी, वैशयिकविषयिणी तथा बहुनायकविषयिणी रति ही आभासरूप मानी जायगी। इसीलिए तो प्राचीन आचार्यों ने वैशयिकों की तथा वेश्याओं के शृङ्गार को रसाभास ही कहा है।[3]

---

१. र० सु० पृ० २०६-७

२. आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्तिनाम्।
असत्यत्वादयोग्यत्वाद् अनौचित्यं द्विधा भवेत्।
असत्यत्वकृतंतत्स्याद् अचेतनगतं तु यत्।
अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्॥

—दी० एन० ओ० आर० में उद्धृत, पृ० १४६

३. एवमेकस्या अनेकविषयारतिराभास एव। परन्त्वेष विशेषः यस्य व्यवस्थिता बह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनी विषयायारतेराभासतापत्तेः तस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अतएव वैशयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्—र० त० ८

शारदातनय ने हास्यरस से अभिभूत शृङ्गाररस को शृङ्गाराभास कहा है।[१] यह इसलिए कि जब एक रक्त हो और दूसरा अपरक्त हो तो उनकी चेष्टा लोगों में हासकरी होती ही है। अतः वह (चेष्टा) दृष्टा, श्रुता या सूचिता भी शृङ्गाराभास की हेतु बनती है।[२] दो भागों में प्रविष्ट रस के प्रधान के एक भाग को लेकर उसका आभास कहा जाता है।[३] जो रस पहले दिखाई पड़े, सुनाई पड़े अथवा सूचित हो, उसे प्रधान कहते हैं।[४]

हरिपालदेव ने तो नीच-तिर्यगाश्रितरति को शृङ्गार से पृथक् सम्भोग नाम से दूसरा रस ही करार दिया है।[५] विश्वनाथ ने अनौचित्यप्रवृत्त रस-भाव को रसाभास तथा भावाभासतो माना ही है, साथ ही शृङ्गार में कहाँ-कहाँ अनौचित्य होता है इसका भी लेखा गिना दिया है—"जब रति उपनायक में स्थित हो, मुनि गुरुपत्नीगत हो, बहुनायकविषयक हो, तथा अनुभयनिष्ठ हो तो उसमें अनौचित्य होता है। इसी प्रकार जब शृङ्गार प्रतिनायकनिष्ठ, अधमपात्रगत अथवा तिर्यगादिगत होता है तो उसमें अनौचित्य माना जाता है[६]। इसी प्रकार लज्जादिभाव वेश्यादिगत होकर भावाभास कहलाते हैं।[७]

और अन्त में पण्डितराज ने रसाभास की अपने ढंग से मीमांसा की है। उनका कहना है कि कुछ आचार्यों के मत से जहाँ अनुचित विभाव का आलम्बन लिया जाय वह रसाभास होता है।[८] विभावादिकों का अनौचित्य तो लोकव्यवहार से जाना जा सकता है—जिसे लोग अनुचित कहें वही अनुचित है।[९] परन्तु रसाभास के उक्त लक्षण को दूसरे विद्वान् नहीं

---

१. हास्याभिभूतः शृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति। भा० प्र० ६।१३२

२. रक्तापरक्तयोश्चेष्टा यतो हासकरी नृणाम्।
दृष्टा श्रुता सूचितापि शृङ्गाराभासकारिका॥ वही ६।१३३

३. भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥ वही ६/१३२

४. प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यतेऽपिवा। तत्प्रधानमितिप्राहूरसप्राधान्यवेदिनः॥ भा० प्र० ।६।१३३

५. सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्ति नित्यता।
अतोऽभ्यधायि संभोगो रसः शृङ्गारतः पृथक्॥—दी एन० ओ० आर० में उद्धृत, पृ० १४५

६. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते। शृङ्गारेऽनौचित्यम्। सा० द० ३।२६३-२६४

७. भावाभासोलज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्।

८. अनुचितविभावालम्बनत्वंरसाभासत्वम्-र० गं०—सा० द० ३।२६६

९. विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् अनुचितम् इति धीरिति केचित्। —र०गं०

मानते । वे कहते हैं—इस लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होने वाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इतर मनुष्य की रति के लिए अनुचित हैं, यह बात लोगों की बुद्धि कबूल करती है, तथापि किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में जो रति होती है और नायक-नायिका की दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहाँ विभाव अनुचित नहीं है । अतः अनुचित विशेषण विभाव में न लगाकर रति आदि स्थायी भावों में लगाना चाहिए—अर्थात् जिसके रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों, वे रसाभास कहलाते हैं । ऐसा करने पर अनुचितविभाववाली, बहुनायकगत, तथा अनुभयनिष्ठ तीनों का संग्रह हो जायगा । क्योंकि तीनों में रति ही अनुचितप्रवृत्ति होती है । अनौचित्य का लक्षण वहाँ भी पूर्ववत् ही रहेगा, अर्थात् लोग अनुचित समझें [1]

फिर पण्डितराज का कहना है कि कुछ लोग रसादि के आभास को रसादि के साथ समानाधिकरण नहीं मानते, क्योंकि रसादि तो वह है जो निर्मल अथवा निर्दोष हो । रसादि का आभास तो सदोष होता है । तो, जैसे हेत्वाभास हेतु नहीं हो सकता, वैसे ही रसादि का आभास और रसादि एक हैसियत के नहीं माने जा सकते ।[2] किन्तु अन्य मत से रसादि का आभास भी रसादि ही है—अर्थात् उसमें अनुचितत्व अथवा सदोषत्व के कारण उसके रसादि स्वरूप में कोई क्षति नहीं आयेगी, और, जैसे सदोष अश्व को ही अश्वाभास कहा जाता है, वैसे ही उस सदोष रस को ही रसाभास कहा जायगा ।[3] जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया गया है आभास का अर्थ है अवास्तवप्रतीति—शुक्ति में रजत का आभास रजतकी अवास्तव प्रतीति है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है, जब प्रतीति हो जाती है—शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहींहोता । इसी प्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है । रस की प्रतीति पहले हो जाती है । जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है । अतः रसाभास रस के अन्तर्गत ही आता है । ("तथापि पश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरास्वा-

---

१. तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्चरतेरसङ्ग्रहात् । तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति । 'अनौचित्यं' च प्राग्वदेव' । —र० ग० १

२. तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम् । निर्मलस्यैव रसादित्वात् । हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन, इत्येके ॥ वही

३. नह्यनुचितत्वेनात्महानिःअपितु सदोषत्वादाभास-व्यवहारः । अश्वाभासादिव्यवहारवत्, इत्यपरे ॥ वही

द्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौवापर्यविवेशावधीरणेन ।"; II "अतएव तदाभाससत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौरजताभासवत् ।")

पण्डितराजने नववधूके प्रति नायक की उस रति को, जो नववधू में नायक के प्रति अभी बिलकुल अङ्कुरित ही नहीं हो पाई है, अनुभयनिष्ठ होने के कारण, आभास रूप ही मानी है।[1] उन्होंने बहुनायकनिष्ठता का उदाहरण रूप से, द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनने पर, उनके प्रति उसके रति-विषयक एक पद्य का उल्लेख किया है, और कहा कि इसे नव्य आचार्य तो रसाभास मानते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्य तो उसी रति को आभास मानते हैं, जो बहुत से अपरिणेता नायकों के प्रति होती है, पाण्डव तो द्रौपदी के परिणेता थे।[2] अतः अन्त में उन्होंने शृङ्गाररस की भाँति उसके आभास के भी दो भेद किये हैं—संयोगाभास तथा विप्रलम्भाभास[3] और उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः समाज में नैतिक सिद्धान्त अथवा शास्त्र लोकप्रकृति के नियामक हुआ करते हैं। भारतीय वाङ्मय में लोकशास्त्र का प्रयोग प्रायः एक साथ होता आया है। परन्तु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष भी उत्पन्न हो ही जाता है।

———

१. यथा वा—भुजपंजरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण वधूः ।
तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ॥
अत्र रतेर्नववध्वामनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम् । —र० गं०
(किन्तु नायक की इस रति को कौन सहृदय अनुचित कहेगा? पण्डितराज का यह विवेचन अधिक उचित नहीं समझ पड़ता। परिणीता के हृदय में तो परिणय के साथ ही नायक के प्रति रति का बीजारोपण हो जाता है। अतः उसके प्रति नायक की रति को अनुभयनिष्ठ दोष देना ही अनुचित है।)

२. अथात्र किं व्यङ्ग्यम्—व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिताःपरमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥
अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम् स्फारिततया अलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम् परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरौत्सुक्यं च व्यंजयन्तीभिर्दृग्भिः पांचाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः । प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः । —र० गं०

३. तत्र शृंगारस इव शृंगाररसाभासोऽपि द्विविधः संयोगविप्रलम्भभेदात् । र० गं०

दशम अध्याय

शृङ्गारप्रकीर्ण

भरतने रसोंके वर्ण और देवताका भी उल्लेख कियाहै। अभिनवने रसोंके इस वर्णादि-कथनका प्रयोजन इतना ही मानाहै कि पूजा, ध्यानआदिमें इसका उपयोग हो सकताहै।[1] शृंगारका उन्होंने वर्ण श्याम[2] और देवता विष्णु मानाहै।[3] अभिनवने यहाँ विष्णु शब्दका अर्थ कामदेव लगायाहै।[4] शृंगार रसको भरतने स्त्री-पुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृति बतायाहै।[5] युवावस्थाके आनेपर कुक्षिआदिके बालों तथा स्तनाग्रआदिमें श्यामता आजातीहै, अतएव वयःसन्धिमें स्थित नायिकाको 'श्यामा' कहा जाताहै।[6] सम्भवतः इसी कारण शृंगार रसका भी वर्ण श्याम मान लियागया। अथवा, विष्णु देवताका श्यामवर्णप्रथित होनेके कारण भी शृंगार रस श्याम में रंग गया। अस्तु।

भानुदत्तने भी शृंगारका देवता स्वयं विष्णुको कहाहै। (और सम्भवतः उन्हींके रंगके कारण इसका भी) रंग श्याम बतायाहै।[7] वे कहतेहैं कि शृंगार इसलिए प्रथम गणनीयहै कि उसके अधिदेवता विष्णु हैं।[8]और वह सर्वाभिलषणीय है। और रसमंजरीमें केवल उसीका विवेचन इसलिए करतेहैं कि वह अभ्यर्हिततम रस है।[9] विश्वनाथने भी शृंगारका श्यामवर्ण तथा विष्णुदेवता मानाहै।[10]

कविकृष्ण शर्माने अपने मन्दारमरन्द चम्पूमें शृंगारका देवता विष्णु तथा वर्ण श्याम मानाहै।[11] विद्यारामने भी शृंगारके विष्णुदेवताका तथा श्यामवर्णका उल्लेख कियाहै।[12]

---

१. वर्णाभिधानं पूजादौध्यान उपयोगि—अभि० भार०,

२. श्यामोभवेत्तुश्रृंगारः—ना० शा० ६।४२

३. शृङ्गारो विष्णुदैवत्यः-- वही० ६।४४

४. विष्णुः कामदेवः—अभि० भार०,

५. स च स्त्रीपुरुषहेतुकउत्तमयुवप्रकृतिः—ना० शा०,

६. यथा—"तन्वीश्यामाशिखरिदशना"—उत्तरमेघ।
"श्यामाथहंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगतिस्म पश्चात्"—नैषध।

७. अस्य दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः—र० त० ६

८. वही, ६

९. र० मं०, पृ० ४

१०. श्यामवर्णोऽयंविष्णुर्दैवतः—सा० द० ८६

११. दैवतं विष्णुरेवास्यवर्णः श्यामः प्रकीर्तितः॥--म० म० च०

१२. अथास्यदैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः स्मृतो बुधैः--र० दी० २।६

नाट्यवृत्तियाँ—भरतने नाट्यवृत्तियोंका निरूपण कियाहै। उनके महत्त्वके विषयमें नाट्यशास्त्रकार कहतेहैं कि वृत्तियाँ सभी काव्योंकी जननी मानी गईहै। इन्हीं वृत्तियोंके प्रयोगसे दशरूपका प्रादुर्भाव हुआहै।[१] और अभिनव तो यहाँ तक कहतेहैं कि सम्पूर्ण संसार इन चार वृत्तियोंसे व्याप्त है।[२] वृत्ति शब्दकी व्युत्पत्ति है 'वर्तनंवृत्तिः' इस प्रकार मन, वचन तथा शरीरकी चेष्टाएँ ही वृत्ति कही जातीहैं। नाटकादि प्रबन्धोंमें उपनिबद्ध नायक-नायिकाआदिके विविध व्यापारोंको वृत्ति कहतेहैं। भगवान् हरि ही इन वृत्तियोंके प्रवर्तयिता कहे गयेहैं। नाट्यमें उनकी उत्पत्तिके विषयमें भरतने इस प्रकार विवरण दियेहै— सृष्टिके आदिमें एकार्णवभूत जगत्में मधु और कैटभके साथ युद्ध करते समय विष्णुकी वाणी एवं पद-न्यासोंसे भारतीवृत्ति प्रवृत्त हुई, शङ्गंधनुष्के धीर सत्त्वाधिक दीप्त कर वल्गितों (टङ्करों) से सात्त्वती वृत्ति हुई, संरम्भवेगबहुल, अनेक पैंतरेबाजी (नाना चारी) वाली विचित्र युद्ध-क्रियाओंसे आरभटी वृत्तिनिर्मित हुई तथा लीला-समुद्भूत अपने विचित्र अङ्गहारोंसे जो देवने अपनी शिखा बाँधी उससे कैशिकी वृत्ति निर्मित हुई। इस प्रकार भगवान्की वाणी, मन, काम तथा चेष्टाकी वृत्तियों (व्यवहारों) को ही ब्रह्माने भारती आदि नामसे प्रतिपूजित किया। नाट्यवेदके निर्माणमें जैसे पाठ्यआदि ऋग्वेदसे लिए गए कहे गये हैं, उसी प्रकार इन वृत्तियोंमें भी पाठ्य-प्रधाना भारती ऋग्वेदसे, अभिनयप्रधाना सात्त्वती यजुर्वेदसे, अनुभावादि आवेशमय रसप्रधाना आरभटी अथर्ववेदसे तथा गीतवाद्यादि उपरञ्जकप्रधाना कैशिकी सामवेदसे गृहीत मानी गई।[३] वस्तुतः भारती वृत्ति रूपक प्रबन्धोंमें चित्रित चरितोंका वाग्व्यापार है। भरतने उसे वाक्यभूयिष्ठा कहाहै।[४] तथा वाक्प्रधाना मानाहै।[५] अभिनवने भी इसे पाठ्यप्रधाना अथवा वाग्वृत्ति कहाहै।

भट्टोद्भटने काव्यमें प्रयुक्त वर्णोंके स्वरूपपर तीनप्रकारकी वृत्तियों का निरूपण कियाथा —परुषा अथवा नागरिका, ललिता अथवा उपनागरिका तथा कोमला अथवा ग्राम्या।[६] इन्हें अन्य आलङ्कारिकोंने भी अनुप्रासकी वृत्तियाँ कही हैं। आनन्दवर्द्धनने पूर्वोक्त भरतकी (नाट्य-सम्बन्धी) भारतीप्रभृति तथा भट्टोद्भटकी (काव्य-सम्बन्धी) नागरिकाप्रभृति दोनोंप्रकारकी वृत्तियोंको रसानुकूल क्रमसे अर्थ एवं शब्दका औचित्यपूर्ण व्यवहार-रूप मानाहै। उनका कहना

---

१. सर्वेषामेव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिस्सृतं ह्येतद्दशरूपंप्रयोगतः॥ —ना० शा० १८।४,

२. सर्वो हि संसारो वृत्तिचतुष्केणव्याप्तः।'—भारती

३. 'ऋग्वेदाद् भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि॥ —ना० शा० २०।२५

४. भाषती वाक्य-भूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति —ना० शा० २२।८

५. या वाक्प्रधाना.........—वही २२।२५

६. का० सा० स० १।५-७

है कि व्यवहारको ही वृत्ति कहते हैं। उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य अर्थ का व्यवहार अथवा प्रयोग होताहै, उसे कैशिकीआदि वृत्तियाँ कहते हैं, और जो वाचक शब्दका व्यवहार अथवा प्रयोग होता है, उसे उपनागरिकादि वृत्तियाँ कहते हैं। रसादि के अनुरूप प्रयुक्तकीगई ये वृत्तियाँ नाट्य एवं काव्यमें कुछ अनिर्वचनीय सौकर्य उत्पन्न कर देतीहैं। रसादि उन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंके जीवित अथवा प्राण रूप हैं।[1]

नाट्यदर्पणकारने नाट्य-वृत्तियोंका मनोवैज्ञानिकसा विवेचन कियाहै। उन्होंने पुरुषार्थ-साधक विचित्र व्यापारको वृत्ति नाम दियाहै। नाट्यमें सभी चेष्टा रसभावसे संवलित होती है। कायिक, वाचिक तथा मानस व्यापार परस्पर सम्बद्ध होतेहैं। अतः वृत्ति-तत्त्व तो एक-रूप ही है। उनमें भी जिसमें जो अंश प्रधान होताहै उसकी दृष्टिसे वृत्तियाँ चार मानी गईहैं। ये ही व्यापार वर्णनीय रूपसे जब कविहृदयमें स्थित होतेहैं तो इन्हींसे अथवा स्वयं ये ही काव्यरूपमें प्रकट होतेहैं। नाट्य ही नहीं काव्यमें भी वृत्तियाँ होतीहैं—क्योंकि कोई भी वर्ण्य विषय व्यापारशून्य नहीं होता।[2]

शिङ्गभूपालने भारतीको शब्दवृत्ति तथा अन्यतीनोंको अर्थवृत्तियाँ कहाहै।[3] विद्यारामने सभी कर्मोंकी इतिकर्तव्यताको रीति तथा उनके यथार्थरूपमें कर्ममें प्रयोगको प्रवृत्ति कहाहै।[4] वैसे तो काव्यके समस्त अङ्ग रीति-वृत्तिके अनुसार ही गुम्फित किए जानेचाहिए, किन्तु रसोंका वर्णन तो इन्हींके अनुसार ही उचितहै, अन्यथा रस पुष्ट न होगा। वह रसाभास होगा तथा लोकमें रीतिविरुद्ध कर्मकी भाँति उपहासास्पद होगा।[5] उन्होंने वैदर्भी, मागधी, गौडी और पांचाली चार रीतियाँ तथा इन्हीं रीतियोंकी क्रमसे कैशिकी, भारती, आरभटी तथा सात्त्वती ये चार वृत्तियाँ बताईहैं।[6]

शृङ्गाररसकी वृत्ति कैशिकी—इन चारोंमें कैशिकी वृत्ति शृङ्गाररसकी जीवितभूत

---

१. ध्व० ३।३३

२. ना० द०, ३ विवेक।

३. आसांतुमध्ये वृत्तीनां शब्द-वृत्तिस्तुभारती।
तिस्रोर्थवृत्तयश्शेषास्तच्चतस्रोहिवृत्तयः॥ —र० सु० १।२८६

४. इतिकर्त्तव्यतासर्वकर्मणां रीतयःस्मृताः।
वृत्तयो वर्तनं तासां याथातथ्येनकर्मसु॥ —र० दी० ४।६०

५. वही ४।५६-५६

६. वैदर्भी,मागधी, गौडी, पाँचाली चेति रीतयः। चतस्रो वृत्तयो प्यासां चतस्रो हि यथाक्रमम्॥
कैशिकी भारती चाथ तथैवारभटी परा। सात्त्वती चेति विज्ञेयाश्चतस्रो वृत्तयो प्यमूः॥ —वही ४।६१।६२

मानी गयीहै। उसके स्वरूपका विवरण भरतने इन शब्दोंमें दियाहै—[१] 'जो हृद्य वस्त्रमाल्यादि विशेषसे रंगबिरंगी, स्त्री-बहुल, विपुल प्रकारके नृत्तगीतसे पूर्ण तथा शृङ्गार सम्बन्धी उपचारोंसे युक्त हो उसे कैशिकी वृत्ति कहतेहैं। इस प्रकार कैशिकीमें शृङ्गाररसकी विभाव स्त्रियां तथा अनुभाव नृत्तगीतादि पूर्णरूपमें मिलते हैं। यह कैशिकी वृत्ति वास्तवमें शृङ्गाररसकी चेष्टा अथवा अनुभावरूप ही मानी गयीहैं। 'केशिकाएँ अर्थात् प्रशस्त केशवाली स्त्रियां जिसमें प्रधान हों वह कैशिकी वृत्तिहै।'[२] इस व्युत्पत्तिसे भी इस वृत्तिका स्त्रीबहुल, नेपथ्यविचित्र, संगीतप्रचुर तथा कामप्रवणस्वभाव स्वयं सिद्ध हो जाताहै। वस्तुतः जहाँ कहीं भी शृङ्गाररस, हासपरिहास, विलास, लालित्य एवं माधुर्य दिखाई पड़े वह सब कैशिकीवृत्तिका क्षेत्र माना जानाचाहिए।

कैशिकीके भेद—कैशिकी के चार भेद (अथवा अङ्ग) गिनाये गयेहैं—नर्म, नर्मस्फुञ्ज, नर्मस्फोट, तथा नर्मगर्भ।[३] चारोंमें नर्मका होना आवश्यक है। नर्म कहते हैं जिसमें हास्यवचन प्रधान हो।[४] इसप्रकार इन चारों नर्मप्रकारोंमें हास्यकी प्रधानता अवश्य होनीचाहिए। शृङ्गार और हास्यका साहचर्य तो निश्चित ही है।[५]

नर्मप्रकार—नर्म भी तीनप्रकारका होताहै—आस्थापितशृङ्गार, विशुद्धकरण तथा निवृत्तवीररस। इनमें जिस नर्ममें ईर्ष्याक्रोधबहुल हास होताहै, उसे आस्थापित-शृङ्गार कहतेहैं, जिसमें उपालम्भवचनानुविद्ध हास हो, उसे विशुद्धकरण; तथा जिसमें दूसरे मनको ठेस पहुँचनेकेलिए (परहृदयमाक्षेप्तुम्) हास होताहै, उसे निवृत्तवीररस कहतेहैं।

नर्मस्फुञ्ज—नर्मस्फुञ्ज वह नर्म है, जिसमें सम्भोग केवल नवसङ्गमरूप ही होताहै, जो रतिसमुदयवेषवाक्यसे संयुक्त होताहै तथा जिसमें अवसानमें पूर्वनायिकाका भय रहताहै।[६] इस प्रकार इसमें थोड़ा नर्ममें विघ्न पड़ ही जाताहै।

नर्मस्फोट—वह नर्म है, जो विविध भावलवोंसे विभूषित हो तथाजिसमें रस समग्रा-

---

१. याश्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रास्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥—ना० शा० २२।४

२. अतिशायिनः केशाःसन्त्यासामिति केशिकाः।
स्त्रियः स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणमितितत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी।

३. ना० शा० २२।४८,

४. हास्यप्रवचनबहुलं नर्मेति।—वही २२।४९

५. शृङ्गाराद्धिभवेद्धास्यः।—वही

६. नवसङ्गमेसम्भोगोरतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः। ज्ञेयो नर्मस्फुञ्जो ह्यवसानभयात्मकश्चैव॥
—ना० शा० २।५८

यथारत्नावल्यामुदयनस्यसागरिकायाश्चनर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इत्यर्थः—भारती

क्षिप्त न हो,[१] अर्थात् जो भयहासहर्षत्रासरोषआदि अंशरूपमें ही रहें, पूर्ण रूपमें नहीं। अतएव वहाँ भयानकहास्य, रौद्रआदि रसोंकी सम्भावना न होगी। रहेगा श्रृङ्गार ही, वे केवल सहायकरूप रहेंगे। नर्मस्फोटशब्दका अर्थ ही है नर्म, अर्थात् नर्मोपलक्षित श्रृङ्गारका स्फोट अथवा चमत्कारोल्लास।

नर्मगर्भ—नर्मगर्भ वह नर्म है, जहाँ नायक श्रृंङ्गारोपयोगी विज्ञान, रूप, शोभा, धन आदि गुणों द्वारा कार्यवश प्रच्छन्नरूपसे व्यवहार करताहै[२]—इस प्रकार कैशिकी वृत्ति श्रृङ्गार-रसकी चेष्टा (अनुभाव) रूपहै। काव्यमें एक ही रस तो होता नहीं, अनेक होतेहैं। अतः जो बाहुल्यसे हो उसीकी वृत्ति प्रधानरूपसे मानी जातीहै।

श्रृङ्गाररसकी वृत्ति कैशिकी—धनञ्जयने नायक और नायिकाका वर्णन कर फिर नायककी रसविशेषमें क्या व्यावृत्ति या व्यापार होताहै इसका विवेचन कियाहै।[३] वृत्तिके कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती—इन चार प्रकारोंमें श्रृङ्गाररसकेलिए कैशिकी वृत्तिको ही मानाहै, जो गीत, नृत्य, विलासादि श्रृङ्गारचेष्टाओंके कारण कोमल होतीहै[४] इस कैशिकीके भी—नर्म, नर्म-स्फिञ्ज (भरतने नर्म-स्फुञ्ज शब्दका प्रयोग कियाथा), नर्म-स्फोट तथा नर्मगर्भ—ये चार अंग माने गयेहैं।

प्रियको प्रसन्न करनेवाला विलासपूर्ण व्यापार 'नर्म' कहलाताहै। यह तीनप्रकारका होताहै—हास्यसे युक्त नर्म, श्रृङ्गार से युक्त नर्म तथा भयसे युक्त नर्म। इनमें श्रृङ्गारी नर्म तीन प्रकारका होताहै—आत्मोपक्षेपपरक, जहाँ नायक या नायिका स्वयंके प्रेमको प्रकट करते हैं; सम्भोगपरक—जहाँ सम्भोगकी इच्छा प्रकट कीजाय, तथा मानपरक। भययुक्त नर्म दोप्रकारका होताहै—शुद्ध तथा अंग। इस तरह ये छः प्रकारके नर्म वाक्, वेष तथा चेष्टाके त्रिविध प्रकाशनके अनुसार १८ प्रकारके हो जातेहैं। एक बात इस प्रसंगमें और जाननी चाहिए कि इन सभीप्रकारोंमें हास्यका समावेश तो रहता ही है।[५]

नर्मस्फिञ्ज उसे कहतेहैं जहाँ नायक तथा नायिकाको नव समागमके समय पहले तो सुख होताहै, किन्तु बादमें भय होताहै कि कहीं कोई उनके प्रेमको जान न जाये।[६] नर्म-

---

१. विविधानां भावानां लवै र्लवै र्भूषितो बहु विशेषैः यः।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तुविज्ञेयः॥ —ना० शा० २०।६०

२. विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र। प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ।
—ना० शा० २१।६१

३. तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः।—द० रू० २।४७

४. वही २।४७

५. सर्वं-सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम्। —वही २।५०

६. नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भोभयान्तोनवसंगमे। —द० रू० २।५१

स्फोट वह है, जहाँ सात्त्विकादि भावोंमें लेशमात्रसे किंचित् मात्र रसकी सूचना कर दीजाय।[१] और जहाँ किसी प्रयोजनकेलिए नायक छिपकर प्रवेश करे उसे नर्मगर्भ कहतेहैं।[२] कैशिकीके ये (नर्मस्फिञ्ज, नर्म-स्फोट तथा नर्मगर्भ) अङ्ग सहास्य तथा निर्हास्य दोनों प्रकारके होतेहैं।[३] धनंजयने कैशिकीको केवल शृंगाररसकी वृत्ति कहाहै।[४] भरतने तो शृंगार और हास्य दोनों की वृत्ति कैशिकी मानी है।[५] सम्भवतः कैशिकीके नर्मआदि अंगोंको देखकर धनञ्जयने उसे केवल शृंगारकी वृत्ति कहाहै, क्योंकि इसके सारे अंग शृंगारपरक ही हैं। अतः कैशिकी प्रधानरूपसे तो शृंगार रसकी ही वृत्ति है। हास्यमें उसकी प्रधानस्थिति नहीं, वहाँ प्राधान्य भारतीका ही रहताहै।[६] यह भरतके विचारोंपर धनञ्जयका सूक्ष्म परिष्कार समझ पड़ताहै।

भोजने कामशृंगारके धर्मादि चारों प्रकारों में कामशृंगार में कैशिकी वृत्तिका होना कहाहै और मोक्षशृंगारमें सात्त्विकी वृत्ति तथा आवन्तीप्रवृत्ति मानीहै।[७]

निःशङ्कशार्ङ्गदेवने अपने संगीतरत्नाकरमें कैशिकी वृत्तिको वाणी, अंगों तथा आभरणों के सौकुमार्यसे निर्मित, गीत तथा नृत्तसे सम्पन्न शृङ्गाररससे पूर्ण तथा सौन्दर्यैकजीवित कहाहै।[८]

विश्वनाथने भी शृंगारमें कैशिकी वृत्तिका होना बतायाहै।[९] उनके अनुसार भी जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषणोंकी शोभा हो, जो रमणी पात्रोंके बाहुल्यसे विचित्र लगे, जिसमें बहुविध नृत्यगीतादिकी योजना हो, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुखसे सम्बद्ध बहुविध व्यापारोंका प्राधान्य हो तथा जो सुन्दर हावभावादिसे समन्वित हो, उसे कैशिकी वृत्ति कहा गयाहै।[१०] उसके वे ही चार अंग कहे गयेहैं। उनके लक्षणोमें अवश्य कुछ विभेद हो गयाहै। नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा

---

१. नर्मस्फोटस्तुभावानां सूचितोल्परसोलवैः —वही २।५२

२. छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भार्थहेतवे—वही २।५२

३. अंगे सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्रकैशिकी—वही २।५२

४. शृंगारे कैशिकी —वही २।६२

५. शृंगारे चैवहास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकीति च ।।—ना० शा० २३।६५

६. वृत्तिःसर्वत्र भारती—वही २।६२

७. तदेतन्मोक्षशृंगारस्वरूपमुपवर्णितम् इह प्रवृत्तिरावन्त्या सात्त्विकीवृत्तिरिष्यते ।।
—शृ० प्र०

८. वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता । उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृंगाररसनिर्भरा ।।
निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम् ।

९. शृंगारे कैशिकी—सा० द० ६।१२२

१०. याश्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता । —वही ६।१२४

नर्मगर्भ[१]। इनमें नर्म वह है, जिसे प्रियजनका मनोरंजक बहुविधक्रीडाविलास कहते हैं।[२] वह भी तीन प्रकारका होता है—शुद्ध अथवा केवल हासपरिहासमय, शृंगारामिश्रितहास्यमय, तथा भयमिश्रितहास्यमय।[३] नर्मस्फूर्ज प्रेमी-प्रेमिकाका ऐसा नवसंगम-रूप है जो आरम्भमें तो आनन्ददायक होताहै, किन्तु अन्तमें (प्रतिनायकके कारण) भयका जनक हुआ करताहै,[४] नाट्यशास्त्रमें इसका नर्मस्फुञ्ज नाम दिया गयाहै। अभिनवने स्फुञ्जका अर्थ विघ्न कियाहै।[५] जो इसके लक्षणवाक्यके साथ पूर्णतः संगत होताहै। दशरूपकमें इसे ही नर्मस्फिञ्ज कह दिया है। नर्मस्फोट वह कैशिकीप्रकार है, जिसमें भय, हास, हर्ष, त्रास, रोषादि विविध भाव-लेशोंसे प्रेमी-प्रेमिकाका रतिभाव किञ्चिन्मात्र अभिव्यक्त होता है।[६] और 'नर्मगर्भ' कैशिकी-का वह भेद है, जिसमें छद्मवेषधारी प्रेमी नायकका प्रेमिकाके साथ व्यवहार निरूपित हो (नर्मगर्भो व्यवहृति नेंतुः प्रच्छन्नवर्तिनः। सा० द० ६।१२८), अभिनवने भरतके नर्मगर्भ शब्दकी व्युत्पत्ति कीहै कि जिसमें नर्मोपयोगी विज्ञानादि नायकके गुण छिपे होनेके कारण मानों गर्भीकृत रूप रहें—जैसे नायक छिपकर सङ्केत स्थानमें जाय।[७]

कृष्णकविने रसावस्थानसूचक क्रमशः शब्दव्यापार तथा नेतृव्यापाररूपसे शब्द और अर्थ की वृत्तियाँ कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती तथा भारती चारप्रकारकी मानी हैं। इनमें कैशिकी शृंगाररसकी वृत्ति है।[८] इसके चार अंग होते हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ—इनके लक्षण पूर्ववत् ही हैं।[९]

सामराज दीक्षितने शृंगारामृत लहरीमें नायकके उपाचरण अथवा व्यापाररूपकी वृत्तिको चारप्रकारका कहाहै—कौशिकी (कैशिकी ?), आरभटी भारती तथा सात्त्वती। कौ (कै)शकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलासआदि शृंगारचेष्टाओं द्वारा मृदुवृत्ति कही गयीहै। उसके भी—नर्म, नर्मस्फुञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ—चार प्रकार होतेहैं। विदग्ध क्रीड़ाको नर्म कहतेहैं, जिसका फल प्रियावशीकरण होताहै। उसके भी शुद्धसशृंगार, सभय तथा सहास्य—तीन भेद होतेहैं। इनके भी आगे उपभेद किये गयेहैं। कैशिकी वृत्ति केवल

१. नर्मच नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटो थ नर्मगर्भश्च। चत्वार्यङ्गान्यस्याः—सा० द० ६।१२५
२. वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म। इष्टजनावर्जनकृत्।—वही ६।१२५
३. तच्चापित्रिविधंमतम्। विहितं शुद्धहास्येन सशृंङ्गारभयेन च। वही ६।१२६
४. नर्मस्फूर्जःसुखारंभो भयान्तो नवसङ्गमः। —वही ६।१२७
५. नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इति—भारती
६. नर्मस्फोटो भाव-लेशैः सूचिताल्परसोमतः।—सा० द० ६।१२७
७. नर्मोपयोगिनः विज्ञानाद्या गर्भीकृताइव प्रच्छन्नतयायन्तेति। यथा प्रच्छन्नरूपो नायकः संकेतस्थानं गच्छति—भारती
८. नृत्तगीतविलासादि मृदुशृंङ्गारचेष्टितैः। समन्विताभवेद् वृत्तिः कैशिकीश्लक्ष्णभूषणा। —म० म० च०, पृ० ८८
९. वही, पृ० ८८-८९

शृंगारकी है, अन्य वृत्तियाँ अन्य रसोंमें भी होतीहैं। अतः औरोंका निरूपण नहीं किया गयाहै।

विद्याराम ने काव्यके मृदु प्रसंगमें कैशिकी वृत्ति मानीहै।[1] और शृंगारको अत्यन्त मृदुल रस मानाहै।[2] इस प्रकार शृंगारकी कैशिकी वृत्ति स्वतः सिद्ध हुई।[3] और इसी प्रकार वैदर्भी, जो कैशिकी वृत्तिकी अपनी रीति है[4], तथा जो मृदुसन्दर्भोवाली, स्निग्ध पदोंवाली लघुसमासोंवाली तथा ललित एवं अतिसुन्दर रीति कही गईहै (तत्राति मृदुसन्दर्भा, स्निग्धपदा, लघुसमासा, ललिता, अतिसुन्दरा वैदर्भी रीतिः)[5] शृंगाररस की रीति सिद्ध हुई[6]।

शृंगाररस के दोष एवं अलङ्कार—आनन्दवर्धनने रसके और उसमें भी विशेषतया शृङ्गाररसके सम्बन्धमें कई महत्वपूर्ण फुटकल विचार प्रकट कियेहैं। उनका मत है कि केवल गुण अलंकारका ही सम्बन्ध नहीं, दोषका नित्यानित्यविभागसम्बन्ध भी रससे ही होताहै—जैसे श्रुतिदुष्टआदि पद-दोष जो अनित्य रूपसे कहे गये हैं, वे, जब शृंगाररस काव्यात्मरूपसे प्रतिष्ठित हो, तभी दोष (हेय) होंगे, केवल वाच्य अर्थ के नहीं। अन्य (ओजोगुणवाले) रसके काव्यात्मरूपसे प्रतिष्ठित रहनेपर उलटे गुण होंगे, अथवा जब शृंगार प्रधानरूप से नहीं होगा तबभी वे दोषरूप नहीं होंगे।[7]

भरत द्वारा तो अलंकार, दोष तथा गुणका विवेचन भी वागभिनय के रूपमें किया गयाहै। अतः ये वागभिनय अथवा वाचिक अनुभावरूप ही माने जायेंगे। और फिर मुनिने गुणों, अलंकारों, छन्दों तथा अनित्य दोषोंका भी रसानुसार पृथक् निर्देश कियाहै। शृंगार रसमें उन्होंने रूपक तथा दीपक इन दो अलंकारोंको तथा आर्या (जातिके) छन्दोंको अभ्यर्हित कियाहै।[8] यमकको, प्रयत्न साध्य होनेके कारण, शृंगारके प्रतिकूल तो भरतने भी निश्चित ही समझ रक्खाहोगा।

---

१. कैशिकी मृदुसन्दर्भा—र० दी ४।६८

२. शृङ्गारकरुणौ चौभावत्यन्तमृदुलौ रसौ—वही ४।७६

३. इयं रीतिः (वृत्तिः ?) शृङ्गारकरुणयोः सन्दर्भे योजनीया—वही ४।७१

४ वैदर्भ्याः कैशिकी वृत्तिः--वही ४।६३

५. वही ४।६८

६. वैदर्भ्यावर्णनीयौ तौ शृङ्गारकरुणावतः। तत्रचैकैव वृत्तिः स्यात् सन्दर्भश्चातिपेशलः —वही ४।७८

७. अनित्या दोषाश्चये श्रुतिदुष्टादयः सूचिता स्तेऽपिवाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गार-व्यतिरेकिणि शृंगारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव शृंगारेऽङ्गितया व्यंग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्।
—ध्व० २।११, पृ २१४

८. रूपकदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम्। शृंगारे रसकार्यं तु काव्यंस्यान्नाटकाश्रयम्॥
—ना० शा० १७।११६

आनन्दवर्द्धनने तो बड़े स्पष्ट शब्दोंमें शृङ्गार और यमककी सहस्थिति सदोष बताई है।[१] उनका मत है कि वह अनुप्रास अलंकार, जिसमें एक प्रकारके वर्णोंका साग्रह एवं सयत्न अनुबन्धन होताहै, आत्मभूत शृङ्गाररसका व्यंजक नहीं हो पाता। क्योंकि वहाँ कवि का प्रयत्न (संरंभ) केवल अलंकारकी योजनामें ही रह जाताहै।[२] किन्तु जहाँ शृङ्गार काव्यात्मरूपसे न हो वहाँ इस प्रकारके अनुप्रासकी योजना कवि चाहे तो कर भी सकताहै[३]। और ऐसा अनुप्रास, जिसमें एक ही प्रकारके अक्षरोंकी आवृत्तिका आग्रह नहीं होता (जैसे लाट, छेकआदिमें) शृङ्गारमें दोषावह नहीं माना जाताहै[४]। इसी प्रकार जब शृङ्गार रस (काव्यात्मरूप) रहे तो यमक, मुरजचक्र-बन्धादि तथा भङ्गश्लेषादि अलंकारोंकी योजना दोषावह होतीहै। एकाध यमक चाहे कहीं, अनायास आनेके कारण, अनुकूल भी हो जाँय, किन्तु योजना तो उसकी भी शृङ्गारके प्रतिकूल ही पड़तीहै, और विप्रलम्भ शृङ्गारके तो विशेषरूप से[१]। वास्तवमें ध्वनिकारके अनुसार जिस अलंकारकी योजनाकेलिए कविको अलगसे यत्न न करना पड़े, अर्थात् उसकी रससिद्धिके साथ जो सहज रूपसे लगा चला आये, ध्वनिकाव्यमें वही अलंकर ग्राह्य होता है, और उसीके रहने पर रसादि व्यंग्य भी अक्षुण्ण बना रहता है[५]। बात यह है कि रस काव्यके वाच्य अर्थ एवं उसके प्रतिपादक शब्दों द्वारा व्यंग्य होता है। ये रूपकआदि अलंकार आखिर वाचार्थ रूप ही तो हैं, अतः रस की अभिव्यक्तिमें वे आधारभूत अङ्ग ही हैं, कोई बहिरङ्ग नहीं। किन्तु यमक या अन्य चित्रबन्ध तो बाहरसे अपनी ही छटा दिखातेहैं, उनसे रसकी अभिव्यक्ति हो ही नहीं पाती। यदि कहीं कुछ यमकों में रस प्रतीत हो भी गयातो वहाँ भी उस रसकी गौणस्थिति ही समझनी चाहिए, प्रधानता तो यमककी ही होगी। क्योंकि उस यमककी योजनामें कविको बुद्धिपूर्वक उसी प्रकारके शब्दके अन्वेषणमें एक पृथक् यत्न करना पड़ाहै। अन्य रूपकादि अर्थालंकारोंकी तो यह

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्। शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।
ध्वं० २।१५

२. शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्। सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशकः॥
—वही २।१४

३. अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्यशृंगारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिवन्धने कामचारमाह— वही।

४. एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो निबध्यमानो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम्।
—लोचन।

५. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोलऽङ्कारो ध्वनौ मतः॥—वही २।१६

विशेषता है कि रससमाहितचेता प्रतिभावान् कविकी रचनामें वे अहंपूर्विका (होड़के) साथ स्वतः निबद्ध होते जातेहैं।[1]

अतः शृङ्गार जब प्रधानतया काव्यात्मा हो तो रूपकादि अलंकार अंगरूपसे (अंगीरूप से नहीं) निविष्ट किये जाते हैं, जिनका कवि अवसरविशेषपर ग्रहण तथा अवसरविशेषपर त्याग कर सकताहै, अर्थात् जिनका पूर्ण निर्वाह ही करने पर नहीं तुल पड़ता। कवि पूर्ण सांगोपांग निर्वाह करते हुए भी जिन अलंकारोंको अंगरूपसे ही रखताहै, वे ही वस्तुतः उस रसकी अभिव्यक्तिमें साधक होते हैं।[2]

शृंगाररस एवं संघटना—आनन्दवर्धनने काव्यात्म-भूत रसके ही सम्बन्धसे असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा—यह तीन प्रकारकी संघटनाका विवेचन कियाहै। उनका मत है कि गुण एक पृथक् वस्तु है और संघटना भी एक पृथक्।[3] यह संघटना माधुर्यादि गुणोंमें रहती हुई (अर्थात् माधुर्यादिगुणोंको व्यक्त करती हुई) रसोंको अभिव्यक्त करती है[4]। यदि संघटनामें गुणोंका आश्रय माना जाय (जैसा कि भट्टोद्भटने मानाहै) या संघटना और गुण एक ही रूप माने जायँ (जैसा कि वामनने 'विशिष्टपदरचनारीतिः' कहा है) तो, संघटनाका जैसे कोई रसविशेष नियत नहीं है, वैसे ही गुणोंका भी रस-विशेषके साथ सम्बन्ध नियत न रहजायगा। और वास्तवमें बात ऐसी है नहीं। जैसे कि—माधुर्यगुण और प्रसादगुणका प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृंगारमें मिलता है, ओजस्का प्रकर्ष रौद्र और अद्भुतमें है, माधुर्य और प्रसाद (सामान्यतया) सभी रस भाव एवं रसाभास और भावाभास को अभिव्यक्त करते ही हैं। इस प्रकार गुणों का रस रूप विषय नियत व्यवस्थित है। किन्तु संघटनाओं के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता—क्योंकि शृङ्गाररस की भी रचनायें दीर्घसमासा देखी जातीहै, उसी प्रकार रौद्रादिरसों की भी असमासा। शृङ्गार रस में दीर्घ-समासा रचना का उदाहरण जैसे—

अनवरतनयनजललवनियतनपरिमुषितपत्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥—ध्व० पृ० ३१२

और रौद्र रस में असमासा रचनाका उदाहरण जैसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि श्लोक।

---

१. यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्द विशेषान्वेषणरूपः। अलंकारान्तरेष्वपि तत्तुल्य मिति चेत् नैवम्, अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति —वही

२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्यविनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्गएति यथार्थताम्। —ध्व० २।१७,१८

३. तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना—वही ३।६

४. गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्तिसा रसान्। —वही ३।६

किन्तु करुण और विप्रलम्भशृङ्गारमें तो समासरहित ही संघटना होनी चाहिए।[१] और यह इसलिए कि जब रस प्रधानरूपसे प्रतिपाद्य होताहै तब उसकी प्रतीतिमें विघ्न डालने वालोंका और उसके विरोधियोंका पूर्णरूपसे परिहार करनाचाहिए। इस प्रकार एक समस्त पदमें अनेक प्रकारके समास तथा उनके विग्रहकी सम्भावना होनेसे, दीर्घ समासवाली रचना रसप्रतीतिमें कदाचित् बाधक हो, अतः ऐसी (दीर्घसमासा) रचना वहाँ नहीं फबती। अभिनेय (दृश्य) काव्योंमें तो विशेषरूपसे दीर्घ समासोंवाली रचनाका परित्याग करना चाहिए। क्योंकि उन पदोंका आंगिक एवं वाचनिक अभिनय बिना उन्हें तोड़े सम्भव ही नहीं। करुण और शृङ्गारमें तो, चाहे वह दृश्य हो चाहे श्रव्य, दीर्घसमासवाली रचना उचित ही नहीं, क्योंकि वे दोनों अत्यन्त सुकुमार रस हैं। अतः उनमें शब्द और अर्थकी तनिक भी अस्पष्टता होनेपर रसकी प्रतीति शिथिल हो जातीहै।[२] इस प्रसंगमें यह भी अवधेय है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि उदाहरणोंमें जो दीर्घसमासारचनाके बिना भी रौद्ररसकी अभिव्यक्ति होतीहै वह प्रसादगुणके कारण। प्रसादगुण सब प्रकारकी संघटनाओं में व्यापक है। वह समस्त रसों और समस्त रचनाओंमें समानरूपसे रहनेवाला साधारण गुण है। प्रसादके बिना समासरहित रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारको अभिव्यक्त नहीं करतीहै, और उसके रहनेपर मध्यमसमासवाली रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारको अभिव्यक्त करतीहै। वस्तुतः प्रसाद गुणका तो सर्वत्र, सब रसों एवं सबरचनाओंमें अनुसरण करना सत्कविकेलिए परमावश्यक होताहै।

रसोपनिषद्-औचित्य तथा रतिभावका प्रकृत्यौचित्य—रसबन्धकी तो यह उपनिषद् है कि उसके औचित्यका निर्वाह हो। क्योंकि अनौचित्यसे बढ़कर रसभंगका अन्य कोई हेतु नहीं।[३] आनन्दवर्धनने भी रतिवर्णनमें उसी औचित्यका विचार रखना परमावश्यक बतायाहै। उत्तम, मध्यम, और अधमके विचारसे काव्य-नाटकके दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य पात्र (प्रकृतियाँ) भी प्रत्येक तीनप्रकारके होतेहैं, फिर वे वीर, रौद्र, शृङ्गार, शान्त रसकी प्रधानताके विचारसे तथा धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीर-प्रशान्त भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं।[४] भरतने अपने नाट्यशास्त्र (२०-१०१)में भारतवर्षोचित व्यवहारके अनुसार दिव्य प्रकृतियों (देवताओं)का भी रत्यादिवर्णन करना बतायाहै, किन्तु आनन्दवर्धनका कहना

१. करुणविप्रलम्भशृंगारयोस्त्वसमासैव संघटना।—ध्व० पृ० ३१९-२०

२. वही०, पृ० ३२०-२१

३. 'अनौचित्यादृतेनान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥—वही

४. 'प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च।
वीररौद्र शृंगारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः उत्तमाधममध्यमाश्च।—का० प्र० ७

है कि रति-वर्णनमें भी पात्रके अनुसार औचित्यका ध्यान रखना ही चाहिए। उसका उल्लंघन करनेसे अत्यन्त दोष होताहै। उदाहरणार्थ, उत्तमप्रकृतिका शृंगार यदि अधमोचित ढंगसे किया जाय तो वह उपहासास्पद ही रहेगा।[१] अतः देवताआदि दिव्य प्रकृतियोंका शृङ्गार जैसे उत्तम अदिव्य प्रकृति राजाआदि का भारतोचित ढंगसे किया जाता है उस प्रकारसे किया जाना चाहिए। तथा जैसे उत्तमप्रकृति राजाके विषयमें ग्राम्य शृंगारवर्णन हेय होताहै उसके ही अनुसार उत्तमदेवता विषयमें भी उसे हेय समझनाचाहिए।[२] इसलिए अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ सभी प्रकारके काव्यमें उत्तमप्रकृति राजाआदिका उत्तम प्रकृतिकी नायिकाके साथ ग्राम्य (अधमोचित) सम्भोगका वर्णन करना माता-पिताके सम्भोग-वर्णनके समान अत्यन्त अनुचित एवं असभ्यतापूर्ण है। इसी प्रकार उत्तमदेवताविषयक सम्भोगवर्णन अनुचित और असभ्य है।[३] जहाँ तक उन उत्तमप्रकृतियोंके शृङ्गारका वर्णनका प्रश्न है, उसके विषयमें आनन्दवर्धनका कहना है कि सम्भोग शृंगारका केवल सुरत वर्णनरूप ही एक प्रकार तो नहीं है। अपितु उसके परस्पर प्रेमदर्शनआदि और भी भेद हो सकतेहैं। उत्तम प्रकृतिके नायकादिके विषयमें इन्हींका वर्णन करना चाहिए। अतः रतिवर्णनमें प्रकृत्यौचित्यका ध्यान सदा रखनाचाहिए।[४] आनन्दवर्धनने इस प्रसंगमें फिर कालिदासके पार्वती-सम्भोग-वर्णनकी ओर कटाक्ष करते हुए कहा है कि इस प्रकारकी महाकवियोंकी असमीक्ष्यकारिता वस्तुतः दोष ही कही जायगी। हाँ, उनके प्रतिभातिरेकके कारण वह आपाततः प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विभावानुभावादि का ऐसा मनोरम सामंजस्य उपस्थित होता है कि सहृदय उसका पूर्ण रसास्वाद कर ही लेता है।[५]

रस का विरोधाविरोध—रसके विरोधाविरोधके प्रसंग में आनन्दवर्धनने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जब अङ्गीरस लब्ध-प्रतिष्ठ होजाय तो बाध्यरूप से अथवा अङ्गरूपसे

---

१. तथाह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने काभवेन्नोपहास्यता।—ध्व०

२. भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषुराजादिषु शृंगारोपनिबन्धस्तथादिव्याश्रयोपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृंगारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम्—वही

३. तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्येयदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोग-वर्णनमिवसुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्—वही

४. न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्ये पि प्रभेदाः परस्पर प्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते? तस्मादुत्साहवद्रतावपिप्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्।—वही

५. यत्त्वेवंविधेविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारितालक्ष्येदृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव।—ध्व०

विरोधियोंका कथन दोषरहित होता है ।[1] जो (व्यभिचारीआदि) भाव जिस रस के स्वाभाविक अङ्गरूप हैं उनकी विरोधिता भी दोषावह नहीं होती—जैसे विप्रलम्भशृङ्गार में उसका अङ्गभूत होनेके कारण व्याधि आदि व्यभिचारी भावोंका अविरोध है, किन्तु जो अङ्ग नहीं हैं, उनका सन्निवेश दोषावह ही है जैसे—आलस्य, उग्रता, जुगुप्साआदिका, क्योंकि ये शृङ्गारके व्यभिचारी नहीं कहे गयेहैं, करुण के हैं। भरत में आलस्य, औग्रच जुगुप्साके अतिरिक्त सभी व्यभिचारियोंको शृङ्गाररसका अङ्ग मानाहै ।[2]

शृङ्गारमें अङ्गभूत मरणकी समीक्षा—इस प्रकार मानों भरतने मरणको ही शृङ्गार रसका अङ्ग मानलिया है, किन्तु, जैसा कि बादके आचार्योंने मानाहै, रस-विच्छेद होनेके कारण कवि लोग शृङ्गारमें नायक या नायिकाका मरण नहीं होनेदेते ।[3] तब ना० शा० के अनुसार मरणके भी शृङ्गाराङ्ग होनेका क्या औचित्य होगा ? आनन्दवर्धनने इस समस्या को भी अनुपम याथातथ्यके साथ सुलझायाहै । उनका कहना है कि 'मरण' यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गारका अङ्ग है तथापि उसका वर्णन करना उचित नहीं, क्योंकि जब आश्रयका ही विच्छेद होजायगा तो रस कहाँ टिकेगा । उसका भी प्रवाहविच्छेद निश्चय ही होजायगा । वहाँ फिर शृङ्गारके स्थानमें करुण आजायगा । अतः शृङ्गारमें जहाँ मरणका प्रसङ्ग लाना हो (और शृङ्गारकी शृङ्खलता अविच्छिन्न बनाये रखनीहो) वहाँ शीघ्र ही पुनः समागम करादे, अन्यथा तो करुण आ ही जायगा ।[4] कालिदास के रघुवंशमें इस प्रकारका एक प्रसङ्ग आया है। इन्दुमती की मृत्युके पश्चात् महाराज अजने विरहमें दारुण शोकसे रूग्ण होकर लम्बी बीमारीके पाश्चात् गङ्गा-सरयूके संगमपर शरीर त्याग कर देवभाव (देवत्व) को प्राप्त किया, और देवलोकमें पहलेसे ही पहुँची हुई कान्ता इन्दुमतीके साथ वे नन्दनवन के भीतर बने लीलाभवनोंमें रमण करने लगे ।[5] इसमें वर्णित मरण इसी श्लोकमें वर्णित रतिका अङ्ग है।

---

१. विवक्षितेरसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामंगभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ।। ध्व०

२. आलस्यौग्रचजुगुप्साभिर्भावैस्तुपरिवर्जिताः । उद्भावयन्तिशृंगारं सर्वेभावाः स्वसंज्ञया ।
—ना० शा० ७।१०२

३. रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते—सा० द०

४. तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपिमरणस्योपन्यासो न ज्यायान् । आश्रय-विच्छेदेरसस्यात्यन्त विच्छेद-प्राप्तेः । शृंगारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो-नात्यन्तविरोधी । दीर्घकालप्रत्यापत्तौतु तस्यान्तरा प्रवाह-विच्छेद एवेत्येवंविधेति-वृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेनकविना परिहर्तव्यम् । —ध्व० पृ० ३६६

५. तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोः देहत्यागादमरगणना लेखमासाद्यसद्यः ।
पूर्वाकाराधिकचतुरया संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमतपुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।
—रघु० ८।९५

इसरूपमें मरणको शृंगारका अङ्ग माना गयाहै। जैसा कि अभिनवने स्पष्ट कहाहै—'अत्र-स्फुटैवरत्यङ्गता मरणस्य'। कवि-परम्परामें इस प्रकारका मरण-वर्णन प्रायः पाया जाता है। परन्तु मरणकृत आत्यन्तिक वियोग या निरपेक्ष वियोग किसीको अभिप्रेत नहीं। विश्वनाथआदि आचार्योंने जो मरण को शृंगारका व्यभिचारी नहीं मानाहै, वह इसी आत्यन्तिक वियोगरूप मरण ही है।

इसी प्रकार जब शृंगार करुण का अङ्ग रहेगा तो उनका परस्पर विरोध दूर हो जायगा। जैसे—अयं स रशनोत्कर्षीपीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शीनीवीविस्रंसनः करः। इस प्रसिद्ध श्लोकमें शृंङ्गार करुणका अङ्ग बन रहाहै।

आनन्दवर्धनने इस तथ्यपर विशेष बल दियाहै कि इस विरोधाविरोधका विचार सर्वत्र तो करना ही चाहिए शृंगार रसके प्रसङ्गमें विशिष्टतया अवश्य करना चाहिए, क्योंकि शृङ्गाररस सबसे अधिक सुकुमार रस है।[1] (वैसे तो रस स्वयं सुकुमार होताहै, उसमें करुण और, उससे भी अधिक शृङ्गार—अतः तमप्प्रत्यय हुआ है—लोचन) शृंगारकी सुकुमारताका कारण यह है कि वह रतिका परिपोषरूप है। और रति स्वल्प भी कारणसे भंग हो जातीहै। अपने विरोधीके तनिक भी समावेशको रति नहीं सह सकती।[2] अतः आनन्दवर्धनका कहना है कि सत्कविको उस शृंगाररसमें सावधान रहनाचाहिए, क्योंकि उसमें तनिक भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत होजाताहै।[3] सब रसोंसे अधिक सुकुमार होनेके कारण शृंगार रसमें तनिक भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत होकर उपहासास्पद हो जाताहै। अतः उसमें कविको अत्यन्त सावधान रहनाचाहिए।[4] आनन्दवर्धनने शृंगाररसका मूल्याङ्कन करते हुए कहाहै कि—'शृंगाररसका अनुभव संसारके सभी प्राणी निश्चित रूपसे करतेहैं, अतः कमनीयताकी दृष्टिसे वह सब रसों में प्रधानभूत है।'[5]

रसादिकोंका परस्पर विरोध दोप्रकारका होताहै—सहानवस्थानविरोध तथा बाध्य-बाधकभावविरोध। सहानवस्थानविरोधमें दो पदार्थ समानरूपसे बराबरकी स्थितिमें एक

---

१. विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृंगारे सुकुमारतमो ह्यसौ॥ ध्व० ३।२८

२. स (शृ०) हि रति-परिपोषात्मकत्वाद्रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भंगसम्भवात् सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते। — वही

३. अवधानातिशयवान् रसेतत्र वसत्कविः। भवेत् तस्मिन्प्रमादोहिझटित्येवोपलक्ष्यते।
——वही ३।२९

४. तत्रैव च रसे सर्वेभ्योपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्रहि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्येक्षिप्रमेवाज्ञानविषयताभवति। —वही

५. शृंगाररसोहि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः
—वही,

जगह नहीं रह सकतेहैं। यह एकप्रकारसे अविरोध ही है और बाध्यबाधकभाव विरोधमें बाधकके उदय होते ही बाध्यका विनाश हो जाताहै। इन दोनों प्रकारके विरोधोंमें बाध्यबाधक भाव विरोध ही मुख्य है। जिन रसोंका परस्पर सहानवस्थान विरोध होताहै उनके तो परस्पर अङ्गीभाव हो जानेमें कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु जिनका बाध्यबाधक भाव विरोध है उनमें परस्पर अङ्गाङ्गीभाव नहीं बन सकता। इस सिद्धान्तको विशद करतेहुए आनन्दवर्धनका कहना है कि शृङ्गारका वीर, हास्य, रौद्र और अद्भुतके साथ अविरोध है। अभिनवने इस अविरोधकी व्याख्या इस प्रकार कीहै :--युद्धनीति, पराक्रमआदिसे कन्यारत्नके लाभमें वीरका शृङ्गारसे अविरोध रहताहै। हास्य तो वैसे भी शृङ्गारका अङ्ग रहताहै—फिर हास्य स्वयं तो कोई पुरुषार्थ है नहीं, हाँ अत्यधिक अनुरंजनात्मक होनेके कारण, शृङ्गारके साथ अविरोधी-जैसा ही है। अब रौद्र और शृङ्गारका अविरोध इसरूपमें समझनाचाहिए जैसा कि भरतने नाट्यशास्त्रमें कहाहै रौद्रआदि शृंगारका सेवन करते ही हैं, अर्थात् रौद्रादिप्रधान राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्यआदि शृंगारका सेवन करतेहैं।[1] हाँ, केवल नायिकाविषयकरौद्र शृङ्गारका विरोधी होता है।[2] इसीप्रकार, जैसे रत्नावलीमें, ऐन्द्रजालिक वर्णनके प्रसंगमें अद्भुतके साथ भी शृंगारका अविरोध हो सकताहै। अतः शृंगारका पूर्वोक्त रसोंके साथ अंगांगी भाव हो सकताहै है। किन्तु जिनके साथ शृङ्गारका बाध्यबाधक सम्बन्ध है, उनके साथ उनका अङ्गाङ्गी भाव कैसे सम्भव है—जैसे शृंगार और बीभत्सका--क्योंकि रतिस्थायीभाव अपने आलम्बनमें अनुरक्तिरूप है, जबकि जुगुप्साभाव अपने आलम्बनमें विरक्ति या पलायनरूप हुआ करताहै। अतः दोनों कैसे एकसाथ एकआश्रयमें रह सकतेहैं।[3] इसी प्रकार तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न समस्त सांसारिक विषयोंसे निर्वेदरूप सबके प्रति निरीह स्वभाव शान्त भी विषयासक्तिरूप शृंगारके साथ एकालम्बनमें कैसे रह सकताहै।[4] अतः आनन्दवर्धनने सामान्यरूपसे इस विरोधाविरोधका परिहार बताया। उनका कहना है—शृंगारआदि किसी रसके प्रधान (प्रबन्धव्यंग्य) होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी किसी भी रसका अत्यन्त परिपोष नहीं करनाचाहिए। इस नीतिसे उनका अविरोध हो सका है।[5] और आगे उन्होंने इस परिपोषाभावका तीन

---

१. तैः रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः।—लोचन

२. केवलं नायिकाविषयमौग्र्यं तत्रपरिहर्तव्यम्—वही।

३. आलम्बननिमग्नरूपतया च रतिरुत्तिष्ठति ततः पलायनरूपतया जुगप्सेति समानाश्रयत्वेन तयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम्। --वही

४. शान्तस्यापि तत्त्वज्ञान-समुत्थित-समस्तसंसारविषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतोनिरीह स्वभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यांरतिक्रोधाभ्यां विरोध एव—वही, पृ० ३८१

५. अविरोधीविरोधी वा रसोऽङ्गिनिरसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता॥ ध्व० ३।२४

प्रकार बताया — उनमें प्रथम प्रकार यह कि यदि रस अविरोधी है तो अंगीभूत रसकी अपेक्षा उसका अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए। दोनों का समान उत्कर्ष हो जाने तक भी विरोध सम्भव नहीं, जैसे—'एक ओर प्रियतमा रो रहीहै, दूसरी और युद्धके नगाड़े बज रहे हैं। अतः स्नेह और युद्धोत्साहसे वीरका हृदय दोलायमान हो रहा है।'[1] यहाँ (इस भाव-सन्धिके उदाहरणमें) वीर और शृंगारका एकाश्रय होने पर भी, दोनोंके समानरूप रहनेपर भी—विरोध नहीं है। इसी प्रकार शान्त और शृंगारके एकाश्रय विरोधका परिहार हो सकताहै—जैसे—"गलेमें पहिने हारको निकाल कर जयमालाके समान उसे घेरती हुई, सांपके स्थानपर मेखलासूत्रमें पर्यङ्कबन्ध आसन बाँधकर, झूठमूठ मन्त्र-जपके कारण हिलते हुए अधरपुटसे अभिव्यक्त हासको प्रकट करती हुई, सन्ध्यानामक सपत्नीके प्रति ईर्ष्यावश, महादेवका उपहास करती हुई देवी पार्वती तुम सबकी रक्षा करें।[2]"—यहाँ प्रकृतईर्ष्याविप्रलम्भ और तद्विरोधी मन्त्रजपादिसे व्यंग्य शान्त इन दोनों रसोंका एकाश्रय रहनेपर भी विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँपर शृंगारके विरोधी शान्तका अत्यन्त परिपोष नहीं किया गया। (यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है कि विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त दोनों ही देवविषयक रतिभावके अंग हैं)।

परिपोषके परिहारका दूसरा प्रकार यह है—अंगीरसके विरुद्ध व्यभिचारी भावोंका अधिक संनिवेश न करे, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अंगीरसके व्यभिचारीरूपमें परिणत कर दे। विरोधी रसके व्यभिचारी भावोंका यदि निवेश न किया जाय तो उसका परिपोष ही नहीं होगा, और न वह, रस ही कहा जासकेगा। अतएव 'वा' से दूसरे विकल्प की प्रबलता सूचित होतीहै, और ये दोनों विकल्प अलग-अलग नहीं हैं यह भी सूचित होता है। इसके दूसरे पक्षमें एक विशिष्ट रहस्यका उद्घाटन किया गयाहै कि विरोधी रसके व्यभिचारी भावका निवेश करनेपर भी उसको शीघ्र ही अंगीरसके व्यभिचारी भावके रूपमें परिणत कर दियाजाय। इसका सुन्दरउदाहरण जैसे—

> कोपात् कोमल-लोल-बाहुलतिका-पाशेनबद्ध्वादृढं
> नीत्वावासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयो नैवमितिस्खलत्कलगिरासंसूच्यदुश्चेष्टितं
> धन्योहन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्याहसन्॥

इसमे अंगीभूत रतिमें अंग रूपसे जो रौद्रके स्थायीभाव क्रोधका निवेश किया गया है उसमें 'बद्ध्वादृढं' इस पदसे उपनिबद्धरौद्ररससे व्यभिचारी भावका, रुदत्या और हसन् द्वारा

---

1. एकन्तो रुहइपिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो।
   णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम्॥ —ध्व० पृ०३८३
2. वही, पृ० ३८३

शीघ्र ही रतिके व्यभिचारीभाव ईर्ष्या औत्सुक्य और हर्षके रूपमें पर्यवसान हो जाताहै, अतएव रौद्रका परिपोष नहीं होपाता। यह विरोधी रसके परिपोषपरिहारका द्वितीय प्रकार हुआ। उसमें विरोधी व्यभिचारियोंके अनिवेशकी अपेक्षा (उनका) अंगिरसव्यभिचारितया अनुसन्धान अधिक प्रबल समझनाचाहिए। यह उत्तर विकल्पका दार्ढ्य ग्रन्थकारने 'वा' पद से सूचित किया है।

अब परिपोषके परिहारका तीसरा प्रकार बतातेहैं—अङ्गभूत रसका परिपोष करनेपर भी बारबार उसकी अङ्गरूपताका ध्यान रखना[1]—आनन्दवर्धनने इसी प्रसङ्गमें परिपोष परिहारके एकाध उपाय और बतायेहैं, जैसे - किसी विरोधी रसकी अङ्गीरसकी अपेक्षा न्यूनता कर लेनीचाहिए, जैसे शान्त रसके प्रधान होनेपर शृङ्गारकी अथवा शृङ्गारके प्रधान होनेपर शान्तकी।[2]

यहाँ यह सन्देह भी नहीं करना चाहिए कि परिपोष-प्राप्ति हुए बिना रसका रसत्व ही कैसे बनेगा? क्योंकि यहाँ अङ्गीरसकी अपेक्षासे उसके परिपोषकी कमी बतायी गयीहै—अर्थात् अङ्गीरसका जितना परिपोष किया जाय उतना उसके विरोधी अङ्गरसका नहीं (यहाँ विरोधी या अङ्गरससे स्थायी भाव समझनाचाहिए।) स्वत: उस विरोधीका चाहे जितना परिपोष होजाय, इसमें कोई आपत्ति नहीं।[3] यहाँ यह मत आनन्दवर्धनने उन आचार्योंके मतकी ओर संकेत करते हुए लिखा है जो यह मानते हैं कि रसोंका परस्पर अङ्गाङ्गीभाव या उपकार्योपकारकभाव नहीं होता। उनके मतसे रस वही है जो स्वत: पूर्ण चमत्काररूप हो। यदि उसकी स्वचमत्काररूप में विश्रान्ति नहीं होतीहै तो वह रस ही नहीं है। अङ्गाङ्गी भाव या उपकार्योपकारक भाव माननेमें तो अङ्गभूत या उपकारक रसकी स्वचमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है—अतः वह रस ही नहीं कहला सकता। इसलिए उन लोगोंके मतसे रसोंमें अङ्गाङ्गि-भाव सम्भव नहीं। किन्तु उनको भी ऐसे प्रबन्धोंमें, जहाँ अनेक रस हैं, रसोंमें परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध मानना ही होगा। यहाँ यही सम्बन्ध ही दूसरे शब्दों में अङ्गाङ्गि-भाव नामसे कहा गया है। क्योंकि बिना सम्बन्ध माने तो प्रबन्ध रचनाकी कथा-वस्तु का निर्माण ही नहीं हो सकताहै।[4]

---

१. अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्यरसस्येतितृतीयः। —ध्व०

२. अनया दिशाऽन्येऽपि प्रकाराउत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तुरसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वाशान्तस्य।—वही

३. परिपोषरहितस्य कथं रसत्वमिति चेत् उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य-यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्त्तव्यःस्वतस्तुसंभवी परिपोषः केन वार्यते। ध्व०

४. लोचन, पृ० ३८५

शृङ्गाररसकी हैसियत एक दृष्टि से और भी अन्य रसोंकी अपेक्षा विलक्षण है। शृङ्गार एक ऐसा रस है कि उसके अङ्गोंका जो शृङ्गार-विरोधी रसोंके साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त विरोधनिवारक लक्षणों के होनेपर ही परिहृत हो ऐसी बात नहीं है। (अपितु शिष्योंको काव्यमुखेन सदुपदेशको ग्रहण करने की ओर) उन्मुख करने के लिए विशेष रूप की काव्य-शोभा की दृष्टिसे किया जाने पर भी दूषित नहीं होता। शृङ्गाररसके अङ्गों से आकृष्ट शिष्यगण सदाचारके उपदेशोंको आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेतेहैं। भरतादिमुनियों ने शिक्षणीय जनोंके हितके लिए ही सदाचारोपदेशरूप नाटकादि गोष्ठीकी अवतारणा कीहै।[1] और फिर शृङ्गार ही एक ऐसा रस है, जो सबके मनको रमणीय एवं सुन्दर लगता है, अतः उसके विभावानुभाव संचारीआदिके समावेशसे काव्यसौन्दर्यकी वृद्धि ही होती है।[2] जैसे इस पद्य में—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तुमत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलंहिजीवितम् ॥

(स्त्रियाँ मनोरम होतीहैं यह ठीक है, संसारकी विभूतियाँ भी मनोरम होती हैं यह भी ठीक है, किन्तु यह जीवन ही, जो उनका भोग करनेवाला है, मत्तयुवतीके कटाक्षके समान अत्यन्त चञ्चल है।) यहाँ कवि शुष्क उपदेशकी भाँति यह नहीं कहता कि 'रामा, विभूतिआदि सब मिथ्या हैं, अतः सब त्यागकर वैराग्यका आश्रय लो' इत्यादि। अपितु उनकेलिए 'सत्य' शब्दका प्रयोग कर मानों परहृदयमें प्रवेश कर कहना चाहताहै कि हम मिथ्या वैराग्यकी बात नहीं करते, अपितु ये 'रामाः' और 'रम्या विभूतयः' जिसके लिए हैं वह जीवन ही अत्यन्त अस्थिर है। और अस्थिरताका उपमान बनाया शृङ्गारके प्रसिद्ध विभाव मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग, जिसकी चञ्चलतासे विश्व विमुग्ध है। अतः सर्वाभिलषणीय कटाक्षकी अस्थिरताकी उपमा देनेसे कवि वैराग्यका विषय अति सरलतासे सर्वग्राह्य बनाकर समझा दे रहाहै। एक अन्य अतिरम्य स्वरचित उदाहरण अभिनव ने अपने लोचनमें उद्धृत कियाहै—

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद् विलीयापिविलीयते मे॥

इस श्लोक में चन्द्रचूड शिवकी स्तुति है। शृङ्गार की पद्धतिमें चन्द्रचूड शिवको पति, और अपनी बुद्धिवृत्तिको चन्द्रकान्तमणिसे निर्मित पुतलीके समान सुन्दर अपनी पुत्री तथा शिवकी पत्नीरूप मानाहै। वह बुद्धिवृत्ति अपने प्रियतम शिवसे बहुत कालसे वियुक्त होनेके

---

१. विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेववा। तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति।
—ध्व० ३।३०

२. किंच शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो नविरोधी। —वही ३६६

कारण अत्यन्त वियोगसन्तप्त है। शिवके ध्यानमें तनिक देरकेलिए चित्त एकाग्र होनेसे, चन्द्रचूड़ शिवका स्पर्श पाकर वह तदाकारापन्न होनेसे स्वरूपविहीन, पतिके आलिङ्गनमें सर्वात्मना-विलीनसी होकर चन्द्रचूडके स्पर्शसे द्रवित होकर विलीन होजानेवाली चन्द्रकान्तपुत्तलिकाके समान विलीन होजाती है। यहाँ शान्तरसकी बातें शृंगारकी-सी कही गयीहैं। शान्त शृंगारका विरोधी रस है, किन्तु शृंगारकी विलक्षणता देखिए, उसके पुटसे काव्यमें अद्‌भुत चमत्कार आगया है। अतएव अश्वघोषनेभी अपने सौन्दरानन्दके प्रारम्भमें शृंगारकाव्यको अपनानेका उद्देश्य विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थ ही बताया है ? इस प्रकार आनन्दवर्धनने शृंगारका सबसे बड़ा प्रयोजन प्रतिपादित किया है—काव्यशोभाको बढ़ाना तथा काव्यको कान्तासम्मित बना देना।

इस प्रकार शृंगार रसके विषयमें आनन्दवर्धनके ध्वन्यालोकमें विकीर्ण विचारोंका यह संक्षिप्त संकलितरूप होगा—(१) शृंगार मधुर रस है, क्योंकि परमप्रह्लादन है। अतः जहाँ भी शृंगार रस होगा, वहाँ माधुर्य गुण अवश्य होगा। उसका विप्रलम्भपक्ष तो सम्भोग से भी मधुरतर है। (करुणको उन्होंने मधुरतम कहा है)। (२) जहाँ शृंगार रस प्रधान रूपमें स्थित हो, वहीं श्रुतिकटुआदि दोष माने जातेहैं। जहाँ वह प्रधान (आत्मा) रूपसे न स्थित हो, अथवा जहाँ वाच्य अर्थ प्रधान हो, वहाँ वे दोष नहीं माने जाते। (३) जहाँ अनुप्रास, यमक, तथा चित्रबन्धआदि अलंकार होंगे, वहाँ शृङ्गार रस नहीं चमत्कार दे सकता है। (४) जब शृंगाररस प्रधान रूपसे स्थित हो तो रूपकादि अलंकारोंको बहुत विचारके साथ रखनाचाहिए। (५) विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण रसमें असमासा ही संघटना रहनी चाहिए। दीर्घसमासा संघटना तो कथमपि नहीं रह सकती, क्योंकि दोनों ही अतिशय सुकुमार रस हैं। (६) किन्तु शृंगार रसमें प्रसादगुणका होना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ तक कि प्रसादगुणके रहनेपर मध्यमसमासा संघटना भी शृंगाररसकी व्यञ्जक होतीहै, और बिना उसके तो असमासा भी संघटना शृंगार रसको नहीं व्यक्त कर सकती। (७) सम्भोग शृंगार (रति) के वर्णनमें पात्रौचित्यका बड़ा ध्यान रखनाचाहिए। उत्तमप्रकृतिका ग्राम्य शृंगार अत्यन्त हेय है। उत्तम प्रकृतिका रतिके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे ही प्रेमअवलोकनआदि रूपसे ही शृंगार वर्णन किया जानाचाहिए। (८) शृंगारमें मरणकावर्णन हो तो अविलम्ब पुनः समागम का वर्णन होनाचाहिए। (९) करुणका अङ्ग बन कर रहनेपर शृंगारका करुणसे विरोध दूर हो जाताहै, जैसे 'अयं स रशनोत्कर्षी' में। (१०) शृंगाररसके प्रसङ्गमें विरोधाविरोधका विचार बड़े महत्त्वका है, क्योंकि वह सुकुमारतम रचना होती है। (११) शृंगार रस सभी मनुष्यों के लिए सुबोध होता है, अतएव उसकी प्रधानता मानी जाती है। (१२) शृंगार रसका वीर, हास्य, रौद्र और अद्‌भुत रसोंके साथ सहानवस्थितिरूप विरोध रहताहै। (१३) शृंगारके साथ बाध्यबाधक रूप विरोधके परिहारके तीन उपाय हैं: अङ्गरूपमें रखना, विरोधीका अङ्गीरसकी भाँति परिपोष न करना, तथा दोनोंके बीच किसी अविरोधी रसको रखना। (१४) जब विनेयोको उन्मुख करनेकेलिए अथवा काव्यकी शोभाके

लिए शृङ्गारके अङ्गोंका समावेश किया जाताहै तो उसका विरोधी रसोंके साथ सम्पर्क दूषित नहीं होता।

शृङ्गाररस में छन्दों का औचित्य—भरतने छन्दोंमें भी आर्याको, उसकी सुगेयताके कारण, शृङ्गारानुकूल बताया है—आर्यावृत्तसमाश्रयम्। जैसा कि शृंगारहृदय 'शाकुन्तल' की 'तव न जाने हृदयम्'[1] आदि में तथा अन्यत्र आर्यासप्तशती आदि में प्रायः सभी शृंगारकी अति मधुर उक्तियोंमें देखा जाता है। किन्तु यह भी उपलक्षण ही माना जायगा, क्योंकि अर्थयोगसे छन्दका निर्णय उन्होंने बहुत कुछ प्रयोक्ताके विवेक पर छोड़ दिया है[2]। इसी प्रकार छन्दोंमें गुणोंको भी रसके अनुसार ही सन्निविष्ट करना चाहिए। उनमें उदार अथवा मधुरआदि शब्द रसके अनुसार ही किये जानेचाहिए।

यद्यपि क्षेमेन्द्रका विषय रसादिका विवेचन नहीं है, किन्तु उन्होंने कवि बननेकेलिए कुछ विषयोंमें सुन्दर उपदेश दिये हैं, जैसे—रसादिकी दृष्टिसे छन्दोंके प्रयोगमें। रसोंके विषयमें उचित प्रयोक्तव्य छन्दोंको बताते हुए वे शृंगारकेलिए छन्द निर्देश करतेहैं—'शृंगार में उसके आलम्बनरूप उदारनायिकारूप के वर्णन में तथा उद्दीपनरूप वसन्तादिके वर्णनमें उपजाति छन्द सबसे अधिक उपयुक्त होताहै।'[3] उदाहरण केलिए उन्होंने कालिदासके कुमार-सम्भवसे दो उद्धरण दिये हैं—रूपवर्णनमें जैसे—

> मध्येन सा वेदिविलग्नमध्यावलित्रयं चारु बभार बाला।
> आरोहणार्थं नवयौवने न कामस्य सोपानमिवप्रयुक्तम्॥

वसन्तवर्णन में जैसे—

> 'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
> सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीववनस्थलीनाम्॥"

उनके अनुसार शृंगार उद्दीपन विभावों 'चन्द्रोदयादिके वर्णनों में' रथोद्धता भव्य मानी गयी है[4]। उदाहरण भी कालिदाससे दिया गयाहै—

> अङ्गुलीभिरिव केशसंचयंसन्नियम्य तिमिरंमरीचिभिः।
> कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीवरजनीमुखं शशी॥

---

१. ना० शा० ३।१३
२. शेषाणामर्थयोगेनछन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः—वही १७।११४
३. शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः॥ सु० ति०
४. 'रथोद्धताविभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु'।—वही

वर्षाके समय प्रवासविप्रलम्भके वर्णनमें मन्दाक्रान्ताको क्षेमेन्द्रने समुपयोगी बताया है। [१] जैसे कालिदास का—

'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥

पाठ्यगुण—वागभिनयके ही प्रसंगमें कुछ पाठ्यगुण भी प्रयुक्त किये जातेहैं। अभिनवने पाठ्यगुण शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार कीहै—गुणका अर्थ है उपकारक, अर्थात् जिनसे उपकृत होकर काव्य पाठ्य अथवा पठनीय हो जाताहै। [२] ये पाठ्यगुण ये हैं:—सातस्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो काकु, छः अलङ्कार तथा छः अङ्ग। [३] सात स्वरोंमें शृङ्गारकेलिए उपयोगी मध्यम तथा पञ्चम कहे गयेहैं। [४] इस शरीररूपी वीणामें स्वरके तीन उच्चारण स्थान [५] हैं—उरस्, शिरस् तथा कण्ठ। वर्ण चार कहे गये हैं [८]—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, तथा कम्पित। [७] ये उदात्तआदि वेदाङ्गशिक्षाग्रन्थोमें उदात्तआदिसे भिन्न हैं। काव्योंमें वे उदात्तआदि अर्थविशेषके नियामक नहीं बन सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर समस्त पदों में श्लेषका चमत्कार ही नष्ट होजायगा। मध्नामिकौरवशतमृआदिमें अभिधानियामक वेदप्रसिद्ध उदात्तादि स्वरोंके कारण विशिष्ट अर्थकी प्रतीति नहीं होती, अपितु काकु आदिकी सहायतासे व्यञ्जना द्वारा ही होतीहै। अतः यहाँ 'वर्ण' का अर्थ है 'अर्थविशेषके बोधक स्वरके उच्चारणकी विधि।' [९] शृङ्गाररसके अभिनयमें उदात्त (उच्च) तथा स्वरित (मध्यम)—इन दो वर्णों अर्थात् 'पाठ्योपकारकस्वरधर्मोंका' प्रयोग किया जाता है। [१०] इसी प्रकार उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित—ये छः पाठ्यगुण और हैं, जिन्हें भरतने अलङ्कार नाम दियाहै। किन्तु ये अलङ्कार यमक उपमाआदि अलङ्कारोंसे

---

१. 'प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते'—सु० ति०
२. गुणा उपकारकाःयदुपकृतंकाव्यं पाठ्यं भवति—भारती।
३. ना० शा० १६,
४. 'हास्यशृङ्गारयोःकार्यौ स्वरौ मध्यम-पञ्चमौ। वही १६।३८
५. शारीर्यामयवीणायांत्रिभ्यः स्थानेभ्य एवतु।
उरसःशिरसः कण्ठात् स्वरः काकुःप्रवर्तते ॥ वही १६।४०-४१
६. वही १६।४३
७. वही १६।४३
८. 'उच्चता नीचता मध्यमता उच्चनीचोभयडोलावलम्बनमितिचत्वारः स्वरधर्माः। वर्णा गुणा यदि वा पाठ-क्रिया-विस्तारका, विवृण्वते प्रकटयन्ति स्वार्थविशेषमिति वा—भारती
९. तत्रहास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तै·········।
पाठ्यमुपपादयेत्। —ना० शा० १६

भिन्न अर्थवाले हैं। ये अलङ्कार काकुके स्वरूपको निष्पन्न करतेहैं।[1] इसप्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो ये छः प्रकारके अलङ्कार वस्तुतः छः प्रकारकी काकु ही हैं। फिर पाठ्य-गुणरूपमें ही विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन तथा प्रशमन ये छः 'अंग' कहे गयेहैं। इनमें विच्छेद, अर्पणं,दीपन तथा प्रशमन ये चार अंग शृङ्गार रसके अभिनयमें प्रयुक्त किये जातेहैं।[2] ये छः पाठ्यगुण भी काकुविधान रूपमें ही माने जानेचाहिए। अतएव इस अध्याय के अन्तमें उपसंहार करते हुए भरत कहतेहैं—उक्तं काकुविधानं तु यथावदनुपूर्वशः।' वागभिनयमें रसभावके प्रदर्शनमें वस्तुतः यह काकु प्राणरूपसे रहतीहै।

— —

१. अलंपर्याप्तं काकोः स्वरूपं येन सम्पाद्यते सोऽलङ्कारः। —भारती

२. तत्र हास्य-शृङ्गारयोरर्पणविच्छेदनदीपनप्रशमनयुक्तं वाक्यंकार्यम्।

— ना०शा० १९।

एकादश अध्याय

भक्तिरस

श्रद्धा और प्रेम—स्त्रीपुरुषके परस्पर रति अर्थात् प्रेमभावको सभी आचार्योंने शृङ्गार रस कहाहै। किन्तु मनुष्यका हृदय तो भावोंका ही आधार माना गयाहै। उसका प्रेम प्रेयसीके अतिरिक्त अन्यत्र भी देखा जाताहै। तृणसे लेकर ब्रह्म तक उसके प्रेमके पात्र हो सकतेहैं—चर-अचर, जडचेतन, स्थावरजंगम सभी। उसकी ऐसी रतिको, जो स्त्रीसे इतरके प्रति होतीहै, अनेक आचार्योंने अनेक नाम दियेहैं। मम्मटने उसे 'भाव' कहा है।[1] प्रायः लोकमें किसी 'वस्तु' के प्रति होने वाली रतिको लोभ कहा जाता है, तथा किसी 'व्यक्ति'के प्रति होनेपर उसे प्रीति कहते हैं। फिर यह प्रीति भी व्यक्तिके प्रति कई प्रकार की होती है, क्योंकि कुछ व्यक्ति अपनेसे हर प्रकारसे बड़े और कुछ हरप्रकारसे छोटे होतेहैं। अपनेसे बड़ेके प्रति उसके किसी बड़प्पन अथवा वैशिष्ट्यके कारण मनुष्यमें जो पूज्यबुद्धि उत्पन्न होतीहै उसे लोकमें श्रद्धा कहतेहैं। यह पूज्यबुद्धि अत्यन्त शुद्ध तथा सात्त्विक होतीहै। अपने उस श्रद्धाके पात्रसे हम बदलेमें कुछ नहीं चाहते। इसी प्रकार अपनेसे छोटेके प्रति जो प्रीति होतीहै उसे वात्सल्य कहतेहैं।[2] इस प्रकार रतिस्थायी भाव द्वारा वात्सल्य, शृङ्गार तथा भक्ति—इन तीन रसोंका सर्जन होता है। यहाँ यह ध्यान रखनाचाहिए कि शृङ्गार रस तभी होताहै जब स्त्रीपुरुषविषयक प्रेमकी चर्चा होतीहै। दाम्पत्य-भाव ही शृङ्गारका मूल है, अन्यथा समवयस्कोंका प्रेम मैत्री ही कहलायेगा। पात्र-(आलम्बन) भेद के कारण ही रति द्वारा तीन विभिन्न रसोंका सर्जन होताहै, किन्तु तीनों ही दशाओंमें स्थायीभाव एक ही रति ही रहता है। यही कारण है कि वात्सल्य तथा भक्ति रसोंको स्वतंत्र न मान कर शृङ्गाररसके ही अन्तर्गत स्वीकार किया गयाहै। इस प्रकार स्थायीभावरति तथा तज्जन्य शृङ्गार अत्यन्त व्यापक ठहरतेहैं। बड़ेके प्रति होने वाली श्रद्धा और समानके प्रति होनेवाली प्रीति या प्रेममें यह अन्तर है कि प्रेमका प्रारम्भ किसीके अच्छा लगनेमात्रसे होता है, किन्तु श्रद्धाका पात्र तो कोई तभी हो सकताहै जब उसका कोई आकर्षक गुण या कार्य ऐसा हो जो उसे हमसे क्या प्रायः लोक-सामान्यसे बड़ा बना रहा है। 'हमारे अन्तःकरणमें प्रियके आदर्शरूपका संघटन उसके फैलाए हुए कर्मतन्तुके उपादानसे होता है। प्रियका चिन्तन हम

---

१. रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारीतथाञ्जितः। —भावः प्रोक्तः—का० प्र०, ४

२. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेवविशेषाः।
तुल्ययो र्या परस्परं रतिः स स्नेहः। अनुत्तमोत्तमे रतिः प्रसक्तिः। सैव भक्तिपदवाच्या। उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यं'—काव्यानुशासन-विवेक,

आँख मूँदे ही संसार को भुला कर करतेहैं, पर श्रद्धेय का चिन्तन आखें खोले हुए, संसारका कुछ अंश सामने रख कर करतेहैं । प्रेम यदि स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है । प्रेमी प्रियको अपनेलिए और अपनेको प्रियके लिए संसारसे अलग करना चाहता है । प्रेममें केवल दो पक्ष होतेहैं —प्रेमी और प्रिय । श्रद्धामें तीन—श्रद्धालु, श्रद्धेय तथा विशिष्टगुण या कार्य । प्रेममें कोई मध्यस्थ नहीं पर श्रद्धामें मध्यस्थ अपेक्षित है । यदि किसी कविका काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्तमें उस कवि या चित्रकारके प्रति एक सुहृद्भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है, क्योंकि यह काव्य या चित्र रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआहै ।[१] प्रेमका कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होताहै ।[२] पर श्रद्धाका कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होताहै । श्रद्धामें दृष्टि कर्मों पर से होतीहुई श्रद्धेय तक पहुँचती है, और प्रीतिमें प्रियपरसे होती हुई उसके कर्मोंआदिपर उतरतीहै । एकमें व्यक्तिको कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरीमें कर्मों को व्यक्ति द्वारा, एक में कर्मप्रधान है, दूसरीमें व्यक्ति ।[३] श्रद्धालु अपने श्रद्धाभाजन पर किसी प्रकारका अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रियके हृदयपर अपना अधिकार चाहताहै । श्रद्धा एक सामाजिक भाव है । अपनेश्रद्धेयको हम बहुतोंकी श्रद्धाका पात्र बनाना चाहतेहैं । यह एक प्रकारसे किसीके प्रति सार्वभौम कृतज्ञताका व्यक्त रूपसे प्रकाशन है । यह एक उच्च सात्त्विक भाव है, जो स्वार्थियों एवं अभिमानियोंमें नहीं रह सकता । इसका उद्भव ही दूसरेके महत्त्वकी स्वीकृतिकी भावनासे होता है । दूसरे शब्दोंमें, सत्पुरुषके सत्कर्म या सद्गुणोंका भावात्मक मूल्य श्रद्धा कहलाताहै ।[४] यह भाव सदा अपनेसे अधिक समर्थके प्रति होताहै ।

भक्तिभाव—यही श्रद्धा या पूज्यबुद्धि जब प्रेम या प्रीतिसे संयुक्त होतीहै तो भक्ति कहलाती है ।[५] भक्तिभाजनका सब कुछ हमें अच्छा लगने लगता है । हम सर्वात्मना उसके परवान् हो जाते हैं, सर्वथा आत्मनिवेदन कर देतेहैं । भक्तिभावनाके उदयके साथ ही दैन्यकी भावनाका, अर्थात् दूसरेके महत्त्वकी स्वीकृतिके साथ ही अपने लघुत्वकी भावना का उदय

---

१. चिन्तामणि, पृ० १६

२. जो भवभूति की इस उक्तिसे प्रमाणित है :—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
नं खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसतिहि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ (उत्तरचरित)

३. चि० म० पृ० १६

४. गुरुशास्त्रवचनेषु विश्वासः श्रद्धा ।

५. पूज्येषु अनुरागो भक्तिः

हो जाताहै। यह भावना केवल मानव हृदयमें ही उठती है, पशुहृदयमें नहीं। अपने भक्ति-भाजनका सान्निध्य पानेकेलिए ही श्रवण, कीर्तन आदि नवधा चेष्टायें या प्रयत्न गिनाये गयेहैं, जो नवधा भक्तिके नामसे प्रसिद्ध हैं। यहाँ एक बात और कहनी है कि भक्ति प्रायः ऐसी प्रीति होतीहै जो प्रेमीको समाजसे तथा परिवारसे भी विच्छिन्न कर देतीहै। उसमें प्रियपक्ष-का प्रबलराग जीवनके अन्य सब पक्षोंसे पूर्ण विरागकी प्रतिष्ठा कर देता है। भारतीय साहित्यमें गोपियोंके प्रेमको प्रायः यही स्वरूप दिया गयाहै। भक्तिमार्गमें प्रायः यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिया गयाहै, क्योंकि यह एक ऐसा राग है, जिसके प्रभावसे (अन्य वस्तुओंसे) विरागकी साधना आपसे आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्नके हो जाती है।"[1] ऐसी भक्ति कुछ स्वीयाके प्रेमसे सादृश्य रखतीहै। कुछ सत्त्वनिष्ठ कर्मयोगी भक्त महापुरुषोंकी भगवद्भक्ति लोकजीवनसे पूर्णसम्पर्क रखते हुए भी चलती है, इसको कर्मयोग भी कहते हैं, जैसा कि गीतामें कहा है—उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त करता है।[2] एकान्त भक्तिकी अपेक्षा यह अधिक मङ्गलमयी मानी गई है। भगवद्भक्तिकेलिए प्रेमकी यही पद्धति समीचीन मानीगई है। "जब कि प्रियके सम्बन्धसे न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रियके सम्बन्धमें सारा जगत् प्रिय होसकताहै। शुद्ध भक्तिमार्गमें जगत्से विरक्तिका स्थान हम ढूंढ़तेहैं और नहीं पातेहैं। भक्तिरागकी वह दिव्यभूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत्को ब्रह्मकीही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान्के लोकपालक और लोक-रंजन स्वरूपपर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूतिको लोकमें और फैलायेगा कि चारों ओरसे खींच लेगा? हम तो जगत्के बीच हृदयके सम्यक् प्रसारमें ही भक्तिका प्रकृत लक्षण देखते हैं, क्योंकि रामकी ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होकर गया है।[3]

पाश्चात्य मनोविज्ञानके अनुसार भक्तिभावका मूल—आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञानचिन्तकोंमें एक वर्ग, जैसा कि प्रारम्भमें कहा गया है, अन्य समस्त कार्यकलापोंकी भाँति इस भक्ति-भावनाके भी मूलमें अभुक्त कामवासनाको ही स्थित मानता है। उसका मत है कि अभुक्त कामवासना ही जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें विभिन्न रूपसे प्रेरणा दिया करतीहै। इस मतके प्रवर्तक हैं सिगमण्डफ्रायड। इसी परम्पराके विद्वान् डॉ० हैवलाक एलिसका कहना है कि भक्ति भावनाके भी मूलमें इसी अभुक्त कामवासना अथवा असफल दाम्पत्यजीवनको समझनाचाहिए। "जो धार्मिक क्षेत्रमें आ गये हैं, उन्हें प्रेम और धर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भलीभाँति विदित है। प्रेम और धर्म मानवजीवनके सबसे अधिक विस्फोटकारी मौलिक मनोवेग हैं। एक क्षेत्रमें उत्पन्न स्पन्दनों द्वारा अन्य क्षेत्रका प्रभावित होना अनिवार्य है।

१. चि० म०, पृ० ८८

२. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धिंविन्दतिमानवः। गीता १८।४६

३. चि० म०, पृ० ८१

इन दोनों क्षेत्रोंमें यदि आपसमें सक्रिय सहयोग एवं सम्बन्ध हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? जन्मजात कामभाव अधिक व्यापक एवं स्पष्ट है। अवकाश पाकर अगर वह धर्मभावमें परिणत हो जाय तो वह स्वाभाविक ही है। बस मानुषी प्रेमका दैवी रूपमें बदल जानेका यही रहस्य है। धर्मभावका सबसे बड़ा स्रोत योनिभाव है। भगवत्प्रेम और दाम्पत्यप्रेम दोनों ही मनोदशायें समानरूपसे वेगवती होती हैं।" अस्तु !

प्राचीन आचार्योंकी दृष्टि में भक्ति—वेदान्त दर्शनमें तो भक्तिका विवेचन बड़े विस्तार एवं सूक्ष्मताके साथ हुआहै। यहाँ साहित्यशास्त्रमें केवल रसरूप उस भक्तिके स्वरूप एवं विकासका निरूपण प्रसङ्गोचित है। संस्कृत साहित्यके आचार्योंमें भामह और दण्डीने प्रियतर कथन व्यक्त करनेवाले श्लोकोंको प्रेयोलंकारके ही उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। दण्डीने पूर्वोक्त प्रेयस्के मूलमें प्रीति मानी है और शृङ्गार रसके मूलमें रति।[1] कुछ काव्योंमें स्नेह तथा वात्सल्यकी उत्तम अभिव्यक्तियाँ देखनेको मिलतीहैं। रुद्रटने सर्वप्रथम प्रेयस्को रस रूपमें स्वीकार किया है, और इसका स्थायी भाव स्नेहको बताया है[2]—यह स्नेह सम्भवतः रतिका ही रूपान्तर है। मित्रोंके परस्पर व्यवहारको उन्होंने प्रेयान् कहाहै।[3]

अयौन (Nonsexual) प्रेम के चार वर्ग या प्रकार—अब यदि पूर्वोक्त कथनका संक्षेपमें वर्गीकरण करें तो अयौन-प्रीतिको चार वर्गोंमें विभाजित कर सकतेहैं—

प्रथम वह, जो रुद्रटके अनुसार स्नेहमूलक मैत्रीरूप होती है। द्वितीय वह, जो माता-पिता या बड़ोंकी अपने बच्चोंके प्रति होती है, जिसे कुछ आचार्योंने वात्सल्य रस कहा है। फिर तृतीय वह, जो नेताकी ओर उसके अनुयायियोंमें अथवा राजाकी ओर उसके परिजनोंमें आदररूप होती है। और चतुर्थ वह, जो बड़ोंके प्रति श्रद्धारूप तथा देवताके प्रति भक्तिरूप होती है। मूल में इन चारों के स्थायीभाव रूप से रतिभाव ही है। कवि कर्णपूरगोस्वामी ने असम्प्रयोगविषया रतिका ही कुछ पूर्वोक्त प्रकारोंमें विभक्त किया है प्रीति, मैत्री, सौहार्द्र तथा भाव।[4] सम्प्रयोगविषया तो स्त्रीपुरुषके बीच रहतीहै, वही असम्प्रयोगविषया होने पर प्रीति कहलातीहै। मैत्री और सौहार्द्र तो प्रसिद्ध ही हैं। भाव देवादिविषयक रतिको कहतेहैं।[5] भोजके अनुसार असम्प्रयोगविषया प्रीतिमें प्रेयस्के ये सभी प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं।[6] दण्डीने जो दो उदाहरण प्रेयोऽलंकारके दिये हैं वे भक्तिके ही उदाहरण माने जा

---

१. प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतांगता—का० आ० २।२८९

२. स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्—का० अ०

३. अन्योन्यं प्रति सुहृदो र्व्यवहारो यं मतस्तत्र। वही १६।१८

४. रतिश्चेतोरंजकतासुखभागानुकूल्यकृत्।
सा प्रीतिमैत्रीसौहार्द्रभावसंज्ञाश्च गच्छति। अ० कौ० ८।६

५. सैव दैवादिविषया रतिर्भावश्चकथ्यते'—वही ५।६८

६. प्रीतिरप्येवमेव स्यान्नत्वस्यां सांप्रयोगिकी—स० क० ५

सकते हैं। उन्होंने भक्तिशब्दका प्रयोग भी कियाहै तथा उसका एक अन्य पर्याय प्रीत बताया है, क्योंकि विदुरके "अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते" इत्यादि वाक्यकी व्याख्या-सी करते हुए स्वयं दण्डी कहतेहैं – इस प्रकार विदुरने उचित उक्ति सुनाई जिससे केवल भक्तिके द्वारा समाराधनीय हरि सुप्रसन्न हो गये।[1] फिर इसी प्रेयस्के दूसरे उदाहरणमें शिवके साक्षात् करनेपर राजा राजवर्माकी उक्तिको प्रीतिका प्रकाशन कहा है[2]। सगुण एवं साकार देवोपासनाके इस देशमें, जहाँ प्रीतिके आलम्बन रूप देवके रूप, गुण, चरितोंकी कल्पना की जातीहै, भक्तिको रसोंके बीच स्थान मिलना आवश्यक था, और यह कार्य बंगालके वैष्णव आचार्योंने प्रधानतया पल्लवित और परिवर्द्धित किया। यद्यपि अभिनवने अपने 'भारती'में देवविषयक भक्ति, श्रद्धा (स्मृति, मति, धृति उत्साहआदिसे युक्त) को शान्तरसके ही भीतर गिनाहै।[3] किन्तु धनंजयने प्रीति और भक्तिको भाव ही माना, तथा हर्षआदिमें उनका स्पष्टतः अन्तर्भाव किया है।[4] शिवरामने अपने 'रसरत्नहार'में भक्तिको भावमें अन्तर्भूत कियाहै और श्रद्धारसको उन्हीं प्रसिद्ध रसोंमें ही गिनाहै। स्नेहको भी, जो रुद्रटके प्रेयान्का स्थायी भाव है, कुछ आचार्योंने पृथक् रस माना है और इसका स्थायी भाव आर्द्रता माना है। अभिनवके अनुकरणपर हेमचन्द्रने भरतमुनि द्वारा माने गये नवके अतिरिक्त रसोंका उन्हीं नवोंमें अन्तर्भाव करते समय विस्तारसे उल्लेख कियाहै। हेमचन्द्रने इस विषयमें अभिनवभारती के ही शब्दोंको प्रायः अपनाया है। और, शार्ङ्गदेवने भी 'संगीतरत्नाकर'में इसी मतका अनुसरणकिया है। उन्होंने भक्ति, स्नेहको रतिका भेदमात्र मानाहै। इसप्रकार इन कुछ आचार्योंके मतसे तो प्रीति, स्नेह, भक्ति, वात्सल्यआदि अनुरागमूलक रसोंकी सत्ता ही समाप्त हो जातीहै। माना कि इन सबके मूलमें रतिही स्थायीभावहै, किन्तु अभिव्यक्तिरूपता आलम्बनभेदसे भिन्न ही है। इसके परस्पर सूक्ष्म भेदोंको दृष्टिमें रखकर इन्हें पृथक् नाम ही देना अधिक उचित है। सभीप्रकारके स्नेहको रति या शृङ्गार नाम देना समीचीन नहीं समझ पड़ता। राम-सुग्रीव, राम-भरत, राम-लक्ष्मण, दशरथ-रामके स्नेहको सबके मूलमें रति होने के कारण, शृङ्गारनाम देना कहाँतक उचित होगा? अतः स्नेह, भक्ति, वात्सल्यकी पृथक् सत्ता माननी चाहिए। अस्तु!

---

१. इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशीधृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्चततो हरिः॥ का० आ २।२७७

२. इति साक्षात् कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मणः।
प्रीति-प्रकाशनं तच्च प्रेयइत्यवगम्यताम्॥ वही २।२७९

३. अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमति-धृत्युत्साहानुप्रविष्टे अन्यथैव अङ्गम् (शान्तस्य) इति न तयोः पृथग्रसत्वेनगणनम्।'—अभि० भा०, अ० ६,

४. प्रीति-भक्त्यादयो भावाः मृगयाक्षादयोरसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्नकीर्तिताः॥ द० रू० ४।८३

संस्कृत साहित्यशास्त्रमें रस-सिद्धान्तको शैवागम, वेदान्त, तथा कुछ सांख्यशास्त्रने प्रभावित कियाथा। किन्तु गौडीय आचार्योंने वैष्णवमाधुर्य भावके आधारपर रससिद्धान्तका नितान्त नूतन विकास किया। अपने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें श्रीरूपगोस्वामीने बड़े विस्तारके साथ भक्तिका रसके रूपमें निरूपणकियाहै। नारद, शाण्डिल्यआदि भक्तिसूत्रोंमें भक्तिका एक दार्शनिक यौगिक प्रक्रियाके रूप में विवेचन किया गयाहै—साहित्यिक रचनाओंसे उससे कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इन बंगालके वैष्णव तथा अन्य भक्तिवादी आचार्योंने श्रीमद्भागवत पुराण तथा अन्य भगवद्विषयक काव्यकृतियोंमें आस्वाद्य देवविषयक भक्तिका मार्मिक अनुशीलन कर उसे हमारे सम्मुख रक्खा है। यहाँ संक्षेपमें उस भागवत-सम्प्रदायका विवेचन अनुपयुक्त न होगा, जो इन वैष्णव आचार्योंकी रसनिरूपण शैलीकी पृष्ठभूमि रहाहै।

ईसाकी सप्तमशताब्दीके अन्त होते-होते बौद्ध धर्मका ह्रास होने लगा और धीरे-धीरे वह मन्त्र, तन्त्र, जादू-टोने तथा वामाचारका सम्प्रदाय बन गया। बिहारसे आसामतक ये तान्त्रिक बौद्ध योगी अथवा 'वज्रयानी' फैले हुएथे। फलतः वह अब शिष्ट एवं सुशिक्षित समाजकेलिए आकर्षक न रहा। दैवात् उसी समय शङ्कराचार्यके दुर्धर्ष तर्कोंके प्रबल झोकोंने उसे निर्मूलसा ही कर दिया। उन्होंने उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्रकी परमोत्कृष्ट व्याख्या प्रस्तुत कर जनमनको बलात् वैदिक ब्राह्मण धर्मकी ओर पुनः आकृष्ट किया और फलतः वैदिक धर्म पुनः प्रतिष्ठित होगया। तत्कालीन राजपूतोंकी क्षत्रियमनोवृत्तिने भी वैदिक धर्म की प्रतिष्ठामें अनुकूल योगदान किया। किन्तु शङ्कराचार्यका मत प्राधान्येन अद्वैतवादी था। उसमें निर्गुण ब्रह्मकी प्रधानरूपसे प्रतिष्ठा थी। अतः सगुण उपास्यदेवकी कल्पना भी पृथक् चली और वेदान्तके सिद्धान्तोंकी ही भक्तिपरक व्याख्या उपस्थित कीगयी। इसप्रकार दक्षिण भारतमें अनेकों भागवतसम्प्रदायोंकी स्थापना हुई, जैसे श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय तथा सनकसम्प्रदाय। भगवान् श्रीकृष्ण इन सबके परमाचार्य रहे।[1]

रामानुजाचार्य—(श्रीसम्प्रदाय) इनमेंसे दक्षिण भारतमें ही श्रीरामानुजाचार्य (१२ वीं सदीका पूर्वार्द्ध)का विशिष्टाद्वैत विशेष महत्त्वशाली हुआ, जिसमें चेतनअचेतन-विभाग-विशिष्ट ब्रह्मका अभेद अथवा एकत्व निरूपित किया गयाहै। इसी विशिष्टाद्वैतके प्रतिपादक रामानन्द हुए, इसीके पोषक गोस्वामी तुलसीदास हुए। इसमें विष्णुके राम-अवतारका परब्रह्मत्व प्रतिष्ठित किया गयाहै।

रामानुजके मतसे भगवान्की कृपा ही भगवत्प्राप्तिमें एकमात्र उपाय है—उनके विशिष्टाद्वैतमें भक्ति अन्तिमसोपान है, जिसपर चढ़कर जीव प्रभुको प्राप्त करता है। कर्मयोगके पश्चात् ज्ञानयोग और उसके भी पश्चात् भक्तियोगका उदय होताहै। किन्तु

---

१. श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः। चत्वारस्तेकलौभाव्याह्युत्कलेपुरुषोत्तमात्। (पद्मपुराण)

रामानुजकी भक्तिमें विष्णु एवं नारायणकी प्रधानता है—सीताराम अथवा राधाकृष्णकी नहीं। उसमें असीमप्रेम भाव अथवा माधुर्यभाव वाली भक्ति नहीं। रामानुजसम्प्रदायको ही श्रीसम्प्रदाय भी कहतेहैं। इस सम्प्रदायका प्रधान कार्यक्षेत्र दक्षिणभारतमें आन्ध्र तथा तामिल प्रान्त रहा।

मध्वाचार्य—(ब्रह्मसम्प्रदाय) उनके पश्चात् माध्वसम्प्रदाय आया, जिसे ब्रह्मसम्प्रदाय भी कहतेहैं, क्योंकि ब्रह्मा इसके मूल प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। मध्वाचार्य (जन्म ११९९ ई०) ने इसका लोकमें प्रवर्तन किया। माध्व मतमें अद्वैतवादियोंका खण्डन है। वहाँ ईश्वर जीव और प्रकृतिमें तात्त्विक भेद है। जगत् सत्य है। भक्तिका सर्वोच्च साधन अमला भक्ति है। मुक्ति भी चारप्रकारकी है- सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। उनमें भी सायुज्यभक्ति सर्वश्रेष्ठ है। माध्वमत द्वैतवाद का पोषक है।

निम्बार्काचार्य—(सनकसम्प्रदाय) श्रीरामानुजके कुछ ही दिन बाद दक्षिणमें श्री निम्बार्काचार्यका उदय हुआ (जन्म ११६२ ई०)। इन्होंने राधाकृष्णकी भक्तिका प्रचार किया। इससे प्रभावित हो कर जयदेवने 'गीतगोविन्दका गान किया। धार्मिक क्षेत्रमें निम्बार्काचार्यको और काव्यजगत्में जयदेव को राधाकी प्रतिष्ठाका श्रेय है। निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी थे। इनके लिखे ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजातसौरभ' तथा 'सिद्धान्तरत्न' हैं। प्रथम ब्रह्मसूत्रका भाष्य है, तथा दूसरे (सिद्धान्तरत्न) को दशश्लोकी भी कहतेहैं।

निम्बार्कके (द्वैताद्वैत भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म हैं। जीव प्रपत्ति द्वारा भगवान्का अनुग्रह पा सकताहै। भगवत्कृपासे ही आत्मामे भक्तिभाव जगताहै, जिसमें भगवान्का साक्षात्कार होताहै। निम्बार्कने कृष्णके साथ राधाकी उपासनापर भी जोर दिया, और वे राधाकृष्णके अलावा अन्य किसी देवताको नहीं मानते। दशश्लोकीमें राधाकी स्तुति कुछ इस प्रकार की गयीहै—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजांमुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेमदेवीं सकलेष्टकामदाम्॥

वस्तुतः राधाकृष्णकी उपासना आचार्य निम्बार्कसे ही प्रारम्भ हुई। रामानुजने नारायण तथा लक्ष्मीको प्रधानता दी थी—निम्बार्कने राधाकृष्णको प्रधान आराध्य बनाया। निम्बार्ककी भक्तिभावना पाँच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल। उज्ज्वल रस के भक्त हैं गोपी तथा राधा। वल्लभ एवं चैतन्य के सम्प्रदायोंमें भी उज्ज्वल रस को ही श्रेष्ठ माना गयाहै। कृष्णकी गोपियोंके साथकी लीला वैसी ही थी जैसे बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीडा करता है।[1] इसी को सनक अथवा हंस सम्प्रदाय भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य—(रुद्रसम्प्रदाय) आचार्य विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्तित (रुद्र) सम्प्रदायसे

---

१. रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब-विभ्रमः। भा० पु० १०।३३।१७।

सम्बन्धित आचार्य वल्लभ हुए। इनका जन्म सोलहवीं शताब्दीमें रायपुरके मार्गमें वनमें मध्यभारतमें हुआ था। वल्लभ शुद्धाद्वैतवादी थे, जिसमें शंकराचार्यका अद्वैत मायारहित होकर शुद्ध बन गया था। मायारहित अद्वैत ही शुद्धाद्वैत है। इस वादमें मायाको हटाकर भक्तिका समावेश कियागया, जो ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। और आचार्य वल्लभने श्रीकृष्णको शुद्धाद्वैतका ब्रह्म बताया। वे ही अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न होकर आत्मामें रमण करनेसे आत्माराम कहलातेहैं तथा दिव्यशक्तियोंसे सम्पन्न होकर बाह्य अभिव्यक्ति करनेपर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। पुरुषोत्तममें पूर्ण आनन्दका आविर्भाव होताहै। परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी लीलाएँ नित्य हैं, जो सदा वैकुंठ से भी ऊपर गोलोकमें चला करतीहैं—जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, सब शाश्वत रूपमें रहतेहैं। भगवान्‌के अनुग्रहसेभक्त भगवान्‌के आनन्दधाममें प्रवेश करताहै। इस अनुग्रहको पोषण या पुष्टि कहतेहैं। अतः वल्लभाचार्यका भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग (Path of Divine Grace) कहलाता है।[1] साधनों द्वारा मुक्ति तो मर्यादामार्ग है, और हरिअनुग्रहसे मुक्ति पुष्टिमार्ग।[2] और यह पुष्टि भी चारप्रकारकी होतीहैं—प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टिपुष्टि तथा शुद्धिपुष्टि। पुष्टिमार्गमें जीव भी तीन प्रकारके माने गयेहैं—पुष्टि-जीव, जिन्हें भगवान्‌के अनुग्रहकाही भरोसा है। मर्यादा-जीव जो वेदविधियोंका अनुसरण कर स्वर्गआदि प्राप्त करते हैं, तथा प्रवाह-जीव, जो संसारके प्रवाहमें पड़े सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमें लगे रहतेहैं। श्रीवल्लभाचार्यके मतमें व्रत, उपवास, तपस्या आदि कष्टसाध्य साधनों का विशेष महत्त्व नहीं है। इस मार्गमें हिन्दीके सूरदासआदि अष्टछापके प्रसिद्ध कवि हुए।

बङ्गप्रदेशमें वैष्णव सम्प्रदाय—बङ्ग देशमें वैष्णव भक्तिका आधार 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' है, जिसमें शिवशक्ति के अनुकरणपर कृष्णके साथ राधाकी उपासनाका विधान है। कालान्तरमें वह मधुराभक्तिरूपसे धर्म और साहित्यमें ग्रहण कर लीगई। प्रियतम अथवा प्रियतमाके रूपमें इष्टदेवकी उपासना माधुर्यभाव है। इस भावका काव्यरूपमें अपूर्वगान संस्कृतमें बंगाल में जयदेवने अपने 'गीतगोविन्द'में किया, जिसे बिहारमें विद्यापतिने दुहराया। बंगाल में जयदेव-विद्यापतिके सबसे बड़े प्रचारक तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने वाले १६ वीं शताब्दी में हुए श्रीकृष्ण चैतन्य (गौरांग) महाप्रभु। बंगालमें वैष्णवसम्प्रदायके ये सबसे बड़े नेता हुए। इनपर लोगोंकी इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णुके अवतार समझे जातेथे। विद्यापतिके ललित और पवित्र भावनाओंसे पूर्णपदोंको गाकर ये भावमें निमग्न हो जातेथे। इन्होंने जयदेव, लीलाशुक, चण्डीदास तथा विद्यापतिके पदोंका प्रयोग किया। "इन्होंने गान और नृत्यके साथ संकीर्तनको भी स्थान दिया। इनके उपदेशोंके कारण बंगालमें एक धार्मिक क्रान्तिसी उत्पन्न होगयी। सदियोंसे शैव, शाक्त और तान्त्रिक विचारधाराओंसे जकड़ी हुई बङ्गभूमि महाप्रभुके सात्विक जीवन और भक्तिपूर्ण उपदेशों के कारण राधाकृष्णकी रागानु-

---

१. 'तद्रहितानामपि स्वस्वरूपबलेनस्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते'—अणुभाष्य

२. पोषणं तदनुग्रहः —भाग० पु०

गिका भक्तिके रंगमें रंग गई "।[१] श्री महाप्रभुकी एकमात्र अवशिष्ट कृति शिक्षाष्टक अति-प्रसिद्ध है।

चैतन्यसम्प्रदाय—श्री चैतन्यमहाप्रभु द्वारा चलाया मार्ग चैतन्य-सम्प्रदाय अथवा गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय कहलाताहै। दार्शनिकरूपसे इसका सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' कहलाता है। वस्तुतः चैतन्य महाप्रभु दीक्षित तो माध्वसम्प्रदायमें हुएथे, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से निम्बार्क मतके द्वैताद्वैतके समीप हैं। उस गौडीय मतके अनुसार श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्रका भाष्य है। अतः वहाँ अन्य किसी भाष्यकी आवश्यकता नहीं कही गयीहै। हां, श्रीमध्वाचार्यके भाष्यका अवश्य सम्मान किया जाताहै। कालान्तरमें बलदेवविद्याभूषणने ब्रह्मसूत्रपर टीका लिखीहै।

श्री चैतन्य-मतपर माध्व और निम्बार्कके साथ श्रीवल्लभका भी प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। श्रीवल्लभका पुष्टिमार्ग-साधन तथा गौडीय मतका मधुरभाव-साधन प्रायः एक ही वस्तु है। अचिन्त्य भेदाभेदवाद प्रायः श्रीनिम्बार्कके द्वैताद्वैतवादके समान है। श्री निम्बार्क और श्री चैतन्यकी अचिन्त्य शक्ति भी प्रायः एक ही वस्तु है। श्रीमध्वके मतसे ब्रह्म सगुण और सविशेष है। मध्वमतानुसार जीव अणु सेवक है, और भगवान् सेव्य हैं। भगवान्के प्रसादसे ही जीवकी मुक्ति होतीहै। इस विषयमें भी चैतन्य-मत मध्वके मतसे मेल खाजाता है। माध्व और गौडीय दोनों मत जगत्को सत्य मानतेहैं। दोनों मतोंसे जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। मध्व-मतसे जीव और ब्रह्म चिरभिन्न हैं।[२]

हाँ, तो श्री चैतन्य महाप्रभुने अपने भक्तिमार्गमें राधाको प्रमुख स्थान दिया और मधुरभावकी रागानुगा भक्तिका प्रचार किया। उनकी भक्ति पाँच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इस प्रकार बंगाल में वैष्णव धर्मको महाप्रभुने बड़ा आकर्षक रूप दिया।

वैष्णव भक्तोंके यहाँ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर—ये पांच ही मुख्य रस भी माने जातेहैं, और शेष हास्य, अद्भुत, वीर, भयानक, करुण, रौद्र एवं वीभत्स, गौण रस। और ये दोनों ही वर्ग भक्तिरसके मुख्य तथा गौण दो पक्ष हैं। वैष्णवभक्तोंने तो पर-कीया प्रेमको केवल एक मानसिक अथवा आध्यात्मिक अवस्था माना था, किन्तु इस गौडीय सम्प्रदायमें परकीया प्रेमको विशेष महत्त्व दिया गया। कुछ वैष्णव सम्प्रदायोंमें राधाको स्वकीया माना गयाहै, किन्तु इस चैतन्य सम्प्रदायमें राधा कृष्णकी परकीया प्रेयसी है। पर-कीयामें आत्मत्याग और लगनकी मात्रा अधिक होतीहै। अतः, इनके सिद्धान्तानुसार, भगवान्

---

१. री० क० शृ० र० वि०

२. वही

की भक्ति परकीया भावसे ही करनी चाहिए। और गौडीय सम्प्रदायमें इस भक्तिको उज्ज्वल-रस कहा गया है। चैतन्यमहाप्रभुके शिष्य एवं महान् रसमर्मज्ञ आचार्य रूपगोस्वामीने अपने, 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थोंमें इस तत्त्वकी अपूर्व प्रतिष्ठा कीहै। उनके टीकाकार उन्हींके भतीजे जीवगोस्वामीने 'षट्सन्दर्भ'नामक अपने भागवतभाष्यमें भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कियाहै।

इस प्रकार वैष्णव एवं गौडीय भक्तिकाव्यने राधाकृष्णकी रागानुगा भक्ति का प्रचार कर उनके मधुरस्वरूपको उपस्थित किया और काव्यमें उनके प्रेमतत्त्वकी पूर्ण प्रतिष्ठा की। जयदेवके गीतगोविन्द, चण्डीदासके भजन तथा विद्यापतिकी पदावलीके प्रचारके कारण माधुर्य-भावके दाम्पत्य-प्रेमने क्रमशः भौतिक प्रेमका स्वरूप धारण किया। इसमें वासनाका समावेश होना स्वाभाविक ही था।

गौडीय सम्प्रदायके मतावलम्बियोंने व्रजमण्डलमें अपने केन्द्र स्थापित किये और व्रज-भाषाके श्रीकृष्णसम्बन्धी शृंगार-साहित्यको अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित किया। कृष्ण-काव्य तो उसमें सराबोर डूब ही गया, उसका रंग कुछ-कुछ रामकाव्यपर भी चढ़ा ही। फलतः तुलसीदास-जैसे सन्त कविने भी मर्यादा पुरुषोत्तम रामके जीवनकी भी 'हिंडोला' 'फाग' की झांकियां उपस्थित कीं।

भक्तिरस के आचार्य रूपगोस्वामी—यहाँ आचार्य रूपगोस्वामीके भक्तिरस-विवेचन-ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' का विहंगावलोकन करना है। यद्यपि आचार्य वोपदेवने भी अपने मुक्ताफलनामक ग्रन्थमें श्रीमद्भागवत पुराणके श्लोकोंका विभिन्न विषयों (शीर्षकों)के अनुसार उन्नीस अध्यायोंमें पुनर्गठन किया है, उसीमें उत्तरार्द्धमें नवों रसोंके अनुसार भी उन्हें उदाहरणरूपमें अलग-अलग अध्यायोंमें रक्खा है, किन्तु रस-सिद्धान्तका प्रतिपादन उनका कोई अपना नहीं। अस्तु!

उत्तमाभक्ति—सर्वप्रथम उत्तमा भक्तिका लक्षण करते हुए रूपगोस्वामी कहतेहैं— 'कृष्णकी सेवा या आराधना (अनुशीलन)को उत्तमाभक्ति कहते हैं, जो सभी प्रकारके अभिलाषों अथवा ईहाओंसे रहित हो, ज्ञान कर्मआदिके सिद्धान्तोंसे असम्बद्ध हो तथा (जो सेवा) कृष्ण (आराध्य)के अनुकूल (आराधक के नहीं) हो। [1] यहाँ कृष्ण शब्द लाक्षणिक है। इसका अर्थ स्वयं भगवान् कृष्ण तथा उनके अन्य रूप भी होते हैं। [2] उक्त भक्तिमें भजन-पात्र के अनुकूल प्रवृत्ति होतीहै। प्रतिकूल प्रवृत्ति भी एक प्रकारकी प्रवृत्ति बताई गईहै, जिसका आगे विवेचन

१. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति रुत्तमा॥ ह० भ० र० १।१।११

२. कृष्णशब्दश्चात्र स्वयं भगवतःश्रीकृष्णस्य तद्रूपाणां चान्येषामपि ग्राहकः।
—जीवगोस्वामी की दुर्गमसङ्ग टीका।

किया जायगा। किन्तु वह भक्ति नहीं। उत्तमभक्ति तो सभी क्लेशोंको नष्ट करनेवाली, सभी प्रकारका शुभ देनेवाली, मोक्षतकको अपनेसे लघु प्रतीत करा देनेवाली, अतिशय दुर्लभ (ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर) सान्द्रानन्दमयी तथा श्रीकृष्णको वश में कर देनेवाली होतीहै।[१] रूपगोस्वामीने इस उत्तमा भक्तिके तीन प्रकार बतायेहैं[२]—साधन, भाव तथा प्रेम। जीव-गोस्वामीने इसकी दुर्गम-संगमनी टीकामें पूर्वोक्त भेद निरूपणको केवल आपातत: (ऊपरी) ज्ञान करानेकेलिए मानाहै। और स्वयं उसके भेदोंका निरूपण दूसरे प्रकारसे किया है। उसके अनुसार प्रथमत: भक्ति दो प्रकारकी होतीहै—साधनरूपा तथा साध्यरूपा।

साध्यरूपाभक्ति—यह साध्यरूपाभक्ति हार्दरूपा (स्नेहरूपा) होतीहै। इसका भी एक नाम भक्ति ही दिया गयाहै। इसके भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह तथा राग ये पाँच भेद किये गये हैं, और इस हरिभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके परिशिष्टरूपमें रचे गये उज्ज्वलनीलमणि में मान, अनुराग तथा महाभाव—ये तीन अधिक भेद गिनाये गयेहैं, जिससे कुल मिलाकर आठ भेद होते हैं। अत: यहाँ मूल ग्रन्थ में (साध्य भक्तिके) केवल भाव और प्रेम—इन दो भेदोंका उल्लेख उपलक्षणरूपमें ही समझा जाना चाहिए।[३]

साधनरूपाभक्ति—साधनरूपाभक्ति के दो प्रकार माने गयेहैं—वैधी तथा रागानुगा।[४] जो भक्ति शास्त्रोपदिष्ट रूपमें ही प्राप्त हो तथा जिसकी प्रवृत्ति में रागका उतना स्थान न हो (जितना यह कर्त्तव्य है इसका) उसे वैधी भक्ति कहते हैं।[५] जब तक हृदयमें भोग या मोक्षकी पिशाची स्पृहा बनी रहतीहै तब तक वहाँ भक्ति-सुखका अभ्युदय नहीं हो सकता।[६] और इस सम्बन्धमें एक बात और बड़ी मार्मिक कही गईहै कि सिद्धान्ततः यद्यपि कृष्ण और विष्णुके स्वरूपोंमें कोई भेद नहीं, किन्तु भक्तिरसकेलिए कृष्ण-रूप उत्कृष्ट अथवा अधिक उपयुक्त माना जाताहै—यही भक्तिरसकी सिद्धान्त-स्थिति है।[७] इसीलिए तो कृष्णको विष्णुका लीलावतार कहा गयाहै। इस वैधी भक्तिके आचरणमें शास्त्र-प्रतिपादित

---

१. क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥ ह० भ० र० १।१।१३

२. सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमाचेति त्रिधोदिता। वही

३. दु० सं० टीका, पृ० २३

४. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा—ह० भ० र० १।२।३

५. यत्ररागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते। शासनेनेवशास्त्रस्य सा वैधीभक्तिरुच्यते।
वही १।२।३,४

६. भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाचीहृदिवर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्रकथमभ्युदयोभवेत्॥ वही १।२।११

७. सिद्धान्ततस्त्वभेदेपिकृष्ण-श्रीशस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥ वही १।२।१८

विधियों अथवा मर्यादाओंका प्राबल्य रहताहै—जपश्रवणध्यानआदि विविध उपचारोंका सविधि पालन करना पड़ताहै, अतः इसे मर्यादामार्ग भी कहतेहैं।[1]

रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्तिका स्वरूप इस प्रकार कहा गयाहै—प्रिय (इष्ट)में स्वाभाविक राग तन्मयता (परमाविष्टता)को राग कहतेहैं। उसी रागमयी भक्तिको रागात्मिका अथवा रागानुगा नाम दिया जाताहै, जैसा कि व्रजवासियोंका कृष्णके प्रति था।[2] इस रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्तिके दो प्रकार या स्वरूप माने गयेहैं—कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा।[3] भागवतपुराणका कहना है कि काम, द्वेष, भय, स्नेह किसी भावनासे ईशमें मनका लगना उनकी गतिको प्राप्त कराता है। जैसे—गोपियाँ कामभावनासे, कंस भयसे, शिशुपालआदि नरेश द्वेषसे, वृष्णिवंशीय लोग विविध सम्बन्धसे, पाण्डव स्नेहसे तथा नारदआदि मुनिजन भक्ति (दास्यभक्ति)से कृष्णकी गति प्राप्त किये।[4] कामरूपा रागानुगा भक्ति वह है, जो सम्भोगतृष्णाको भी अपने अर्थात् प्रेमरूपमें परिणत कर देतीहै, क्योंकि इसमें केवल कृष्णके सौख्यकेलिए प्रेमी (भक्त)का प्रयत्न होताहै। व्रजकी गोपियोंकी भक्ति इसी रूपकी मानी गयीहै, उनके प्रेम को 'काम' संज्ञा दी जातीहै।[5] यह कामानुगाभक्ति भी दो प्रकार की कही गईहै—सम्भोगेच्छामयी तथा तद्भावेच्छामयी।[6] और सम्बन्धरूपा वह भक्ति है, जो वृष्णियों तथा बल्लवों (अहीरों)की कृष्णके प्रति पिता, पुत्र भाईआदि सम्बन्धोंके रूपमें थी। ये कृष्णके प्रति ईशभाव नहीं रखतेथे। इनके सम्बन्धमें रागकी ही प्रधानता थी।[7] वृष्णियों बल्लवोंके अतिरिक्त भी इस प्रकारकी भक्तिके अधिकारी हैं। पुराणोंमें इनके अनेक आख्यान सुने जातेहैं। अतएव नारायण-व्यूहस्तवमें उन सबको

---

१. 'शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ॥ ह० भ० र० २।५९,६०

२. वही १।२।६२

३. वही १।२।६३

४. कामाद् द्वेषाद्भयाद् स्नेहाद्यथाभक्त्येश्वरेमनः
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।
गोप्यःकामाद् भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्यायोनृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्यावयंविभो ॥ भा० पु० ७।१।२९,३०

५. सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ॥
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते। ह० भ० र० १।२।६८,६९

६. कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेतिसाद्विधा ॥ वही १।२।८१-८२

७. ह० भ० र० १।२।७२,७३

नमस्करणीय कहा है, जो भगवान् हरिका पति, पुत्र, सुहृद्, भ्राता, पिता मित्रआदि किसी भावसे ध्यान करतेहैं ।[१] इसी सम्बन्धानुगाभक्तिको 'पुष्टिमार्ग' भी कहतेहैं ।[२] क्योंकि इसमें उनका अनुग्रह ही प्रधान रहताहै ।

भावभक्ति—साधनाभक्तिका निरूपण कर चुकनेके पश्चात् अब साध्यभक्तिके प्रथम रूप भावभक्ति का प्रसंग आताहै । शुद्धसत्त्वगुणमय प्रेमरूपी सूर्यकी किरणोंके सदृश अपनी कान्तियोंसे चित्तमें कोमलता उत्पन्न करनेवाली भक्तिको भावभक्ति कहतेहैं ।[३] अर्थात् प्रेम की प्रथमावस्था अथवा पूर्वावस्था को भाव कहते हैं ।[४] यही भाव सघन, सान्द्र अथवा विकसित होकर प्रेम कहलाने लगताहै ।[५] फिर यह भावभक्ति दो प्रकारकी मानी गयीहै—साधनाभिनिवेशजा तथा (कृष्ण एवं उनके भक्तकी) प्रसादजा ।[६] साधनाभिनिवेशज भाव वैधीमार्ग तथा रागानुगामार्ग से दो प्रकार का माना गया है ।[७] जो भाव विना साधनके कृष्ण अथवा उनके किसी भक्तकी कृपासे सहसा उत्पन्न होता है उसे प्रसादज भाव कहतेहैं ।[८]

प्रेमाभक्ति—जब भावकी यह अवस्थाहो कि उसमें चित्त भली प्रकार कोमल हो जाय तथा (प्रिय कृष्णके प्रति अन्य ममतासे रहित) ममताका अतिशय आ जाय तब वही सघन भाव प्रेमा कहलाने लगताहै ।[९] इस प्रेम के दो प्रकार हैं—भावोत्थ तथा हरि के अतिप्रसाद से उत्पन्न ।[१०] अन्तरंग अंगोंकी अनुसेवा द्वारा जब भाव परमोत्कर्षको प्राप्त करता है तो वह भावोत्थ प्रेम कहलाताहै ।[११] जिसमें भक्त उन्मत्त-सा रोता, गाता, हँसता, नाचता है ।[१२] हरिके अतिप्रसादसे उत्पन्न वह प्रेम है, जो उनकी कृपासे सत्संगआदिके कारण उनके प्रति उत्पन्न होताहै ।[१३] इस प्रेमाके और भी दो प्रकार बताये गयेहैं—माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा केवल ।[१४] विधिमार्ग (वैधीके) अनुयायिओंको माहात्म्यज्ञान-युक्तप्रेम होताहै, तथा रागानुगाके अनुयायिओंको केवल प्रेम होता है ।[१५] इसके अनन्तर साधनोंमें प्रेमभक्तिकी उत्पत्ति एवं

---

१. पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम् । ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमोनमः ॥

२. कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका ।
पुष्टिमार्गतयाकैश्चिदियंरागानुगोच्यते ॥ वही १।२।८९

३. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाध्यभाक् । रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौभावउच्यते ।
वही १।३।१

४. जैसा कि तन्त्र में कहा गया—'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्थाभाव इत्यभिधीयते ।'

५. भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ।

६. ह० भ० र० १।३।४
७. वही १।३।५
८. वही १।३।६
९. वही १।४।१
१०. वही १।४।३
११. वही १।४।४
१२. वही पृ० ११५
१३. वही १।४।४
१४. वही १।४।४
१५. वही १।४।५

विकासका क्रम बतायाहै। सर्वप्रथम प्रभुके प्रति श्रद्धा (पूज्यबुद्धि) उत्पन्न होतीहै। फिर साधुजनोंका संग, तथा तत्पश्चात् भजनव्यापार चलताहै। उससे अनर्थोंका नाश होताहै, जिससे हरिमें निष्ठा बढ़तीहै और तदनन्तर रुचि बढ़ती है। रुचि होनेपर आसक्ति होतीहै और उससे भाव उत्पन्न होता है, जो अत्यारूढ़ होकर प्रेमका रूपधारण कर लेताहै।[1] किसी धन्यव्यक्तिके ही चित्त में इस प्रकारका नूतन प्रेम उदय होताहै। इस प्रेम भावमें उन्मत्त व्यक्तिको ऐसा परमानन्द प्राप्त होताहै कि उसे सुख:दु:ख किसीकी अनुभूति नहीं होती।[2]

भक्तिरस—इतनी दूर तक भूमिकारूप में भक्तिका रूप तथा प्रकार बताया गया है। अब आगे भक्तिका रसके रूपमें निरूपण करतेहैं। रसका जो साधारण सिद्धान्त है कि विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारियोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होतीहै, उसे रूपगोस्वामीने भक्तिरसके प्रसंगमें भी प्रयुक्त कियाहै। और उसे वे इन शब्दोंमें रखतेहैं—'विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों तथा व्यभिचारियोंके द्वारा (भक्तोंके हृदयमें श्रवणादिसे स्वाद्य बन कर) यह कृष्णके प्रति रतिरूप स्थायी भाव भक्तिरस कहलाताहै।[3] जैसे अन्य रसोंकेलिए पूर्ववासनाका होना आवश्यक है वैसे ही, जिसे प्राक्तनी अथवा आधुनिकी भक्तिवासना है, उसीके हृदयमें इस भक्तिरसका आस्वाद होता है।[4] इसके लिए फिर विभावआदिका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—'कृष्ण, उनके भक्त तथा मुरली-नादआदि इस भक्तिरस के विभाव माने जायेंगे क्योंकि ये कृष्णरति के हेतु हैं। उस रतिके कार्यरूप जो स्मितादि तथा स्तब्धताआदि आठ सात्त्विक चेष्टायें कही गयीहैं, वे अनुभाव माने जायेंगे तथा निर्वेदआदि प्रसिद्ध सहायक भावोंको व्यभिचारी कहा जायगा।[5]उनमें कृष्ण तथा कृष्णके भक्त लोग तो इसके आलम्बन माने जायेंगे।[6] तथा उनके (श्रीकृष्णके) गुण, चेष्टायें प्रसाधन, स्मित, अङ्गसौरभ, वंश,

---

१. आदौ श्रद्धा ततःसाधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिःस्यात्ततो निष्ठारुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥ ह० भ० र० १।४।६,७

२, अत एव नारदपांचरात्रे—
भावोन्मत्तो हरेः किंचिन्नवेदसुखमात्मनः।
दुःखंचेति महेशानि परमानन्दमाप्लुतः॥ पृ० ११८

३. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदिभक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥ एषाकृष्णरतिः स्थायीभावोभक्तिरसोभवेत्

४. प्राक्तन्याधुनिकीचास्ति यस्य सद्भक्तिवासना
एषभक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदिजायते॥ ह० भ० र० २।१।७

५. वही २।१।१३,१४

६. कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्चबुधैरालम्बना मताः। वही २।१।१६

शृंग, नूपुर, शृंख, पदाङ्क, क्षेत्र, तुलसी, भक्त, हरिके दिनआदि भक्तिरस के उद्दीपन माने जायेंगे।[१] इस रसके अनुभाव भक्त की नृत्य, गीत, क्रोशनआदि चेष्टायें तथा स्तम्भआदि सात्त्विक भाव माने गयेहैं, जो चित्तस्थ रतिभावके बाह्यविक्रियारूप हैं।[२] और संचारीभाव वे ही पुराने तैंतीस हैं जो वाक्, अंग तथा सत्त्व द्वारा सूचित होते हैं, जो स्थायीभावकी ओर विशिष्टरूपसे अभिमुख होकर प्रवृत्त होते हैं, (अतः व्यभिचारीभाव कहलाते हैं) तथा स्थायी भावकी गतिका संचार करतेहैं।[३] (अतः संचारीभाव कहलाते हैं)। इन तैंतीसके अतिरिक्त कुछ अन्य भाव भी दिखायी पड़तेहैं जैसे—मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक निर्णय, वैक्लव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धार्ष्ट्य, तथा मतिआदि।[४] किन्तु इनका उन्हीं तैंतीसमें अन्तर्भाव होजाताहै, अतः इन्हें पृथक् नहीं दिखाया गया।[५] इन तैंतीस संचारी भावोंकी एक विशेषता यह भी है कि इनमें परस्पर कभी कोई किसीका विभाव हो जाताहै तथा कोई किसीका अनुभाव, जैसे—निर्वेदमें तो ईर्ष्या विभाव बनतीहै, किन्तु असूयामें वही ईर्ष्या अनुभाव हो जाती है, इसी प्रकार औत्सुक्यके प्रति तो चिन्ता अनुभाव होतीहै, किन्तु निद्राके प्रति वही विभाव रूप हो जातीहै।[६] इन सभी भावोंकी प्रतिकूल अथवा अनुचित रूपमें वृत्ति होनेपर इन्हें उन-उन भावोंका आभास कहा जाताहै।[७]

इन भावोंकी अभिव्यक्तिमें भी विभावादिके वैशिष्ट्यके कारण वैविध्य देखा जाता है।[८] भक्तोंके मन विविध प्रकारके होते हैं। और उस मनके अनुसार भावोंकी अभिव्यक्ति (उदयमें) भी तारतम्य (कमी-बेसी) होताहै। जैसे—जिसका चित्त गरिष्ठ, गम्भीर, महिष्ठ तथा कर्कशआदि है, उनमें ये भाव सम्यग् उन्मीलित (प्रकट) होकर भी लोगोंको स्फुटरूपसे लक्षित नहीं होते, और इसके विपरीत जिसका चित्त लघिष्ठ, उत्तान, क्षोदिष्ठ तथा कोमल-आदि होता है, उसमें थोड़ा भी उन्मीलित होनेपर लोगोंको स्पष्ट आभासित होने लगतेहैं। गरिष्ठमन स्वर्ण के पिण्ड की भाँति होता है तथा लघिष्ठ मन तूल के पिण्ड की भाँति।[९]

---

१. ह० भ० र० २।१।११४,११५
२. वही २।२।१, २ तथा २।३।६
३. वही २।४।१,२
४. वही २।४।७५,७६
५. वही २।४।७६ द्रष्टव्य—२।४।७७-७६
६. वही २।४।७६-८७
७. वही २।४।६७,६८
८. विभावनादि वैशिष्ट्याद् भक्तानाम् भेदतस्तथा।
प्रायेण सर्व भावानां वैशिष्ट्यमुपजायते॥ वही २।४।११२
९. गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत्॥ वही २।४।११३-११६

भक्तिरसका स्थायी भाव—इस प्रकार भक्तिरसके विभावादिकोंका निरूपण कर रूपगोस्वामीने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय उसके स्थायी भावका विवेचन कियाहै। स्थायी भावका तो लक्षण ही यही है कि जो अविरुद्ध तथा विरुद्ध दोनों प्रकारके भावोंको अपने वशमें करता हुआ सुराजा की भाँति सुशोभित होता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।[1] इस भक्तिरसका स्थायी भाव तो कृष्णके प्रति (भक्तकी) रति है। उसे रसज्ञोंने दो प्रकारकी मानी है—मुख्या तथा गौणी।[2] इसमें जो शुद्ध सत्त्व-विशेषरूप रति होती है, उसे मुख्यारति कहते हैं। उसके भी दो प्रकार माने गये हैं—स्वार्था तथा परार्था।[3] स्वार्था वह है, जो केवल अविरुद्धभावोंसे अपनेको पुष्ट करतीहैं।[4] तथा परार्था वह है, जो स्वयं संकुचित होती हुई अविरुद्ध भावोंको अनुगृहीत करतीहै।[5]

मुख्यारति के भेद - फिर इस मुख्या रतिके पाँच भेद माने गयेहैं—शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता[6]। शुद्धा तीन प्रकारकी होतीहै—सामान्या, स्वच्छा तथा शान्ति। इसमें अंगकम्पन, नेत्र-निमीलन तया उन्मीलन आदि होतेहैं।[7] सामान्या शुद्धा वह है, जो साधारण लोगोंकी तथा बालिका आदिकी कृष्ण के प्रति होती है। यह कोई विशेष रूप नहीं प्राप्त किये रहतीहै।[8] जब विविध रूप धारण करतीहै तो स्फटिकके समान उसे स्वच्छारति कहा जाता है। अतिशुद्ध आर्योंकी प्राय: स्वच्छ ही रति होतीहै।[9] मानसमें रतिकी निर्विकल्पताको शम कहते हैं[10]—विषयों की उन्मुखता छोड़ कर आत्माकी स्वभाव अर्थात् स्वानन्दमें स्थितिको शम कहते हैं। प्राय: शमप्रधानमुनियोंकी ममताकी गन्धसे रहित कृष्णमें परमात्मभावनासे उत्पन्न रति शान्ति कही जातीहै।[11] प्रीति, सख्य तथा वात्सल्यआदिजन्य स्वादोंसे असम्पर्कके कारण इस प्रीतिको शुद्धा कहतेहैं।[12] फिर उन लोगोंकी आराध्यत्वरूप रति, जो हरिसे न्यून रहे तथा हरिके अनुग्राह्य रहे, प्रीति कहलातीहै—यह प्रीति हरिमें

१. अविरुद्धान्‌विरुद्धांश्च भावान्योवशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते॥ ह० भ० र० २।५।१

२. स्थायीभावा त्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषयारतिः।
मुख्या गौणी च सा द्वेधारसज्ञैः परिकीर्तिता॥ वही २।५।३

३. शुद्ध सत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येतिकीर्तिता।
मुख्यापि द्विविधा स्वार्थो परार्थाचेति कीर्त्यते॥ वही २।५।३

४. अविरुद्धैः' स्फुटं भावैः पुष्णात्यात्मानमेव या। वही २।५।४

५. वही २।५।५

६. वही २।५।६

७. वही २।५।८

८. वही २।५।६

९. आर्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छारतिर्भवेत्॥ वही २/५/१२

१०. मानसे निर्विकल्पत्वंशमइत्यभिधीयते—वही २।५।१३

११. वही २।५।१२-१५

१२. स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैः। रतेरस्या असम्पर्कादियंशुद्धेतिभण्यते॥ वही २।५।१५

दो भुजाओं अथवा चार भुजाओंवाले, एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डधामवाले, कृपासागर, अचिन्तनीय, महाशक्तिवाले, सर्वसिद्धिनिषेवित, अवतारोंके मूलबीजरूप, सदात्माराम, हृद्‌गुणवाले, ईश्वर, परमआराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, समृद्धिमान्, क्षमाशील, शरणागतपालक, दक्षिण, सत्यवचन दक्ष, सर्वशुभंकर, प्रतापी, धार्मिक, शास्त्रचक्षु, भक्त-सुहृत्तम, वदान्य, तेजोयुक्त, कृतज्ञ, कीर्ति के आश्रय, वरीयान्, बलवान्, तथा प्रेमवश्य आदि रूपवाले माने गये हैं। और हरि के दास वे लोग हैं जो हरिके आश्रयमें रहने वाले उनके निदेशवशवर्ती, विश्वस्त तथा हरिकी प्रभुताका ज्ञान होने के कारण विनम्रितबुद्धिवाले होतेहैं। उनके चार प्रकार माने गयेहैं अधिकृत आश्रित, पारिषद, तथा अनुग।[१] इनमें अधिकृत दासों में ब्रह्मा, शंकर, शक्रआदिको कहा गयाहै। अधिकृत का अर्थ जीवगोस्वमी ने इसप्रकारका किया है—जिन्हें श्रीकृष्णने अधिकारी-रूप में स्थापित किया है।[२] आश्रितदास तीन प्रकार के होते हैं—शरण्य, ज्ञानिचर तथा सेवानिष्ठ।[३] और पारिषदोंमें उद्धव, दारुक, जैत्र, श्रुतदेव, शत्रुजित्, नन्द, उपनन्द, भद्रआदि यदुवंशी तथा भीष्म, परिक्षित, विदुरआदि कुरुवंशियोंमें गिनाये गयेहैं।[४] किन्तु हरिके पार्षदोंमें प्रेमविह्वल उद्धव सर्वश्रेष्ठ माने गयेहैं।[५] और अनुगदास वे हैं जो सर्वदा प्रभुकी परिचर्यामें आसक्तचित रहतेहैं। वे दो प्रकारके कहे गयेहैं—पुरस्थ तथा व्रजस्थ। पुरस्थोंमें सुचन्द्रआदि तथा व्रजस्थों में रक्तकआदिके नाम गिनाये जातेहैं।[६] व्रजस्थ अनुगोंमें रक्तक सबसे वरिष्ठ माने गयेहैं।[७] पारिषदों तथा अनुगोंको तीन वर्गोंमें बाँटाहै—धुर्य, धीर तथा वीर[८]। और आश्रित, पारिषदों एवं अनुगोंको पुनः एक प्रकारसे तीन वर्गोंमें बाँटा गया है—नित्यसिद्ध, सिद्ध तथा साधक।[९]

प्रभुताके ज्ञानसे जो भक्तके हृदयमें सादर कम्प उत्पन्न होताहै तत्पुरःसर प्रीतिको ही सम्भ्रमप्रीति कहतेहैं।[१०] इस सम्भ्रमप्रीति भक्तिरसके उद्दीपन दो प्रकारके होतेहैं—असाधारण तथा साधारण। इनमें असाधारण उद्दीपन ये हैं—अनुग्रहलाभ, चरणरजकी प्राप्ति, भोग लगाया हुआ भातआदिका लाभ, तथा हरिभक्तिकी संगतिआदि। और साधारण उद्दीपन ये

---

१. ह० भ० र० ३।२।१२-१३
२. श्रीकृष्णेन अधिकृत्यस्थापिता इत्यर्थः-दु० सं०:
३. ह० भ० र० ३।२।१५,१८
४. वही ३।२।१८–२०
५. एतेषांप्रवरः श्रीमान् उद्धवः प्रेमविक्लवः। वही ३।२।२१
६. वही ३।२।२१–२५
७. व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान्‌रक्तकोमतः॥ —वही ३।२।१५
८. वही ३।२।२६-२९
९. वही ३।२।३०
१०. वही ३।२।४०-४१

हैं—मुरली एवं शृङ्गीका नाद, सस्मित अवलोकन, गुणोत्कर्षश्रवण, चरणकमल के चिह्न, नूतन श्याम मेघ, तथा तदङ्गसौरभआदि ।[1] इसी प्रकार इसरसके अनुभाव भी दोप्रकार के गिनाये गयेहैं—असाधारण तथा साधारण[2]। इसी प्रकार स्तम्भआदि सात्त्विकतथा हर्षगर्वआदि व्यभिचारी भी इसके गिनाये गयेहैं ।[3] इस सम्भ्रम प्रीतिकी तीन अवस्थाएँ क्रमशः होतीहैं—प्रेमा, स्नेह तथा राग ।[4] जब यह सम्भ्रमप्रीति बद्धमूल होनेके कारण ह्रासशंकासे च्युत रहतीहै तब इसे प्रेमा कहतेहैं। वही प्रेमा जब सान्द्र (सघन) होकर चित्तद्रुतिकारक बनताहै तो स्नेह कहलाता हैऔर यही स्नेह जब दुःखको भी सुखरूपमें कर देताहै तथा प्राणोंको देकर भी श्रीकृष्णका सम्बन्धलव भी प्राप्त करने में प्रवृत्त होताहै तो राग कहलाताहै ।[5]

फिर इस प्रीतिभक्तिरस के दो भेद कहे गये हैं— अयोग तथा योग ।[6] हरिके संगका अभाव अयोग कहलाताहै। इस अयोगकी दशामें तन्मनस्कता तद्गुणादिका अनुसंधान तत्प्राप्तिके उपायआदिकी चिन्ता आदि चेष्टाएँ (अनुभाव) होती हैं ।[7] इस अयोगके भी दो भेद किये गयेहैं—उत्कण्ठित तथा वियोग ।[8] कभी न देखे गये हरिके प्रति दिदृक्षाको उत्कण्ठा कहतेहैं ।[9] इस स्थितिमें अयोग (विरह) के सभी व्यभिचारियोंका सम्भव रहनेपर भी औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद तथा मोहका विशिष्टरूपसे आतिशय्य होताहै ।[10] और मिले हुए हरिका साथ छूटना वियोग कहलाताहै ।[11] इस वियोग नामक सम्भ्रमप्रीतिकी बेलामें ये दस अवस्थायें होतीहैं—ताप, कृशता, जागर्या, आलम्बशून्यता (चित्तकी अनवस्थिति) अधृति (सर्वत्र अरागिता) जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा तथा मृति ।[12]

---

१. ह० भ० र० ३।२।३२,३३
२. वही ३।२।३३-३५
३. वही ३।२।३६-३८
४. एषां तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम् ।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेह स्ततो राग इतित्रिधा ॥ वही ३।२।४३
५. वही ३।२।४४-४६
६. वही ३।२।४९
७. वही ३।२।५०
८. वही ३।२।५१
९. वही ३।२।५१
१०. वही ३।२।५२, ५३
११. वही ३।२।५३
१२. वही ३।२।५४

श्रीकृष्णके साथ संगमको 'योग' (प्रीतिभक्ति) कहतेहैं। उसके तीन प्रकार माने गयेहैं सिद्धि, तुष्टि तथा स्थिति।[१] सिद्धिनामक योग (भक्ति) वह है, जिसमें उत्कण्ठित होनेपर हरिकी प्राप्ति हो जाय।[२] उनके साथ वियोग होने पर पुनः मिलन हो जाना तुष्टि कहलाता है।[३] तथा मुकुन्द के साथ सहवास को स्थिति कहते हैं।[४] यहाँ रूपगोस्वामीने उस पुराने मतका उल्लेख कियाहै, जिसके अनुसार इसकृष्णरति (अथवा देवादिविषयरति) को भावरूप ही माना गयाहै, इसकी रसावस्था स्वीकार नहीं की गईहै। किन्तु इनका कहना है कि कुछ पुराणोंमें तथा विशिष्टरूपसे भागवत पुराणमें तो यह भक्तिरस बड़ा स्पष्ट दिखायी पड़ता है।[५]

अब गौरवप्रीति का स्वरूप दिखातेहैं। श्रीकृष्ण जिनके गुरु (बड़े पूज्य) हैं, उन कृष्णके लालनीय लोगोंकी प्रीतिमें जो कृष्णके प्रति गुरुताकी भावना होतीहै वही विभावादिसे पुष्ट होकर गौरवप्रीति कहलातीहै।[६] इस गौरवप्रीतिके आलम्बन हरि तथा हरिके लालनीय (प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, साम्बआदि) होते हैं।[७] इसमें उद्दीपन हरिकी वात्सल्यपूर्ण मुसकान तथा अवलोकन है।[८] श्रीकृष्णके लालनीयोंका उनके सम्मुख नीचे आसनपर बैठना, गुरुके मार्गका अनुसरण करना, उनके कार्यभार (धुर) में हाथ बटाना, तथा स्वैराचारआदि का त्याग करना[९] आदि इसमें अनुभावहैं। अभी सम्भ्रमप्रीतिके प्रसंगमें कहे गये सभी व्यभिचारी भाव इसमें भी होतेहैं।[१०] यह गौरवप्रीति, जैसा कि अभी कहा गयाहै, देहके नातेसे कृष्णके प्रति उनके छोटे सम्बन्धियोंकी गौरवभावनापूर्ण प्रीति ही है। अतः उसे ही इसका स्थायीभाव

---

१. ह० भ० र० ३।२।५८

२. वही ३।२।५९

३. वही ३।२।५६

४. वही ३।२।६७

५. केचिदस्या रतेःकृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः।
भावत्वमेव निश्चित्यनरसावस्थतांजगुः।
इति तावदसाधीयो यत् पुराणेषुकेषुचित्।
श्रीमद्भागवते चैषप्रकटोदृश्यतेरसः ॥ वही ३।२।६०–६२

६. गौरवं-श्रीकृष्णरूपगुरुनिष्ठगुरुत्वमेवोत्तरं प्रौढत्वे पर्यवसितं यस्याम् –दु० सं०

७. ह० भ० र० ३।२।६५

८. वही ३।२।७१

९. वही ३।२।७२-७३

१०. अनन्तरोक्ताःसर्वेऽत्र भवन्तिव्याभिचारिणः।

समझना चाहिए ।[1] कुछ विशेषताके कारण यही कभी प्रेम, कभी स्नेह तथा कभी राग कहलाती है ।[2] इस गौरव प्रीतिके भी, सम्भ्रमप्रीतिकी भांति, अयोग, योग, उत्कण्ठित, वियोगआदि भेद समझनेचाहिए, यद्यपि इसका रूपगोस्वामीने विस्तार नहीं किया है । [3]

प्रेयान् भक्तिरस (मुख्य ३)—मुख्य भक्तिरसका तीसरा भेद प्रेयान् कहलाताहै । इसमें सख्य भाव आत्मोचित विभावादिकोंसे पुष्ट होकर सत्सामाजिकोंके हृदयमें प्रेयान् रस रूपसे आस्वाद्य होताहै ।[4] इसके आलम्बन हरि तथा उनके वयस्य लोग होतेहैं ।[5] हरि भी दो भुजाओंवाले श्रीकृष्ण ही अभीष्ट हैं । उनके इस रूपमें सुवेषता, दक्षता, विदग्धता, सुखिता आदि अनेक गुण गिनाये गयेहैं ।[6] और उनके वयस्य भी रूप, वेष, आदिमें उनके तुल्य, तथा उनके पूर्ण विश्वासपात्र पुरसम्बन्धी एवं व्रजसम्बन्धी लोग माने गयेहैं । पुरसम्बन्धियोंमें अर्जुनको सर्वश्रेष्ठ कहा गयाहै । व्रजवासियोंको तो सदा श्रीकृष्णैकजीवित कहा गया है । श्रीकृष्णके वयस्योंका भी चार वर्ग किया गया है—सुहृद्, सखा, प्रियसखा तथा प्रियनर्मवयस्य ।[7] इस रसके उद्दीपन हैं—हरिकी अवस्था, रूप, शृङ्ग, वेणु, विनोद, नर्म, प्रेष्ठजन, अवतारादिचेष्टाएं तथा अनुकरणआदि क्रियायें ।[8] इसके अनुभावोंमें ये चेष्टायें परिगणित हैं—श्रीकृष्णके तोषके लिए उनके साथ नियुद्ध, कन्दुक, द्यूत, सवारी, लगुडालगुडिक्रीडायुद्ध पर्यङ्क, आसन, दोला-आदि परसहोपवेशन, चारुचित्र, परिहास, सलिलविहार, लास्य तथा गानआदि ।[9] इस प्रेयान्में (श्रीकृष्णके प्रति) औग्र्य त्रास तथा आलस्यको छोड़ कर सभी व्यभिचारी भाव माने गयेहैं ।[10] इस विषयमें इतना और किया गयाहै कि प्रेयान्के अयोगरूपमें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा एवं धृति व्यभिचारी नहीं होते तथा योगरूपमें मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मृति एवं दीनता व्यभिचारी नहीं रहतेहैं ।[11] और, इस प्रेयान्का स्थायीभाव समवयस्कोंका परस्पर संभ्रमरहित विश्रम्भरूप सख्यरति मानी गयीहै ।[12] किसीके प्रति गौरवकी भावनाके कारण जो व्यग्रता होती है उसे सम्भ्रम कहते हैं ।[13]समवयस्कोंमें उसे न होनाचाहिए । इस

---

१. ह० भ० र० ३।२।७८ २. वही ३।२।७६ ३. वही ३।२।७८

४. स्थायीभावोविभावाद्यैःसख्यमात्मोचितैरिह ।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते ॥ वही ३।३।१

५. वही ३।३।२ ६. वही ३।३।३:५

७. वही ३।३।१६ ८. वही ३।३।२७-२८ ९. वही ३।३।४२-४४

१०. औग्र्यं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाःपरे ।
रसे प्रेयसि भावज्ञैःकथिता व्यभिचारिणः ॥ वही ३।३।५२

११. वही ३।३।५२-५४

१२. वही ३।३।५४-५५

१३. सम्भ्रमोऽत्र गौरवकृतवैयग्र्यम् – दु० सं०

विश्रम्भरतिके क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते हुए पाँच भेद माने गयेहैं—सख्यरति, प्रणय, प्रेमा, स्नेह तथा राग।[१]

वत्सलभक्तिरस (मुख्य ४)—मुख्यभक्तिका चतुर्थ प्रकार है वत्सलभक्तिरस, जिसमें विभावादिकोंसे पुष्ट होकर वात्सल्य स्थायी भाव रसदशाको प्राप्त करताहै।[२] इसके आलम्बन (वत्सलरूप) श्रीकृष्ण तथा उनके वे गुरुजन हैं, जिनका उनके प्रति वात्सल्य था।[३] गुरुजनोंमें यशोदा, नन्द, रोहिणी, देवकी, कुन्ती, वसुदेव तथा सान्दीपनिआदि हैं। इसके उद्दीपन हैं—कृष्णकी कौमारआदि अवस्था, रूप, वेष, शैशवचापल्य, जल्पित, स्मित तथा विविध लीलायें।[४] इसके अनुभाव हैं—(श्रीकृष्णको) सिरसे सूंघना, सारे अंगोंपर हाथ फेरना, आशीर्वाद देना, आज्ञा देना, दुलारना, रक्षण करना तथा हितोपदेशआदि करना।[५] इसमें स्तम्भआदि आठ सात्त्विकोंके अतिरिक्त एक नया सात्त्विक भाव भी माना गयाहै—स्तनसे दूध बहना (स्तन्यस्राव)।[६] अपस्माररहित वे सभी व्यभिचारी भाव इसमें होतेहैं, जो प्रीति भक्तिमें कहे गयेहैं। और इस वात्सल्यका स्थायी है अनुकम्पनीयपर अनुकम्पयिताकी सम्भ्रमादि रहित रति। उसीको वात्सल्य कहतेहैं।[७] यशोदाआदिकी वात्सल्यरति तो स्वभावसे अति प्रौढ़ होनेके कारण कभी प्रेम, कभी स्नेह तथा कभी रागकी भांति प्रतीत होती है।[८] इन प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य रसोंकी प्रायः संकुलता अथवा संकरता भी देखी जातीहै, जैसे बलराममें श्रीकृष्णके प्रति सख्य था, किन्तु प्रीतिवात्सल्यसे युक्त था, युधिष्ठिरमें वात्सल्य था, किन्तु प्रीति और सख्यसे युक्त था आदि।[९]

मधुरभक्तिरस (मुख्य ५)—मुख्य भक्ति रसका पंचम तथा सर्वप्रधान भेद है मधुरभक्तिरस, जिसमें मधुरा रति आत्मोचित विभावादिकोंसे पुष्ट होकर सत्सामाजिकोंके हृदयमें रसदशाको प्राप्त होतीहै।[१०] मधुरभक्तिरस एक दुरूह एवं रहस्यरूपरस है। अतएव इसको सविस्तार स्पष्ट करने के लिए रूपगोस्वामीने अपने 'ह० भ० र० सिन्धु' के परिशिष्ट रूपमें एक अन्य ग्रन्थकी भी रचना की 'उज्ज्वलनीलमणि'। उसमें इसका साङ्गोपाङ्ग निरूपण कियाहै।[११] इस रसके आलम्बन हैं श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रिया सुन्दरियाँ,[१२] उनकी

१. एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथाराग इति पञ्चभिदोदिता॥ ह० भ० र० ३।३।५६

२. वही ३।४।१
३. वही ३।४।२।५
४. वही ३।४।८-९
५. वही ३।४।२०-२१
६. नवात्र सात्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्चते। वही ३।४।२३
७. वही ३।४।२४
८. वही ३।४।२५
९. वही ३।४।२९-३३
१०. वही ३।५।१
११. मुख्यरसेषु पुरायः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः॥ उ० नी० म०
१२. अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः। ह० भ० र० ३।५।३

प्रेयसियों में भी वृषभानुजा राधा सर्वश्रेष्ठ मानी गयीहैं।[१] इस भक्तिरसके उद्दीपन हैं मुरली नाद आदि। अनुभाव हैं कटाक्षस्मितआदि। व्यभिचारी भाव हैं आलस्य और उग्रताके अतिरिक्त अन्य सभी भाव। इसका स्थायी है पूर्वोक्त मधुरा रति।[२] यह मधुरभक्तिरस दो प्रकारका माना गयाहै—विप्रलम्भ और सम्भोग। वस्तुतः इसका रूप साधारण शृङ्गार रसका ही है, अन्तर इतना ही है कि इसमें नायक साधारण पुरुष न होकर नन्दनन्दन हैं—अतः इसे भक्तिरसका एक प्रकार गिना जायगा। इसमें भी विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास आदि अनेक प्रकार बताये गये हैं। तथा दोनों (श्रीकृष्ण एवं प्रेयसी)के सम्मिलन एवं भोगको संभोग कहते हैं।[३]

हास्यभक्तिरस (गौण १)—इन गौणभक्तिरसोंके विवेचनमें यह एक साधारण नियम नहीं भूलना चाहिए कि मूलतः तो ये सात रस हास्यादिक अपनी प्रकृतिके अनुसार ही होंगे, भेद केवल इतना ही होगा कि हास्यरसआदिका स्थायी शुद्ध हास आदि होता है जबकि हास्यभक्तिआदिका स्थायी कृष्णरतिमूलकहासआदि अथवा हासरतिआदि होता है। सर्वप्रथम हास्यभक्तिको ही लेते हैं। इसमें विभावादिसे पुष्ट होकर हासरति हास्यभक्तिरस कहलाती है।[४] इसके आलम्बन श्रीकृष्ण तथा तदनुगामी अन्य भी होते हैं। प्रायः वृद्ध एवं शिशुमुख उसके आश्रय होते हैं। कभी-कभी विभावादिके वैशिष्ट्यसे अन्य प्रकारके व्यक्ति भी आश्रय होते हैं।[५] और उद्दीपन हैं हरिकी उस प्रकारकी वाणी, वेष एवं चेष्टाएँ।[६] इसके अनुभाव, व्यभिचारीभाव, स्मित, हसितआदि छः प्रकार, हास्याश्रयका कभी-कभी साक्षात् न कहा जानाआदि विवेचन शुद्ध हास्य रसके समान ही किये गयेहैं।[७]

अद्भुतभक्तिरस (गौण २)—अद्भुत भक्तिरसमें विस्मयरति स्थायी भाव रूपसे रहती है। सबप्रकारके भक्त इसरसके आश्रय होतेहैं। लोकोत्तर चेष्टाके हेतु केशव आलम्बन तथा उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। नेत्रविस्तार, स्तम्भ, पुलकादि अनुभाव तथा आवेग हर्ष, जाड्यआदि व्यभिचारी माने गयेहैं। इस अद्भुतभक्तिरसके साक्षात् तथा अनुमित दो भेद होतेहैं।[८] अप्रिय आदिकी तो अलौकिकी क्रिया भी विस्मयकारक नहीं होती, किन्तु प्रियकी थोड़ी भी असाधारण क्रिया विस्मयावह बनतीहै। फिर जो प्रियसे भी बढ़कर प्रिय है, उसकी सर्वलोकोत्तर क्रिया क्यों न विस्मयकारिणी होगी।[९]

---

१. प्रेयसीषु हरेरासु, प्रवरा वार्षभानवी। ह० भ० र० ३।५।४
२. वही ३।५।५-६
३. वही ३।५।८।१०
४. वही ४।१।६
५. वही ४।१६-१७
६. वही ४।१।८
७. वही ४।१।९-१६
८. वही ४।२।१-५
९. वही ४।२।६-७

वीरभक्तिरस (**गौण** ३)—वीरभक्तिरसमें वही उत्साहरति (स्थायी रूप) उचित विभावादिकोंके कारण स्वाद्य बनतीहै ।[१] वीरके युद्ध, दान, दया तथा धर्मके अनुसार चार भेद किये गयेहैं । ये ही चारों वीर यहाँ भी आलम्बन होतेहैं ।[२] युद्धवीरका आलम्बन श्रीकृष्ण का कोई सखा अथवा बन्धुविशेष, जो उनके परितोष केलिए युद्धमें उत्साहयुक्त है, अथवा स्वयं प्रतियोद्धारूपसे मुकुन्द ही, या फिर श्रीकृष्णके प्रेक्षकरूपसे रहनेपर उन्हींकी इच्छासे कोई अन्य सुहृद्वर होगा ।[३] कत्थना, आस्फोट (तालठोंकना) वस्पर्धा, विक्रम तथा अस्त्र-ग्रहणआदि प्रतियोद्धा (शत्रु)में स्थित रह कर इसके उद्दीपन कहे जातेहैं ।[४] और ये ही कत्थनादिक जब स्व (नायक श्रीकृष्ण या उनके स्वजन)में स्थित बताये जातेहैं तो अनुभाव हो जातेहैं ।[५] चारों प्रकारके वीरोंमें सभी सात्त्विकभाव तथा गर्व, आवेग, धृति, व्रीडा, मति, हर्ष, अवहित्था, अमर्ष, उत्सुकता, असूया एवं स्मृतिआदि व्यभिचारी भाव रहते हैं ।[६] इस युद्धवीरभक्तिरसमें एक बात ध्यान देनेकी है कि यहाँ कृष्णका प्रतिभट उनका सुहृद् ही होता है, शत्रु नहीं । क्योंकि शत्रु तो भक्तमें क्षोभ पैदा करने वाला होगा, अतः वह रौद्रका आलम्बन हो जायगा,[७] रौद्रमें नेत्रोंमें रक्तताआदि रहती है, वीर में वह सब कुछ नहीं ।[८]

दानवीर दो प्रकार का होता है—बहुप्रद तथा उपस्थितदुरापार्थत्यागी ।[९] बहुप्रद वह है, जो दामोदरके सौख्यकेलिए सहसा सब कुछ दे देताहै ।[१०] ऐसा बहुप्रद इसका आलम्बन, दानपात्र (सम्प्रदान)की दृष्टिआदि इसका उद्दीपन, वांछितसे अधिक दातृता, स्मितपूर्वाभि-भाषण, स्थैर्य, दाक्षिण्य तथा धैर्यआदि इसके अनुभाव, वितर्क औत्सक्य, हर्षआदि व्यभिचारी तथा प्रगाढ़स्थिरतरदित्सा (दानोत्साहरति) स्थायीभाव माने गयेहैं ।[११] इस बहुप्रद दानवीर को भी दो प्रकारका कहा गया है—आभ्युदयिक तथा तत्संप्रदानक । जो कृष्णके अभ्युदयके लिए याचक एवं ब्राह्मणोंको सर्वस्व अर्पित कर देताहै, उसे आभ्युदयिक कहतेहैं ।[१२] और ज्ञातिरूपी हरिकेलिए जो स्वकीय अहंता और ममताका आधार सर्वस्व देता है, उसे तत् संप्रदानक कहते हैं ।[१३] ऐसा दान भी प्रीति और पूजा रूपसे दोप्रकारका माना गयाहै । प्रीति वह है, जो बन्धुआदिरूपमें स्थित हरिको दिया जाताहै । और पूजा दान वह है, जो विप्ररूप में हरिको दिया जाताहै, जैसे वामनआदि को ।[१४]

---

१. वही ४।३।१
२. वही ४।३।५
३. वही ४।३।३-५
४. वही ४।३।६-७
५. वही ४।३।७।८
६. वही ४।३।९-१०
७. सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य नत्वरिः ।
स भक्तक्षोभकारित्वाद्रौदे त्वालम्बनो रसे ।। वही ४।३।१२,१३
८. वही ४।३।१३
९. वही ४।३।१४
१०. वही ४।३।१५
११. वही ४।३।१५-१८
१२. वही ४।३।२०
१३. वही ४।३।२०
१४. वही ४।३।२२-२३

और उपस्थित दुरापार्थत्यागी वह है, जो हरिके द्वारा दिये गये वरदान को भी स्वीकार नहीं करता। इसमें कृष्णकी कृपा, आलाप तथा स्मितआदि उद्दीपन, उत्कर्ष वर्णनआदि अनुभाव, धृतिका आधिक्य संचारी भाव, तथा त्यागसम्बन्धी उत्साहरति स्थायी-भाव माना गयाहै।[१]

जो (प्रच्छन्नरूपमें स्थित कृष्णकेलिए) कृपासे आर्द्र हृदय होकर अपने शरीरको खण्ड-खण्ड करके समर्पित करे वह दयावीर कहलाता हैं।[२] इसका आलम्बन तो वह वीर है तथा उद्दीपन उसकी आर्तिव्यंजनाआदि हैं।[३] अपने प्राणोंको भी देकर विपन्नकी रक्षा, ढाढस भरी उक्तियाँ, तथा स्थैर्यआदि अनेक अनुभाव हैं।[४] औत्सुक्य, मति, हर्षआदि इसके व्यभि-चारीभाव माने गयेहैं।[५] और दयोत्साहरति तो स्थायीभाव है ही।[६] दयोद्रेकसे युक्त उत्साहको दयोत्साह कहते हैं।[७] इस दयावीरका दानवीरमें अन्तर्भाव बताकर वोपदेवआदि विद्वान् वीरको तीन ही प्रकारका बतातेहैं।[८]

जो सर्वदा केवल कृष्णको प्रसन्न करनेके धर्म में लीन रहताहै वह प्रायः धीरशान्त भक्त धर्मवीर कहलाताहै।[९] वह धर्मवीर तो इसका आलम्बन होगा, तथा सत् शास्त्रोंका श्रवणआदि इसमें उद्दीपन माने जायेंगे। नय, आस्तिक्य, सहिष्णुता तथा यमआदि अनुभाव और मति, स्मृतिआदि इसमें व्यभिचारीभाव माने जायेंगे। धर्मोत्साहरति इसका स्थायीभाव है। धर्मेकाभिनिवेशको हो धर्मोत्साह कहते हैं।[१०] धनिकआदि कुछ आचार्योंने वीरके दान, दया, युद्ध ये तीन हो भेद मानेहैं, धर्मवीर नहीं।[११]

करुणभक्तिरस (गौण ४)—इसी प्रकार सत्सामाजिकोंके हृदयमें शोकरति अपने उचितविभावादिकोंसे परिपुष्ट होकर करुणभक्ति रस कहलाती है। निरन्तर परमानन्दरूप होकर भी प्रेमवश अनिष्टमें पड़े कृष्ण, अथवा कृष्णका कोई प्रिय, या फिर कृष्णभक्तिसुखको न प्राप्त कर सकने वाले भक्तका अपना ही कोई प्रिय इसके आलम्बन होतेहैं।[१२] उन आलम्बनोंके कर्म, गुण तथा रूपआदि इसके उद्दीपन कहे जातेहैं। मुख सूखना, विलाप, शरीर-की शिथिलता, निःश्वास, क्रोशन, भूपात, भूताडन तथा उरस्ताडनआदि इसके अनुभाव कहे गयेहैं। इसमें आठों सात्त्विक भाव तथा जाड्य, निर्वेद, ग्लानि, दीनता, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, चापल, उन्माद, मृत्यु, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि तथा मोहआदि व्यभिचारीभाव

१. ह० भ० र० ४।३।२४-२७
२. वही ४।३।२८
३. वही ४।३।२८-२९
४. वही ४।३।३०
५. वही ४।३०-३१
६. वही ४।३।३३
७. वही ४।३।३४
८. वही ४।३।३४-३५
९. वही ४।३।३५
१०. वही ४।३।३६-३८
११. वही ४।३।४१
१२. ह० भ० र० ४।४।२-३

माने गयेहैं। हृदयमें विद्यमान कृष्णरति अपने अनिष्टप्रवण अंशके शोकरूपमें परिणत होकर शोकरति बनती है, और इस करुण भक्तिरसमें वही स्थायीभाव बनती है।[1] हासादिकोंकी एक सामान्य बात यह है कि कभी विना रतिके भी उनका उद्गम हो जाता है, किन्तु इस शोककी सम्भावना तो बिना रतिके हो ही नहीं सकती। रतिकी ही बहुलता अथवा कृशता-पर इस शोककी बहुलता अथवा कृशता आधारित है। इस प्रकार इस करुणभक्तिरसमें शोक-का रतिके साथ अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिए।[2] यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है कि उन भक्तोंका कृष्णके प्रति यह शोक भाव उनकी भगवत्ताके प्रति अज्ञान अथवा अविद्याके कारण नहीं प्रवृत्त होता, अपितु कृष्णके प्रति रति अथवा प्रेमाधिक्यके कारण।[3] जहाँ प्रेम होताहै वहाँ अनर्थकी शंका तो साधारणरूपसे भी होती रहतीहै। किन्तु यह करुण-भक्तिरस शोकरूप होकर भी रसदशामें अद्भुतरहस्यमय सुखका कारण बनताहै।[4]

रौद्रभक्तिरस (गौण ५)—भक्तजनके हृदयमें अपने उचित विभावादिकों द्वारा पुष्टि प्राप्त कर क्रोध-रति रौद्र-भक्तिरस बनतीहै।[5] इसके तीन प्रकारके आलम्बन होतेहैं—कृष्ण, उनका हित तथा उनका अहित। कृष्णके प्रति क्रोधका आश्रय तो सखी या जरती आदि होतीहैं। और हित एवं अहितके प्रति कोध भावका आश्रय तो सब प्रकारके भक्त ही कहे गयेहैं।[6] इनमें जब कृष्णके (प्रेमके) कारण (राधाआदि) किसी सखीको कुछ (मूर्छा, मृति-आदि) अत्यहित उपस्थित हो रहाहो, तो उसकी सखीका कृष्णके प्रति क्रोध होताहै।[7] एवं जरती (वृद्धा स्त्री) को क्रोध तब होताहै, जब वह अपनी पुत्रबधूके साथ कृष्णको देखतीहै।[8] कृष्णके हित रूप इस रसका आलम्बन तीन प्रकार का कहा गयाहै—अनवहित (असावधान), साहसी तथा, ईर्ष्यु।[9] अनवहित वह है जो कृष्णका पालनकर्त्ता है, किन्तु कभी, किसी कर्म में विशेष अभिनिवेश के कारण, पालनक्रियामें प्रमाद कर बैठे, अतः वह भक्तके क्रोधका पात्र होगा ही।[10] साहसी आलम्बन वह है जो भयकारक कार्योंकेलिए कृष्णको प्रेरणा दे।[11] ईर्ष्यु वह नायिका होगी, जो अतिशयमानवती तथा प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानस हो।[12] और, अहित आलम्बन दो प्रकारका होताहै—भक्तका अपना (कृष्ण सम्बन्धी) अहित करने वाला तथा श्रीकृष्णका अहितकारक (शत्रु आदि) तीनों प्रकार के आलम्बनोंमें स्थित व्यंग्यभरी (सोल्लुण्ठ) हंसी,

---

१. हृ० भ० र० ४।४।५–८ २. वही ४।४।९–१० ३. वही ४।४।११

४. अतःप्रादुर्भवन् शोकोलब्ध्वाऽप्युद्भटतां मुहुः।
दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि ॥ वही ४।४।१२

५. वही ४।५।१ ६. वही ४।५।२,३ ७. वही ४।५।३,

८. वही ४।५।४ ९. वही ४।५।५ १०. वही ४।५।६

११. यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते। वही ४।५।७ १२. वही ४।५।७

वक्रोक्ति, कटाक्ष, तथा अनादरआदि इसके उद्दीपन हैं ।[1] हाथमलना, दाँत पीसना, रक्तनेत्रता, होठ चलाना, भौंहें वक्र करना, भुजाएं फैलाना एवं ठोकना, चुप हो जाना, मुँह लटकाना, निश्वासदृष्टि टेढ़ी करना, फटकारना, सिर हिलाना, रक्तकटाक्षता तथा भ्रूभेद, अधरकम्प-आदि इसके अनुभाव कहे गयेहैं[2] । सभी सात्त्विक एवं आवेग, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चापल, असूया, औग्र्य, अमर्ष एवं श्रमआदि व्यभिचारी भाव माने गयेहैं[3] । इसका स्थायी-भाव तो क्रोध रति है ही । वह क्रोध भी तीन प्रकार का होताहै कोप, मन्यु तथा, रोष । कोप शत्रु (अहित) पर होताहै, मन्यु बन्धुओंपर, जो पूज्य, सम तथा न्यून— तीन प्रकारके माने गयेहैं । और रोष स्त्रियोंके प्रियके प्रति होताहै[4] । इनमें कोप में हस्तपेष (हाथमलना) आदि, मन्युमें चुप होजानाआदि तथा रोष में नेत्रकोणोंका लाल हो जानाआदि अनुभाव होतेहैं[5] । रतिके बिना किया हुआ (जैसेशिशुपालआदिका) क्रोध भक्तिरस नहीं होता, (वह रौद्रकी कोटिमें रक्खा जायगा) ।[6]

भयानक भक्तिरस (गौण ६)—भयरहित अपने उचित विभावादिकोंसे परिपुष्ट होकर भयानक रति भक्तिरस कहलाती है । इसमें दो प्रकारके आलम्बन माने गयेहैं—एक तो स्वयं श्रीकृष्ण तथा दूसरे दारुण दुष्ट लोग । जो अनुकम्पनीय लोग सापराध हैं, उनके प्रति तो स्वयं श्रीकृष्ण आलम्बन है, तथा जो कृष्णके बन्धुजन हैं, जिनके मनमें स्नेहवश श्रीकृष्णके ऊपर अनिष्ट आनेकी शंका हुआ करतीहै, उनके भयके आलम्बन दारुण दुष्ट दैत्य लोगहैं । और यह आलम्बनता दर्शन, श्रवण तथा स्मरण तीन प्रकार से आती है ।[7] इसमें आलम्बनकी भ्रूकुटिआदि उद्दीपन, मुखशोषण, उच्छ्वास, घबड़ाकर चारों ओर देखना, अपने को छिपाना, चक्कर आना (उद्घूर्णा) शरण खोजना, तथा चिल्लाना (क्रोशनआदि) अनुभाव, अश्रुवर्जित शेष सात्विक तथा सन्त्रास, मरण, चापल, आवेग, दीनता, विषाद, मोह, अपस्मार, तथा शङ्काआदि व्यभिचारी भाव कहे गयेहैं ।[8] इसका स्थायी भाव तो अपराधके कारण भयरति पहले ही कहा जा चुकाहै । जो आकृति या प्रकृति या प्रभावसे भीषण हैं, उन्हींसे कृष्णप्रेमियोंके हृदयमें विशेषतः स्त्रियों तथा बालकोंके हृदयमें यह भयरति उत्पन्न होती है।[9] आकृतिसे भीषण, जैसे पूतना आदि, प्रकृतिसे, जैसे दुष्ट नरेश (चैद्यआदि) तथा प्रभावसे,

---

१. ह० भ० र० ४।५।६,१०
२. वही ४।५।१०,१२
३. वही ४।५।१३,१४
४. वही ४।५।१६,१७
५. वही ४।५।१६-१७
६. क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः ।
क्रोधो रतिविनाभावान्नभक्तिरसतां व्रजेत् ॥ वही ४।५।१८,१६
७. वही ४।६।१-३
८. वही ४।६।४,६
९. वही ४।६।८,६

जैसे सुरेन्द्र, गिरीश (शंकरआदि)। किन्तु भगवान्‌से सदा आत्यन्तिक भीति रखने वाले कंसआदिमें, रतिशून्यताके कारण, भक्तिरसकी आलम्बनता न आयेगी।[१]

बीभत्सभक्तिरस (गौण ७)— जब अपने उचित विभावादिकोंके कारण जुगुप्सारति सामाजिकके हृदयमें पुष्टि प्राप्त करतीहै तो उसे बीभत्सभक्तिरस कहतेहैं।[२] इसका आलम्बन शान्तके आश्रय लोग होते हैं। इसमें थूकना, मुँह विचकाना, नाक दबाना, दौड़ना, कम्प, पुलक तथा स्वेद आदि अनुभाव; और ग्लानि श्रम, उन्माद, मोह, निर्वेद, दीनता, विषाद, चापल, आवेग तथा जाड्यआदि व्यभिचारी भाव होतेहैं।[३] जो जुगुप्सा रति इसका स्थायी भाव मानी गयीहै उसके दो रूप होतेहैं—विवेकजा तथा प्रायिकी। कृष्णभक्तका जो विवेकके कारण अपने देहआदिके प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होतीहै, उसे विवेकजा कहतेहैं, और जो अशुचि एवं दुर्गन्धिके अनुभवसे भक्तको प्रायः सर्वत्र हुआ करतीहै, उसे प्रायिकी कहतेहैं।[४] जिसने श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त करली उसका मन तो सदा पूत रहताहै। उसके किसी अहृद्यलेश-मात्रपर भी क्षुब्ध होनेपर रतिसे पोष होनेके कारण उसे बीभत्सभक्तिरस कहा जाता है। अन्तमें रूपगोस्वामीका कहना है कि हास्यआदिको जो गौणरूपमें भी रसरूप कहा गया है वह प्राचीन आचार्योंके मतानुसार समझनाचाहिए। वस्तुतस्तु शान्तआदि मुख्यपाँच ही हरिभक्त-रस हैं, ओर ये हासआदि उसमें व्यभिचारी भावरूपसे प्रायः रहा करतेहैं।[५]

उज्ज्वलनीलमणिमें मधुराभक्ति—रूपगोस्वामीने, जैसा कि पहिले कहा जाचुका-है, अपने उज्ज्वलनीलमणिनामक ग्रन्थमें मुख्यभक्तिरसके प्रधान भेद मधुराभक्तिका बड़े विस्तारसे विवेचन किया है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धुमें' उसका अति संक्षेपमें परिचय दियाहै। बिना पूरा विस्तारसे उसके प्रत्येक अंगका विवेचन किये वह रहस्यरूप ही रहता, अतः उसके रहस्योद्घाटनकेलिए उन्हें इस ग्रन्थकी रचना करनी पड़ी, जिसमें उस 'भक्तिरसराट्‌का' सांगोपांग दर्शन कराया[६] —

मधुराभक्तिरसके आलम्बन विभाव—इस मधुरा भक्ति रसके आलम्बन विभाव श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभायें हैं। यहाँ कृष्णके धीरोदात्तआदि चार भेदोंमें प्रत्येकके पूर्ण-तम, पूर्णतर तथा पूर्ण तीन भेद फिर हुए, और फिर उनके भी पति तथा उपपति दो भेद

---

१. ह० भ० र० ४।६।८—१०   २. वही ४।७।१
३. वही ४।७।२,३   ४. वही ४।७।४-७,
५. हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापिकीर्तितम्।
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः॥
अमी पंचैव शान्ताद्या हरे भक्तिरसा मताः।
एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम्॥ वही ४।७।८,९
६. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः। उ० नी म०,

हुए हैं।[1] उनमें भी उपपतिरूपमें शृङ्गारका परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है।[2] फिर इन दोनों (पति-उपपतिके) चार भेद होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट। इस प्रकार नायक श्रीकृष्णके छ्यानबे भेद होते हैं। उनके धूर्तादि भेद यहाँ नहीं किये गयेहैं।[3]

नायकके सहायक--चेटक, विट, विदूषक, पीठमर्द तथा प्रियनर्मसखा होतेहैं।[4] साथ ही दूतियाँ भी सहायक बतायी गयीहैं। हरिकी वल्लभायें इस रसकी नायिकाएँ हैं, जो प्रथमतः दो प्रकारकी होतीहैं--स्वकीया तथा परकीया। उनकी स्वकीयायें तो सोलह हजार आठ थीं। उनमें आठ अग्रणी थीं। उन आठोंमें भी रुक्मिणी और सत्यभामा सर्वश्रेष्ठ थीं। रुक्मिणी ऐश्वर्यमें तथा सत्यभामा सौभाग्यमें।[5] उनकी परकीया वे हैं, जो दोनों लोकों (कुलों) की बिना परवाह किये अपनेको रागमें श्रीकृष्णकेलिए समर्पित कर चुकी रहतीहैं।[6] वे दो प्रकारकी हैं, कन्यका तथा परोढा। इनमें व्रजकी गोपियाँ आती हैं।[7] ये सभी शोभा, सद्गुण तथा वैभव द्वारा कृष्णके प्रति रमाआदिसे भी अधिक प्रेम माधुर्यभावसे विभूषित होतीहैं।[8] वे फिर तीन प्रकारकी कही गयीहैं—साधनपरा, देवी तथा नित्यप्रिया।[9] साधनपराके दो प्रकार होतेहैं—यौथिकी तथा अयौथिकी। यौथिकी वे हैं, जो गण, अथवा समूहमें साधनमें निरत हों।[10] वे (यौथिकियाँ) भी दो प्रकारकी हैं—त्रेताके वे मुनिगण, जो दण्डकमें रामको देखकर रिरंसु होनेके कारण व्रजमें गोपियाँ बने थे।[11] तथा वे सभी महोपनिषदें जो गोपियों के सौभाग्य से सुविस्मित होकर श्रद्धापूर्वक तप कर प्रेमा आदि नाम से व्रज में गोपियाँ हुई थीं।[12] अयौथिकी वे हैं, जो साधनरत लोग एकएक अथवा दोतीन करके समयसमयपर व्रजमें गोपियोंके रूपमें आविर्भूत हुए। उन अयौथिकियोंके दो भेद हैं—प्राचीना तथा नवीना।[13] देवी नायिकायें वे देवाङ्गनाएँ हैं, जो कृष्णकी तुष्टिकेलिए व्रजमें गोपियाँ बनी थीं।[14] और नित्यप्रिया राधा, चन्द्रावलीआदि वे व्रजकी गोपियाँ हैं, जो श्रीकृष्णके

---

१. उ० नी० म०, ६

२. अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। वही

३. वही, श्लोक ३८, ३९

४. वही, पृ० ३२, श्लोक १।

५. वही पृ० ४२, श्लोक १६

६. उ० नी०, पृ० ४२, श्लोक १६ ७. वही, पृ० ४७, ८. वही, पृ० ५०, श्लोक ३८

९. वही, पृ० ५१, १०. वही, पृ० ५१

११. पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिंतत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाःसमुद्भूताश्चगोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥
—पद्मोत्तर खण्ड, दुर्गमसंगमनी में उद्धृत।

१२. उ० नी०, पृ० ५३, श्लोक ४५,४६ १३. वही, पृ० ५३, श्लोक ४७, ४८

१४. वही, पृ० ५६, श्लोक ५०,५१।

समान ही नित्य सौन्दर्य तथा वैदग्ध्यआदि गुणोंका आश्रय हैं।[1] लाखों सुन्दरियोंमें ये दो (राधा, चन्द्रावली) सर्वश्रेष्ठ हैं, और राधा तो इन दोनोंमें भी श्रेष्ठ हैं।[2] राधामें भूयिष्ठ मनोहरगुण है।[3] फिर, इन स्वकीया तथा परकीयामें प्रत्येकके मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीनतीन भेद होतेहैं।[4] और इनमें भी मध्या तथा प्रगल्भा के धीरा अधीरा तथा धीराधीरा तीन-तीन भेद मान, अवस्थाकी दृष्टिसे किये गयेहैं। रसोत्कर्षकी दृष्ठिसे मध्या श्रेष्ठ कही गयीहै, क्योंकि इसमें मुग्धा और प्रगल्भा दोनोंका संयोग होता है।[5] मध्या और प्रगल्भाके नायकके प्रति प्रणयकी दृष्टिसे ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा ये दो भेद और किये गयेहैं।[6] इस प्रकार कन्याका तो केवल एक भेद मुग्धा होताहै, किन्तु स्वीया तथा परोढाके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा – तीन भेद होते हैं। फिर मध्या तथा प्रगल्भामें प्रत्येकके धीरा, अधीरा तथा धीरा-धीरा तीन-तीन भेद होतेहैं, जिससे स्वीया तथा परोढाके १४ भेद और एक कन्याको मिलाकर कुल १५ भेद हुए।[7] फिर सभी नायिकाओंका अवस्थाष्टक होताहै—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठितादि। जिससे अबतककी संख्या १२० हुई। फिर उनके उत्तमा, मध्यमा तथा कनिष्ठा ये तीन कोटियाँ होतीहैं, जिससे कुल संख्या ३६० हो जातीहैं।[8] पुनः यूथेश्वरियोंमें भी सौभाग्यके आधिक्यसे अधिका, साम्यसे समा तथा लघुत्वसे लघु इस प्रकार तीन भेद होतेहैं।[9] फिर प्रत्येकके प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी ये तीन प्रकार होतेहैं। अधिकाके भी आत्यन्तिकी तथा आपेक्षिकी—ये दो प्रभेद होतेहैं।[10] इस प्रकार यूथेश्वरियोंके कुल भेद बारह हुए।

मधुराभक्तिके उद्दीपनआदि भाव – उद्दीपनरूपमें कृष्ण तथा उनके प्रियजनोंके भी गुण, वयः, रूप, नाम, चरित, मण्डन, वंशी, लगुडी, शृङ्गी, वृन्दारण्य, यमुना, रासस्थली आदिका सविस्तर वर्णन किया है। अनुभावरूपमें, अलंकार, (अंगज, अयत्नज, तथा स्वभावज) उद्भास्वर (नीवीस्रंसन, उत्तरीयप्रस्रंसनआदि) तथा वाचिक (आलाप, विलाप, संलापआदि) और सात्त्विकोंका निरूपण किया गया है। व्यभिचारियोंमें निर्वेदआदिका उनके हेतु सहित सोदाहरण विवेचन हुआ है। स्थायी रतिका अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान आदि रूपसे अनेक प्रकारका विवेचन किया गयाहै। इसी प्रसंगमें रतिके स्नेह, प्रणय, राग, भावआदि रूपोंका भी सविस्तर विवेचन हुआहै।

---

१. उ० नी० म०, पृ० ५७।५२

२. तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयो र्मध्ये राधिका सर्वथाधिका॥ वही, पृ० ५८, ५६

३. वही, पृ० ६०-७६

४. वही ८६।१०

५. वही ६८।४०

६. वही १०५।५६

७. वही १०७।६५

८. वही ११७।१००-१

९. वही १८।१,२

१०. आत्यन्तिकी तथैवापेक्षिकीचेत्यधिकाद्विधा।– वही ११६।४

फिर शृङ्गारके विप्रलम्भ पक्ष में पूर्वराग, मान, प्रवास—तीनों प्रकारोंका निरूपण हुआ है। तथा अन्तमें उनमें सम्भोगपक्षके अन्तर्गत मुख्य, गौण संभोगोंका सविस्तर वर्णन हुआहै। इसी प्रसंगमें भावदशाविशेषों को बताते हुए इसके अन्तर्गत जल्प, स्पर्शन, वर्त्मरोधन, रास, वृन्दावन, क्रीडा, यमुनाजलकेलि, वंशीचौर्य, वस्त्रचौर्य, मधुपान, कपटसुप्तता, आश्लेष, संप्रयोगआदि सबका सोदाहरण निरूपण किया गयाहै। जैसा कि पहिले संकेत किया गया है इस उज्ज्वलनीलमणिमें रूपगोस्वामीने जिस मधुरा रतिका इतना विस्तारके साथ विवेचन कियाहै वह कृष्णको शृङ्गार-नायक मान कर शुद्ध शृङ्गाररसका विवेचन समझ पड़ताहै। इसमें कहीं थोड़ी भी गन्ध भक्तिकी नहीं मिलती। गीतगोविन्दके साथ इसका भी प्रभाव मध्यकालिक हिन्दीकी शृङ्गारमयी रचनाओंपर पर्याप्त पड़ा। केशव, देव, बिहारी, मतिराम, आदिकी कविता एवं आचार्यता इन्हीं ग्रन्थोंसे प्रभावित समझ पड़तीहै। अस्तु!

कविकर्णपूरगोस्वामीका भक्तिरस—रूपगोस्वामीके पश्चात् तो भक्तिरस साहित्यशास्त्रका एकविवेचनीय विषय बन गया। अब आचार्य लोग भक्तिरस का विवेचन शुद्ध काव्यशास्त्रीय विषयके रूपमें करने लगे, किसी विशेष सम्प्रदायके अनुयायीके रूप में नहीं। श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीने भी अपने 'अलंकारकौस्तुभनामक' लक्षणग्रन्थमें भक्तिरसपर कुछ विचार कियेहैं। शृङ्गार रसके स्थायीभाव रतिका स्वरूप बताते हुए वे कहतेहैं—चित्त-की रंजकता, अर्थात् द्रवत्वजनक धर्म-विशेषको रति कहतेहैं। वह ऐसा चित्तधर्म है, जो चित्त-की कठोरताको दूर कर उसमें कोमलता तथा द्रवीभाव उत्पन्न करताहै। और जब यह सम्प्रयोगविषयक होताहै तभी इसको रति कहतेहैं, अन्यथा इसके दूसरे नाम हैं।[1] यह रति ही सुखभोगोंको अनुकूलता देतीहै। अर्थात् जैसे भूखलगी रहनेपर अन्नव्यंजन आदिमें भोजन-का सुख मिलताहै, वैसे ही इस रति भावनाके रहनेपर ही श्रीकृष्णके नाम गुण लीलाआदिके श्रवणदर्शनमें सुख प्राप्त होताहै। रतिरहित लोगोंको वह नहीं प्राप्त होसकता।[2] उस रति-को फिर कर्णपूरने चार प्रकारका बतायाहै—प्रीति, मैत्री सौहार्द्र, तथा भाव। अर्थात् रतिको लेकर पाँच प्रकार होंगे। क्योंकि इन चारोंसे पृथक् उसका लक्षणस्वरूप बताया गयाहै। रति तो सम्प्रयोगविषयक होतीहै। सम्प्रयोग स्त्री-पुरुषके पति-पत्नीरूप व्यवहारको कहते-हैं।[3] और असम्प्रयोगविषयक होनेपर उसे प्रीति कहा जाताहै। यह सम्बन्ध प्रायः मित्र-पत्नी तथा पतिके मित्रका परस्पर होता है। इसको भी स्त्रीपुरुषका ही सम्बन्ध कहतेहैं,

१. रतिश्चेतोरञ्जकता—चित्तस्यरंजनंद्रवीभावस्तज्जनकधर्मविशेष एव चेतोरंजकता। सैव सम्प्रयोगविषयाचेत्तदारतिरुच्यते-इयमेव चित्तस्यकठोरत्वं दूरीकृत्य कोमलत्वं द्रवीभावमुत्पादयति।—अ० कौ ५।–६५, पृ० १२४

२. वही पृ० १२४

३. या सम्प्रयोगविषया सा रतिः परिकीर्तिता।
सम्प्रयोगः स्त्रीपुरुषव्यवहारः सतां मतः॥ वही, पृ० १२४

किन्तु वह पति-पत्नी-सम्बन्ध नहीं होता। इसका उदाहरण द्रौपदी और कृष्णका सम्बन्ध कहा जा सकताहै।[१] दो पुरुष मित्रों या स्त्री सखियों की परस्पर प्रीति मैत्री कहलाती है। यह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के ही बीच होती है।[२] इसमें परस्परस्पर्श आदि हो सकते हैं प्रीति अथवा सौहार्द में यह सम्भव नहीं।[३] जो प्रीति स्त्रीकी सखियों एवं पतिके मित्रोंमें परस्पर सदा एकरूप तथा विकार-रहित होतीहै उसे सौहार्द कहतेहैं[४]—और यही रति जब देवादिविषयक होतीहै तो 'भाव' कहलातीहै। इसीको भक्तिरस कहते हैं।[५] यही रति, जो स्त्री-पुरुषके बीच सम्प्रयोगविषयक होतीहै, जब श्रवण कीर्तनआदिके पौनःपुन्यसे उत्कर्ष अथवा उदात्तताको प्राप्त करतीहै तो प्रथम पाक अथवा प्रथम रति भाव अवस्थासे अनुराग, प्रणय, प्रेमआदि अवस्थान्तरोंको प्राप्त करती हुई चरम अवस्था 'भक्ति' अथवा महारागरूपमें परिणत हो जातीहै। जैसे—ईखका कच्चा रस एक पाकके पश्चात् दूसरे पाकमें पहुँचता हुआ अन्तमें चरम पाक सितोपला अथवा मिश्रीरूपमें परिणत हो जाताहै। वह उसका चरम पाक है। उसके बाद उसकी कोई अवस्था नहीं।[६] इस प्रकारका आनन्दकी परमावधिरूप यह महाराग केवल गोपियोंका कहा जाता है—अन्य किन्हीं भक्तोंका नहीं। भागवतमें उद्धवने कृष्णमें उनके प्रेमको रूढ़ भाव कहा था। यह रूढ़भाव ही महाराग कहा जाताहै। अतएव गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेकेलिए उद्धवने तृण, गुल्म, लता बननेकी आकांक्षा की थी। इस प्रकार रुक्मिणी और लक्ष्मीकी चरण धूलि प्राप्त करनेकी इच्छा कहीं किसी ने नहीं प्रकट कीहै।[७]

आगे आनन्दरूप रसको प्राकृत, अप्राकृत तथा आभासरूप में तीन प्रकारका बताते हुए कर्णपूर कविका कहना है कि यह अप्राकृतरति भी परकीयानिष्ठ (जैसे कृष्ण एवं गोपियोंकी) ही सर्वोत्तम मानी गयी। स्वकीयानिष्ठ जैसे कृष्ण-रुक्मिणीआदिकी से भी वह अधिक

---

१. असम्प्रयोग-विषया सैवप्रीतिर्निगद्यते।
सखिपत्न्यां पति-सखे द्रौपदीकृष्णयोर्यथा॥ अ० कौ० पृ० १२५
२ द्वयोःसखीषु सखिषु सैवमैत्रीनिगद्यते। वही पृ० १२५
३. वही पृ० १२६
४. वही पृ० १२६
५. देवः श्रीकृष्णस्तस्य देवत्वसर्वव्यापकत्वादिरूपेण या चेतोरंजकता। सवभावः—अथमव भक्ति रसोभवतीत्यग्रे वक्ष्यति। वही पृ० १२७
६. अ० कौ०, पृ १२८
७. एतादृशो महारागो गोपीनामेव नान्येषां भक्तानाम् अतएव कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभाव इत्युक्तवताउद्धवेनाप्यस्यैव रूढभावत्वेनैवोत्कर्षः कृतः। एवम् आसामहो चरणरेणुजुषा महं स्यामिति पद्येन गोपीनामेव चरणधूलिप्राप्तौ तृणजन्माकांक्षा कृता, न तु कदापि रुक्मिणीलक्ष्मीप्रभृतीनां कुत्रापि शास्त्रे दृष्टत्वात्।—अ० कौ० टी०, पृ० १२८

उत्कृष्ट कही गयी है । क्योंकि उसमें देह-गेह किसीका ध्यान नहीं रहता । अतएव भागवत में उसकी बड़ी प्रशंसा कीगयीहै । रूपगोस्वामीने भी अतएव उसमें शृङ्गारका परमोत्कर्ष माना था । अन्यत्र भी काव्यनाटकोंमें परकीयाप्रेमको ही महाकवियोंने श्रेष्ठ कहाहै ।[१]

कर्णपूरका कहना है कि जैसे निर्वेद एक व्यभिचारी भाव होते हुए भी शान्त रसमें स्थायीभावकी हैसियत पाकर रस बनता है, वैसे ही देवादिविषयक रति, जो कि भाव इस परिभाषिक नामसे प्रसिद्ध है, स्थायी भाव बन कर उन उन विभावादि सामग्रियोंसे पारिपुष्ट होकर भक्तिरस कहलाती है । उन्होंने इस भक्ति रसके श्रीकृष्णविषयक होनेपर किसी पूर्व आचार्यके मतसे दस प्रकार बताये हैं ।[२]

कर्णपूरके अनुसार रसोंकी संख्या—कर्णपूरने रसोंकी संख्या बारह मानीहै । आठ तो भरत मुनिवाले ही हैं शान्त, वात्सल्य, प्रेम तथा भक्ति ये चार और । इन्होंने वात्सल्यरस-का स्थायी ममकार या ममताको मानाहै । इसके आलम्बन श्रीकृष्ण, उद्दीपन उनका चङ्क्रमणआदि, तथा व्यभिचारी हर्षादि हैं । यह भी अप्राकृत रस ही है । यह केवल एकमें (अगम्य) ही होताहै ।[३] यदि यह कृष्णविषयक है तो भक्तिका ही एक प्रकार होगा । अतएव कर्णपूरने रूपगोस्वामीके भक्तिके बारह प्रकारोंमें इन वात्सल्य एवं प्रेम (प्रीतिको) अलगकर स्वतंत्र रस नाम दिया और उनके अनुसार भक्तिरस केवल दस प्रकार कहा है ।[४] प्रेमरसका स्थायीभाव चित्तद्रव है, और यहीं तो कर्णपूरका रतिभाव है ।[५] यह ऐसा रस है, जो आलम्बन और आश्रय दोनोंमें परस्पर होताहै । अतएव दोनों परस्पर आलम्बन होंगे तथा दोनोंके गुणपरिमल परस्पर उद्दीपन होंगे । इसका अनुभाव विशिष्ट रूपसे निर्वचनका अभावरूप ही है, तथा व्यभिचारी मति, औत्सुक्यआदि हैं, यह प्रेम रस परोक्षरूप से तो

---

१. सा च रति द्विविधा स्वकीया रुक्मिण्यादिनिष्ठा, परकीया व्रजसुन्दरीनिष्ठाच । तयो र्मध्ये परोढरमणी श्रीव्रजसुन्दरी तन्निष्ठा रतिः सर्वोत्तमेत्यर्थः । सर्ववेदेतिहासपुराणादीनां सारभूते श्रीभागवतेश्रीकृष्णेनोक्तं 'नपारयेहममित्यादौ' 'या मां भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य' इत्यादि तत्रैव श्रीउद्धवेनाप्युक्तं 'या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वेत्यादि । उज्ज्वलनीलमणौ श्रीमद्रूपगोस्वामिभिरप्युक्तम्'—अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः, इत्यादौ । महानुभावानां दृश्यश्रव्यकाव्यादौ परकीया सर्वोत्तमोत्तमतया श्रूयतइत्यर्थः— अ० कौ०, टीका, पृ० १३३

२. अ० कौ० पृ० १४७

३. वही पृ० १४४

४. सपुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयोभवन् । रत्यादिभिः स्थायिभिर्दशविधो भवति । तदन्यत्वोह्यम् ।—वही, पृ० १४७

५. रतिश्चेतोरञ्जकता—चित्तस्यरञ्जनं द्रवीभावस्तज्जनकधर्मविशेषएव चेतोरञ्जकता वही, पृ० १२४

राधाकृष्णवाला है, प्रत्यक्ष सामाजिकोंका ।[1] सम्भवतः भोजसे प्रभावित होकर कर्णपूर कहते हैं कि इस प्रेमरसमें सभी रस अन्तर्भूत होजातेहैं और फिर रूपगोस्वामीसे प्रभावित होकर राधाकृष्ण तक ही रख कर भक्तिरसका ही एक प्रकार मान लेतेहैं । उनका इसका एक पृथक् रस नाम देना बहुत कुछ समीचीन नहीं समझ पड़ताहै । उन्होंने प्रेमको ही अङ्गीरस कहा, बल्कि शृङ्गारको उसका अङ्गरूप ही कहाहै । सागरमें लहरोंकी भाँति अखण्ड प्रेममें सभी रस एवं भाव डूबते उतराते रहतेहैं ।[2] भक्तिरसमें वही देवविषया चेतोरंजकता अथवा रति, जिसे (इन्होंने भी तथा मम्मटादि अन्य आचार्योंने) भाव नाम दियाहै, स्थायी भाव होता है, इसके आलम्बन श्रीकृष्ण, उद्दीपन उनकी महिमाआदि, अनुभाव हृदयद्रवआदि तथा व्यभिचारी भाव निर्वेददैन्यआदि होतेहैं । यह रस भक्तोंको तो परोक्षमें भी, किन्तु सामाजिकोंको काव्यनाटककी श्रवणदर्शनवेला अर्थात् प्रत्यक्षमें अनुभूत होताहै ।[3]

कवि कर्णपूर रूपगोस्वामीसे इतने प्रभावित समझ पड़तेहैं कि उनके विशाल भक्तिरसके आलम्बन श्रीकृष्ण ही इनके भी सभी रसोंसे संवलित (आलम्बन) श्रीकृष्ण हो जातेहैं । शृङ्गारके तो वे मानो देवता ही हैं ।[4] और श्रीकृष्णको सर्वरसात्मक मानाहै ।[5] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित करने पर इसे या तो भक्तिरससे प्रभावित कहा जायगा या फिर श्रीकृष्णके सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं । कोई भी व्यक्ति भिन्न-भिन्न अवसरों पर विविध रसात्मकता प्राप्त करताहै ।

---

१. अ० कौ०, पृ० १४८

२. प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपंचः । ग्रन्थगौरवभयाद्दिङ्मात्रमुक्तम् । केषाञ्चिन्मते श्रीराधाकृष्णयोः शृङ्गार एव रसः—तन्मते प्येतदुदाहरणं नासङ्गतम् । शृङ्गारो ङ्गी प्रेमाङ्गम् अंगस्यापिक्वचिदुद्रिक्तता । वयन्तु प्रेमाङ्गी शृङ्गारो ङ्गमिति विशेषः । तथा च—

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः
सर्वेरसाश्चभावाश्च तरङ्गाइववारिधौ ।। वही, पृ० १४८-४९

३. वही, पृ० १५०

४. यद्यपि भगवान् सर्वरसकदम्बसम्बलितः तथापि मूर्तः शृङ्गार एव, सावर्ण्यात् तद्दैवतत्वाच्च, तथाहि 'रसः शृङ्गारनामायंश्यामलः कृष्णदैवतः ।' वही, पृ० १५०-५१

५. शृङ्गारी राधिकायां, सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचेलचौर्ये प्रहासी ।
वीरो दैत्येषु, रौद्री कुपितवति तुरासाहि, हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्रीनिजमहसिशमी दामबन्धे, स जीयात् ।।

वही, पृ १५१

शार्ङ्गदेवका भक्तिरस—श्रीनिःशंकशार्ङ्गदेवने तो अपने 'संगीत-रत्नाकर'में भक्ति रसकी पृथक् सत्ता ही नहीं स्वीकार कीहै। इसे रतिका भेद मानकर इसीमें अन्तर्भूत कियाहै। उनका कहना है कि भक्ति, स्नेह तथा लौल्य– तीन रसोंको कुछ आचार्योंने मान्यता दी है, और उसके स्थायी भाव क्रमसे श्रद्धा तथा अभिलाष को रक्खा है, किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि जब यह भक्ति तथा स्नेह पुरुषपुरुष के बीच होतेहैं तो उनके बीच (श्रद्धा एवं आर्द्रता रूप) वह रति व्यभिचारी भाव रूप ही रहतीहै, और केवल भावदशा तक पहुँचतीहै। और जब स्त्रीपुरुषकेबीच भक्ति तथा स्नेह दिखाई पड़ताहै तो वहाँ स्थायीभाव रति होतीहै, अतः उसे शृङ्गार ही कहेंगे—जैसे राममें सीताकी भक्ति और सीतामें रामका स्नेह जो शृङ्गार ही माने गये हैं।

मधुसूदनसरस्वतीका भक्तिरस—भक्तिको काव्यरसके रूपमें निरूपित करनेवाले अन्य सम्मान्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती हैं। उन्होंने अपने 'भगवद्भक्तिरसायन' में अपने रसविषयक सामान्य विशेष सभी सिद्धान्त-प्रकार रक्खे हैं। रसविषयक उनका सामान्य सिद्धान्त तो वही है, जो अभिनव-मम्मट आदि ध्वनिवादियोंका है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों द्वारा स्थायीभाव बोद्धामें सुखरूपसे अभिव्यज्यमान होकर रस कहलाता है।[1] बोध करानेवाली शब्दकी व्यञ्जननामक वृत्ति होतीहै।[2] जो रसकी व्यंजनाका क्रम संलक्षित नहीं होता, अतः उसे (रसको) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं।[3] किन्तु भक्तिरसके विषयमें अपने पूर्ववर्ती रूपगोस्वामी आदि आचार्योंसे इनका मत बहुत कुछ स्वातन्त्र्य रखता है। हाँ, इनका भी यह भक्ति रस कृष्णके ही प्रति निरूपित हुआ है। अन्यसाधारण देवोंके प्रति होने वाली भक्तिको इन्होंने भी मम्मटके अनुसार 'भाव' ही नाम दियाहै। वह भक्तिरस नहीं कही जायगी।[4] उनका कहना है कि कान्ताआदिविषयक भी जो रतिआदि भाव हैं वे भी उस प्रकारसे रसदशाको नहीं प्राप्त करते (जिस प्रकार यह श्रीकृष्णविषयारति)। वे पूर्ण सुखसे स्पृष्ट नहीं होते। भगवद्भक्तितो परिपूर्णरस वाली है, वह अन्य क्षुद्र रसोंसे उसी प्रकार बलवत्तर है जैसे आदित्यकी ज्योति खद्योतोंसे बलवत्तर होती है।[5] इस प्रकार भक्तिरसका आस्वादमधुसूदनने सबरसोंसे कहीं बढ़कर मानाहै। उसके स्वरूप विवेचन-का प्रारम्भ करते समय उन्होंने कुछ विशेषणोंका प्रयोग किया है, जिसमें भक्तिरसके प्रति अपने विचारोंको मानों सूत्ररूपमें कहा है। मुकुन्दके प्रति यह भक्तियोग नवरससहित भी

---

१. भ० र० ३।२

२. तस्यप्रत्यायकः शब्दो वृत्याव्यंजनरूपया—वही ३।२०

३. एवमव्यवधानेन क्रमोयस्मान्नलक्ष्यते। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यं ध्वनिं तस्मादिमं विदुः। वही ३।१५

४. वही २।७३,७४

५. परिपूर्णरसाक्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः। खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।।वही, २।७५,७६

अथवा केवल भी परमपुरुषार्थ माना गयाहै, क्योंकि वह भक्तियोग निरुपमसुखसंविद्रूप होता है तथा सर्वथा दुःखसे अस्पृष्ट होता है ।[1]

मधुसुदनकी भक्तिके दो भेद—भक्ति दो प्रकारकी मानी गयीहै—साधनरूपा तथा फलरूपा । इन दोनों अर्थोंमें भक्ति शब्दकी व्युत्पत्ति की जातीहै । 'भजनम् भक्तिः' अर्थात् अन्तःकरणकी भगवदाकारता-प्राप्तिको भजन कहतेहैं, इस प्रकार भावमें व्युत्पत्ति करनेपर भक्ति शब्दका अर्थ फलरूप होताहै ।[2] और 'भज्यते अनया इति भक्तिः' अर्थात् जिसके द्वारा अन्तःकरणको भगवदाकारता प्राप्ति होती है। इस प्रकार करणमें व्युत्पत्ति करनेपर भक्ति शब्दका अर्थ श्रवणकीर्तनआदि साधन होते हैं ।[3] श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार दो अर्थोंमें भक्ति शब्दका प्रयोग एक ही श्लोकमें किया गयाहै ।[4]

मधुसूदनकी भक्तिकास्वरूप—वेदान्तमतसे—भक्तिका लक्षण मधुसूदनने पूर्ववर्ती आचार्योंसे कुछ विलक्षण कियाहै । उनका कहना है कि भगवद्-गुण-श्रवण द्वारा द्रवावस्थाको प्राप्त चित्तकी जो धारावाहिक अर्थात् निरवच्छिन्नरूपसे सर्वेशविषयक वृत्ति अर्थात् भगवदाकारताप्राप्ति है, उसे भक्ति कहतेहैं। वृत्तिका अर्थ म० सू०ने तदाकारता ही कियाहै ।[5] चित्तकी उपमा जतु (लाख) से दी गयी है, जो स्वभावसे तो कठिन होताहै किन्तु तापक विषयोंके योगसे द्रवदशाको प्राप्त कर लेताहै ।[6] चित्त-जतुके तापक विषय काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष तथा शोक एवं दया आदि (भाव) हैं—अर्थात् जिस विषयमें कामआदिका उद्रेक होताहै उसी विषयमें चित्तकी द्रवता होतीहै । फिर उस विषयके शान्त अर्थात् विषयान्तरके संचार होनेपर कामादिका तिरोभाव हो जाताहै और

---

१ दुःखासंभिन्नसुखंहिपरमः पुरुषार्थ इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः—भ० र० पृ० १४

२. भजनम् अन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भाव-व्युत्पत्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते । वही पृ० २१

३. भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तकरणंक्रियतेऽनयेति करण-व्युत्पत्याभक्तिशब्देन श्रवण-कीर्तनादिसाधनमभिधीयते । वही पृ० २२

४. स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्याबिभ्रत्युत्पुलकांतनुम् ।। श्री० भा०, ११।३।३१
अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथमभक्तिशब्दो भागवत-
धर्मेषु प्रयुक्तः, द्वितीयस्तु भावव्युत्पत्या फले ।। (पृ० २२)

५. द्रवावस्थांप्राप्तस्य चित्तस्य धारावाहिकी या सर्वेशविषया वृत्तिः भगवदाकारतेत्यर्थः । तदाकारतेव हि सर्वत्रवृत्तिशब्दार्थो स्माकं दर्शने । सा भक्तिरित्यभिधीयते शास्त्रविद्भिः ।
(भ० र० पृ० ३५)

६. चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम् ।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वम्प्रतिपद्यते ।। वही १।४

फलतः चित्त भी पूर्ववत् कठिन हो जाताहै ।[१] चित्त-द्रुतिके समय उसमें जिस वस्तुका अपना आकार पड़ताहै, वही चित्तका संस्कार, वासना, भाव, भावना आदि कहा जाताहै । जिस चित्तमें द्रवत्व नहीं वह कठिन हो जाता है तथा उसमें किसी विषयकी वासना नहीं पड़ती ।[२] द्रवत्वदशा में चित्तमें जो वस्तु प्रविष्ट होतीहै वह उसकी काठिन्य दशातक रहती है तथा फिर अन्य द्रवीभावकी दशामें जब विषयान्तरका ग्रहण करतीहै, उस समय उस पूर्व-वस्तुको नहीं छोड़ती अतएव उसे वासना कहतेहैं । अतः जिस चित्तमें द्रवावस्थामें भगवदा-कारता प्रविष्ट हुई, वह सदा उसकी वासनासे कृतकृत्य हो जाता है ।[३] परमानन्दस्वरूप भगवान् स्वयम् जिस चित्तमें द्रवावस्थामें प्रविष्ट होतेहैं वह चित्त तदाकारता प्राप्त कर लेताहै । यह सम्बन्ध विम्बप्रतिबिम्बरूप है । अर्थात् भगवान् बिम्ब हैं और तदाकारितचित्त उनका प्रतिबिम्ब है । प्रतिबिम्ब ही स्थायीभाव बन कर रसरूपता अर्थात् परमानन्द साक्षात्कार प्राप्त करताहै । बिम्ब उसका आलम्बन है, किन्तु बिम्ब प्रतिबिम्बमें ऐक्यकी भी शंका नहीं करनीचाहिए, क्योंकि ईश, जीवकी भाँति उनका भेद स्पष्ट व्यवहारसिद्ध है । स्थायीभाव, आलम्बनविभाव तथा रस-दशा तीनोंका रूप एक ही है ।[४]

मधुसूदनकी भक्तिका स्वरूप सांख्यमतसे—इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार भक्तिरसैक्यका प्रतिपादन कर मधुसूदन अब सांख्यमतसे भी रसस्वरूपका निरूपण करतेहैं । सांख्यसिद्धान्तके अनुसार संसारकी सभी वस्तुएँ सत्त्व, रजस् तथा तमस्के सम्मिश्रणसे निर्मित होनेके कारण ही, सुख-दुःख तथा मोहमय होतीहैं । तो किसी वस्तुका सत्त्व अंश अथवा सुखमय रूप जब द्रवावस्थामें मानसमें प्रविष्ट होताहै उस समय वही स्थायीभाव बनकर रस

---

३. कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ॥ भ० र० १।५ ॥
यद्विषये कामादीनामुद्रेकस्तद्विषयेचित्तस्य द्रवीभावः, पुनर्विषयान्तरसंचारादिना कामादितिरोभावे काठिन्यमेवेत्यर्थः ।पृ० ३४

२. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना ।
संस्कार-वासना-भाव भावनाशब्दभागसौ ॥ वही १।६

३. द्रवतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्यदशां गतम् ।
चेतः पुनर्द्रुतौ सत्यामपि तन्नैव मुञ्चति ॥ १।८
एवं द्रवावस्थे चेतसि यद्वस्तुस्वरूपं सत् काठिन्यदशापर्यन्तं स्थितं तत् पुनर्द्रवीभा-वान्तरेण विषयान्तरे गृह्यमाणे पि प्रकाशमानत्वाच्चेतसान त्यज्यते । अतः सा वासनेत्यु-च्यते·········। अतएव यस्येकदा द्रुते चित्ते भगवदाकारता प्रविष्टा स सर्वदा तद्भाना त् कृतकृत्यो भवति । वही—पृ० ४०

४. भगवान् परमानन्दस्वरूपस्स्वयमेवहि ।
मनोमतस्तदाकारो रसतामेतिपुष्कलम् ॥ वही १।१०

दशाको प्राप्त करता है।[1] रसके पूर्वोक्त वेदान्त तथा सांख्य—दोनों मतोंके मूलमें यह सिद्धान्त काम करता है कि मन विषयके साथ संयोग पानेपर उस विषयके ही आकारका हो जाता है।[2] इसी प्रकार एक ही वस्तु पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंके मनमें पृथक्-पृथक् आकार प्राप्त करती है; उदाहरणार्थ—एक ही मांसमय स्त्रीपिण्ड पत्नी, पुत्रवधू, ननद, जेठानी, माताआदि अनेक प्रकारके मनोमय रूपोंको पृथक् पृथक् व्यक्तियों में प्राप्त करता है, उसी प्रकार एक ही पुरुष-पिण्ड जामाता, श्वशुर, पुत्र, पिताआदि अनेकरूपसे ग्रहण किया जाताहै— यह सब उसके मनोमय रूपहैं।[3] बाह्यपिण्डके नष्ट हो जानेपर भी मनोमय रूप बना ही रहताहै। अतएव विद्वानोंने इस मनोमय रूप को 'स्थायी' कहा है।[4] अब जब द्रुत मन विभु, नित्य, पूर्णबोध-सुखात्मक भगवान् हरिको ग्रहण करले तो फिर क्या शेष बचता है?[5] द्रवत्वके अतिरिक्त मनकी काठिन्य दशामें कुछ ग्रहण नहीं होता। अतः विषयोंकी ओर तो मनको कठिन रहना चाहिए, किन्तु भगवच्चरणों में द्रुत रक्खे। इसके लिए भागवतादि पुराणोंमें तथा अन्यत्र शास्त्रोंमें उपाय निर्दिष्ट हुए हैं। क्योंकि सभी शास्त्रोंका यही तो परमसिद्धान्त है कि विषय से विमुख कर मनको ईश्वरके चरणोंमें लगाना।[6] वस्तुतः जिसका ध्यान किया जाय उसीमें चित्त संसक्त होताहै—विषयोंका ध्यान करनेसे विषयोंमें तथा भगवच्चरणोंका ध्यान करनेसे

---

१. एवं सति सुखाकारः प्रविष्टो मानसे यदा।
   तदा स स्थायिभावत्वम्प्रतिपद्य रसोभवेत्। भ० र० १।१८

२. गृह्णाति विषयाकारम्मनो विषययोगतः।
   इतिवेदान्तिभिः सांख्यैरपि सम्यङ्निरूपितम्। वही १।२०

३. अतो मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
   मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते च मनोमयी।
   भार्यास्नुषा ननन्दा च याता मातेत्यनेकधा।
   जामाता श्वशुरः पुत्रः पितेत्यादि पुमानपि॥ वही १।२६, २७

४. बाह्यपिण्डस्य नाशेऽपि तिष्ठत्येव मनोमयः।
   अतः स्थायीति विद्वद्भिरयमेव निरूपितः॥ वही १।२८

५. भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णबोधसुखात्मकम्।
   यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥ वही १।३०

६. काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्-पदे।
   उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः॥ १।३२

एतावान् हि सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यभूतोर्थो यद्विषयाकारतानिराकरणपूर्वकञ्चित्तस्य भगवदाकारतासम्पादनम् सर्वेषामपि शास्त्राणामत्र व्यापारभेदेन पर्यवसानात्। वही—पृ० ६३

भगवान् में। अतः सदा हरिकी भावनासे तन्मय होकर मनको उन्हींके चरणों में लीन रक्खें।[1]

भक्तिरसका स्थायीभाव तथा उसके वैविध्य—तो, द्रुत चित्तमें प्रविष्ट होकर स्थिर होने वाली गोविन्दाकारताको भक्ति कहते हैं।[2] और वही भक्तिरसका स्थायीभाव है।[3] इस चित्तद्रुतिके काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि कारणोंके जितने भेद हैं उतने ही भेद भक्तिके भी होंगे [4]।

चित्तद्रुतिके कारण—सर्वप्रथम कारण काम है। उसका निरूपण करते हैं। शरीर के सम्बन्धविशेषकी स्पृहयालुता अर्थात् सुरतेच्छाशीलताको काम कहते हैं।[5] वह आलम्बनके सन्निधान तथा असन्निधान के अनुसार दो प्रकारका होताहै।[6] उस कामजन्य द्रुतिमें चित्तकी जो श्रीकृष्णनिष्ठता होती है वह आलम्बनकी सन्निधानवेलामें सम्भोग तथा असन्निधानवेलामें विप्रलम्भ रति कहलाती है।[7] चित्तद्रुतिका दूसरा कारण क्रोध है। ईर्ष्याके कारण चित्तके अभिज्वलनको क्रोध कहते हैं। तज्जन्य द्रुतिमें श्रीकृष्णनिष्ठता द्वेष कहलाती है।[8] द्वेषकारण के बिना अपने अपराध (मन्तु) निमित्तसे उत्पन्न जो चित्तकी विक्लवता, उसके कारण होने वाली चित्तद्रुतिमें जो श्रीकृष्णनिष्ठारति, उसे 'भय' कहते हैं।[9] स्नेह दो प्रकारका होता है—एक वह जो पुत्रादिके प्रति होताहै, तथा पाल्य-पालक-सम्बन्धरूपहै, तथा दूसरा वह, जो सेव्य-सेवक-सम्बन्ध-रूप होताहै। यह दूसरा सेव्य-सेवकसम्बन्ध वाला स्नेह भी तीन प्रकारका माना गयाहै—दास्य, सख्य तथा मिश्रित। तो, उस स्नेहके कारण द्रुतिशाली चित्तमें जो कृष्णाकारता होतीहै वह यदि पाल्य-पालक-भावसे है तो उसे वत्सलरति कहतेहैं, और यदि सेव्य-सेवक भावसे है तो प्रेयोरति कहते हैं।[10] चित्तके समुल्लासको हर्ष कहतेहैं—वह

---

१. विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवप्रविलीयते॥
तस्मादसदभिधानं यथास्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमद्भावभावितम्॥—श्री० भा० ११।१४।२७, २८

२. द्रुतेचित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा। सा भक्तिरित्यभिहिता। भ० र० २।१

३. स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारो भिधीयते। वही १।६

४. चित्तद्रुतेः कारणानाम्भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते॥ वही २।२

५. कामः शरीरसम्बन्धविशेषस्पृहयालुता। वही २।३

६. सन्निधानासन्निधानभेदेन स भवेद्द्विधा। वही २।३

७. वही २।४

८. वही २।५

९. वही २।८

१०. वही २।९-११

वैसे तो चार प्रकारका होताहै, किन्तु उनमें जो परानन्दमय हरिके प्रति माहात्म्यके कारण होताहै उससे चित्तकी द्रुति होने पर जो शुद्ध गोविन्दविषयारति होती है उसे हर्ष कहते हैं। शास्त्रोंके साधनोपदेशोंका यह चरमविन्दु है।[१] मधुसूदनने हास, विस्मय, तथा उत्साहको भी हर्षके ही तीन अन्य प्रकार बताये हैं, जो क्रमशः व्रीडाविकृतवाग्वेषचेष्टादिसे, लोकोत्तर-चमत्कारीवस्तुको देखकर तथा युद्धसम्मर्दसे उत्पन्न होतेहैं। उनके कारण चित्तद्रुतिमें श्रीकृष्ण निष्ठा रतिको क्रमसे हास, विस्मय तथा उत्साह कहतेहैं।[२] इष्ट-विच्छेदसे जो चित्तमें क्लेश का उदय होताहै, उसके कारण चित्तकी द्रुतिको (जो श्रीकृष्णनिष्ठारति है उसे) शोक कहते हैं।[३] चित्तद्रुतिका ही हेतु जुगुप्सा भी है, जो तीन प्रकारकी होती है—उद्वेगिनी, क्षोभिणी तथा शुद्धा।[४] इसी प्रकार किसी शोचनीयकी रक्षाकेलिए सानुतापप्रवृत्ति दयोत्साह तथा स्वधर्मरक्षाकेलिए प्रवृत्ति धर्मोत्साह भी चित्तद्रुतिके कारण हैं। और चित्तवृत्तियोंका वशीकरण अथवा काम-स्पृहा-हीनता शम कहलाता है। यह भी चित्त-द्रुतिका एक हेतु है।[५] किन्तु ये पूर्वोक्त छहों भाव अन्य विषयों में होतेहैं। इन्हें भगवद्विषयक नहीं माना गयाहै। अतः धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स तथा शान्त—ये भाव भक्ति रस नहीं बन पाते।[६] उत्साहके दान-रूप को भक्तिरसमें स्वीकार किया गयाहै।[७] चित्तकी जितनी द्रुतियाँ हैं उतने ही स्थायी भाव होते हैं, तथा विभावादिका समाश्रय पाकर वे रसदशाको प्राप्त करतीहैं।

भक्तिरस बनने तथा न बननेवाले भाव—मधुसूदनका मत है कि ईर्ष्या एवं भयसे उत्पन्न द्वेषभाव चाहे भगवद्विषयक ही क्योंन हो, भक्तिरस नहीं बन पाता, क्योंकि वह साक्षाद् रति-विरोधी होताहै। इस प्रकार शुद्ध रौद्र तथा रौद्रभयानक रस, प्रीति-विरोध-के कारण, आस्वाद्य रस नहीं होते।[८] जो रतिभाव भक्तिरस बन सकते हैं उनके भी दो प्रकार किये गये हैं—मिश्रित, तथा शुद्ध। इनमें दो प्रकारका कामज रतिभाव, शोक, हास,

---

१. भ० र० २।१२।६३
२. वही, २।१४।१६
३. वही, २।१७
४. वही, २।१८, २०
५. वही, २।१४
६. धर्मोत्साहो दयोत्साहो जुगुप्सा त्रिविधा शमः।
षडप्येते न्यविषया भगवद्विषया नहि॥
धर्मवीरो, दयावीरो, बीभत्सः शान्त इत्यमी।
अतो न भक्तिरसतां यान्तिभिन्नस्पदत्वतः। वही २।२७, २८
७. वही २।२२
८. ईर्ष्याजभयजद्वेषौ भगवद् विषयावपि।
न भक्तिरसतां यातः साक्षाद्रतिविरोधतः॥
शुद्धो रौद्ररसस्तत्र तथा रौद्रभयानकः।
नास्वाद्यः सुधिया प्रीतिविरोधेन मनागपि। वही २।२९, ३०

भय, विस्मय, युद्धोत्साह तथा दानोत्साह ये भाव भगवद्‌विषयक होकर भक्तिरस बनते हैं और शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीतिभयानक अद्‌भुत, युद्धवीर तथा दानवीर नामसे मिश्रित भक्ति-रस कहे जाते हैं।[1] इसी प्रकार शुद्धरति, वत्सलरति तथा प्रेयोरति—ये तीन प्रकार की रतियाँ अन्य भावोंसे अमिश्रित होनेके कारण अमिश्रा रति कही जाती हैं।[2] तन्मूलक भक्ति-रस भी तीन प्रकारका होता है विशुद्ध, वत्सल तथा प्रेयान्।[3] किन्तु शृङ्गाररूप भक्तिरस यद्यपि अन्य भावसे मिश्रित रहता है तो भी शुद्ध मिश्र सभी प्रकारके भक्तिरसोंसे बलवत्तर कहा जाताहै। क्योंकि उसीमें रतिका तीव्र, तीव्रतर रूप देखनेको मिलता है।

रसों के चारवर्ग—अन्तमें मधुसूदनने सभी रसों को चार वर्गोंमें विभक्त किया है—केवलसंकीर्ण, संकीर्णमिश्रित, केवल मिश्र तथा शुद्ध।[4] इनमें रौद्र, रौद्र-भयानक, धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स तथा शान्त ये (जो भक्तिरस नहीं बन सकते) केवलसंकीर्ण कहे गये हैं। भगवद्‌भक्तिविषयक जो शृङ्गारआदि मिश्रभक्तिरस कहे गये हैं वे ही जब भगवदितरविषयक होते हैं तो संकीर्णमिश्रित कहे जाते हैं तथा भगवद्‌विषयक होकर तो केवल मिश्रित प्रसिद्ध ही हैं। और शुद्धरस भी विशुद्ध वत्सल, प्रेयान् पहले ही कहे जा चुकेहैं।[5]

भक्तिके अन्य दृष्टिसे भेद—मधुसूदन ने एक अन्य प्रकारसे भेद करनेपर भक्तिको चार प्रकारका बताया है—राजसी, तामसी, शुद्ध सात्त्विकी तथा मिश्रिता। इनमें जो ईर्ष्याजन्य द्वेषसे उत्पन्न हो तो वह राजसी, भयजन्य और द्वेषसे उत्पन्न होने वाली तामसी, हर्षसे उत्पन्न होने वाली शुद्धसत्त्वोत्था तथा कामशोकादि भावोंसे उत्पन्न होने वाली मिश्रिता कही गयी है।[6] पूर्वोक्त चार प्रकार की भक्ति फिर—दृष्टफला, अदृष्टफला तथा उभयफला इस भेदसे तीन प्रकारकी होतीहै।[7] इनमें राजसी तथा तामसी भक्ति तो केवल अदृष्टफला है, मिश्रिता भक्ति उभयफला होती है तथा शुद्धसत्त्वोद्‌भवा भक्ति दृष्टफला है।[8] किन्तु

---

१. भ० र० २।३१।३३
२. वही, २।३४
३. वही, २।३५
४. वही, २।३७
५. वही २।३८, ४०
६. वही २।४१-४२
७. वही २।४४
८. राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक्।
 दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिताभक्तिरिष्यते॥ वही २।४५
 शुद्धसत्त्वोद्‌भवाप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु।
 दृष्टमात्रफला सातु सिद्धेषु सनकादिषु॥ वही २।४५,४६

भगवान्के प्रति रजस् तथा तमस् अंशके प्रबल रहनेपर भक्ति सुख देने वाली नहीं होती। शिशुपाल, कंस तथा आधुनिक पाशुपतआदि मतोंकी यही दशा है।[1] वस्तुतस्तु रजस् एवं तमस्से रहित भगवद्विषयक मति ही सचमुच सुखाभिव्यंजक होनेके कारण रति कही जाती है।[2]

मधुसूदन का भक्तिपुरुषार्थ—इस पूर्वोक्त समस्त विवेचन में एक विशिष्टता दिखायी पड़ती है कि मधुसूदन के अनुसार शान्तरस एवं मोक्षपुरुषार्थके वे अधिकारी हैं, जो अद्रुतचित्त हैं। भक्ति स्वयं एक पृथक् पुरुषार्थ है। अतः उन्होंने भक्तिके क्षेत्रसे शान्तको अलग रक्खा। रूप-गोस्वामीआदि पूर्वके आचार्योंने शान्तको भक्तिरसमें सम्मिलित किया था। इसी प्रकार उन्होने धर्मवीर तथा दयावीरको भक्तिसे, उनके आलम्बनमें पार्थक्यके कारण, बाहर कर दिया, तथा रौद्र, भय तो प्रेमके विरोधी ही हैं, और द्वेष में तो द्रुति होती ही नहीं। अतः ये भी भक्तिके क्षेत्रसे बहिर्भूत हैं।

---

१. भ० र० २।५२।५६

२. रजस्तमोविहीना तु भगवद्विषयामतिः।
सुखाभिव्यञ्जकत्वेन रतिरित्यभिधीयते॥ वही २।५८

परिशिष्ट

हिन्दी साहित्यमें श्रृङ्गार-रस-मीमांसा

संस्कृत-साहित्यमें श्रृङ्गाररस का स्थान—संस्कृतसाहित्य में प्रायः सर्वत्र हमें श्रृं० र० के दर्शन मिलते हैं, कहीं प्रधान प्रतिपाद्य विषय अथवा अङ्गीकेरूपमें कहीं अङ्गके रूपमें, कहीं प्रधान विषय को केवल रुचिकर बनानेकेलिए और कहीं काव्यशोभा देनेकेलिए ही। है वह सर्वव्यापक। वाल्मीकि, व्यास, भास, हाल, अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, अमरुक, बिल्हण, रत्नाकर, मङ्खक, श्रीहर्ष, सुबन्धु, बाण, दण्डी, हर्ष, भवभूति, राजशेखर, भर्तृहरि, जयदेव, जगन्नाथ आदि सिद्धरस महाकवियोंकी कृतियों में श्रृंङ्गाररसकी पावन अमृतधारा अविछिन्न रूपसे प्रवाहित दिखाई पड़ती है। साथ ही वेदों, वेदाङ्गों दर्शनों तथा अन्य शास्त्रग्रन्थों में उन-उन विषयोंके प्रतिपादनके प्रसङ्गमें विषय को सुबोध एवं हृद्य बनानेकेलिए आचार्योंने श्रृंगाररस सम्बन्धी उक्तियों की शरण ली है। क्योंकि मानवमात्र श्रृङ्गारकी बातें समझता है तथा प्राणीमात्र इसकी क्रिया जानता है। फिर यहाँ तक कि ईश्वरको भी इसका आलम्बन बनाने पर सुगम एवं सुलभ पाया गया और वही श्रृंगार भक्तिकी नौका बन कर भवसागरसे पार करने लगा। इस प्रकार इसके तीन रूप अथवा श्रेणियाँ देखी गयीहैं—नीच-रूप जो भवसागरमें डुबाता है, जो वासनारूप है, जो ग्राम्य एवं हेय कहा गया है; समरूप, जो उत्तम प्रकृतिके मानवोंका रहता है, तथा जो भवसागर-विहारका सुख देता है; और उच्च रूप, जो ईश्वरके प्रति होता है, जो आध्यात्मिक हो जाताहै, जो भक्ति कहलाता है, तथा जो भवसागरसे पार करने वाला माना गया है।

जीवनमें श्रृङ्गार—सांसारिक जीवनमें श्रृंगारप्रधान है। इसी कारण समस्त साहित्य ग्रन्थोंमें श्रृङ्गाररसका पूर्ण प्रसार एवं प्रकर्ष पाया जाताहै। सांसारिकताका आधार गृहस्थजीवन है। गृहस्थ-जीवन पुत्र-कलत्र पर अवलम्बित है, और पुत्रकलत्रादि मूर्तिमान् श्रृंगार ही हैं। अतएव सांसारिकताका सम्बल श्रृङ्गार है। विश्व के जितने हास-विलास वाञ्छनीय हैं, जितने केलिकलाप कमनीय हैं, जितनी लीलायें लोकप्रिय एवं ललित हैं, जितने आचार विचार और व्यवहार प्रशंसनीय हैं, वे प्रायः सबके सब श्रृङ्गाररस में अन्तर्हित हो जातेहैं।'

श्रृंगारमें हिन्दीका उत्तराधिकार—संस्कृतसाहित्यमें श्रृङ्गारकी पूर्वोक्त तीनों श्रेणियों की रचनाएं देखनेको मिलती हैं, किन्तु अधिक मात्रा सम एवं उच्चकोटिके ही श्रृङ्गारकी है, अधम अथवा ग्राम्यश्रृंगार वहाँ अतिशय हेय तथा काव्यकी दृष्टिसे सदोष माना जाता था। अतः संस्कृतमें उसकी रचना अतिस्वल्प अथवा नहींके बराबर हुईहै।

कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंशकी फुटकल रचनाओंमें वह देखा जा सकताहै। हिन्दीको तो संस्कृत साहित्यकी बहुतसी परम्पराएँ उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुईं। वास्तवमें हिन्दीका शृंगार-साहित्य एक प्रकारसे संस्कृतसाहित्यका ही अनूदित संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। हिन्दीकी रीतिरचनाका युग बहुत कुछ संस्कृतकाव्यशास्त्रके रसवादी आचार्योंका समकालिक तथा समनन्तरकालिक रहाहै। अतः उनके मतोंसे उसका प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। शृंगारके विषयमें हिन्दीके रीतिकालीन आचार्य कवियोंका श्लाघ्य योगदान रहा—विचाररूपमें तो कम किन्तु काव्यरूपमें अधिक। अतः उनका संक्षेपमें पर्यवेक्षण करना अनुपयुक्त न होगा।

हिन्दीमें रीतिकाल—हिन्दीमें 'रीति'का प्रयोग साधारणतः लक्षणग्रंथोंकेलिए होता है। जिन ग्रन्थोंमें काव्यके विभिन्न अङ्गोंका लक्षण-उदाहरणसहित विवेचन होता है, उन्हें 'रीतिग्रन्थ' कहतेहैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धतिपर जिस विधानके अनुसार यह विवेचन होताहै उसे रीतशास्त्र कहतेहैं। संस्कृतमें इसे अलङ्कारशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र ही प्रायः कहा गयाहै। रीतिका संस्कृतमें एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गयाहै। रीतिका अर्थ वही है, 'विशिष्ट पद-रचना।'"[१] किन्तु हिन्दी साहित्यमें काव्यरचनासम्बन्धी नियमों के विधानको ही समग्रतः रीतिनाम दे दिया गया है। जिस ग्रंथमें रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीतिग्रंथ और जिस काव्य की रचना इन नियमोंसे आबद्ध हो वह रीति-काव्य है। रीति शब्दका इस अर्थमें प्रयोग हिन्दीकी अपनी विशिष्टता है। रीतिकालके अनेक कवियोंने प्रायः आरम्भसे ही 'काव्यकी रीति', कवित-रीति आदि शब्दोंका प्रयोग स्पष्टतः इसी अर्थमें किया है।[२]

हिन्दीके आचार्य कवि—संस्कृत अलङ्कारशास्त्रको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाताहै कि वहाँ अलङ्कारग्रन्थोंके प्रणेता प्रायः आचार्यरूपमें दिखाई पड़तेहैं, कवि रूपमें नहीं। वहाँ प्रायः कवि तथा आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ रहीं। आचार्य अलङ्कारशास्त्रके सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें अनेक उच्चकोटि के कवि भी थे। कुछने सिद्धान्तविवेचनके पश्चात् उदाहरणरूपमें अपनी ही कृतियों को प्रस्तुत किया। दण्डी, उद्भट, रूद्रट, विद्यानाथ, विद्याधर, पण्डितराजआदि कुछ ऐसे ही आचार्य कवि हुए हैं। इसी परम्परामें 'चन्द्रालोक'के रचयिता जयदेव हुए, जिन्होंने लक्षण तथा उदाहरण एक ही, अनुष्टुप् छन्दमें प्रस्तुत किया तथा गद्यका एकदम बहिष्कार कर दिया। हिन्दीके रीतिकार आचार्य कवियोंने प्रायः जयदेव वाली परम्पराका अनुसरण किया। किन्तु इस एकीकरणका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्वकेलिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्या-

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नागेन्द्र, पृ० १४३

२. "काव्य की रीति सिखीसुकवीन सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें"—दासकाव्य निर्णय।
"कवितरीति कछु कहत है व्यंग्य अर्थ चितलाय"—प्रतापसाहि व्यंग्यार्थकौमुदी।

लोचन शक्तिकी अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जातेथे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धान्तोंका प्रतिपादनआदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय हिन्दीगद्यका विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्यमें ही लिखा जाता था। पद्यमें किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उसपर तर्क-वितर्क हो नहीं सकता। इस अवस्थामें चन्द्रालोकवाली पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरणमें ही लक्षण कहकर छुट्टी ली। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दीमें लक्षणग्रन्थकी परिपाटीपर रचना करनेवाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य कोटिमें नहीं आ सकतेथे। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्वके गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्रका सम्यक् बोध करानेमें असमर्थ हैं। और जब हिन्दीमें काव्याङ्गोंका स्वतन्त्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह-तरहके वाद कैसे प्रतिष्ठित होते ? संस्कृत साहित्यमें जैसे, अलङ्कारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेकवाद पाये जातेहैं, वैसे वादोंकेलिए हिन्दीके रीति-क्षेत्रमें रास्ता ही नहीं निकला। केशवको ही, काव्यमें अलङ्कार आवश्यक माननेके कारण, अलङ्कारवादी कहसकतेहैं। किन्तु उनके पश्चात् होने वाले आचार्यकवियोंने किसी वादका निर्देश नहीं किया। वे रसको ही काव्यकी आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले। इन रीति-ग्रन्थोंके कर्ता भावुक सहृदय तथा निपुण कवि थे। उनका प्रधान उद्देश्य कविता करना होताथा, न कि काव्यांगोंका शास्त्रीय पद्धतिपर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगाररस) और अलङ्कारोंके बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाणमें प्रस्तुत हुए।

हिन्दीके शृङ्गाररस-ग्रन्थ—ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृतके सारे लक्षण-ग्रन्थोंसे चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलङ्कारोंकी अपेक्षा नायिकाभेदकी ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररसके अन्तर्गत बहुत सुन्दर मुक्तकरचना हिन्दीमें हुई। इस रसका इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्यमें हुआ कि इसके एक-एक अंगको लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचेगये। इस रसका सारा वैभव कवियोंने नायिका-भेदके भीतर दिखाया। रसग्रन्थ वास्तवमें नायिकाभेदके ही ग्रन्थ हैं, जिनमें और दूसरे रस पीछेसे संक्षेपमें चलते कर दिये गयेहैं। नायिका शृङ्गार रसका आलम्बन है। इस आलम्बनके अङ्गोंका वर्णन एक स्वतन्त्र विषयहो गया और न जाने कितने ग्रन्थ केवल नखशिखवर्णनके लिखे गये। इसी प्रकार उद्दीपनके रूपमें षड्ऋतुवर्णनपर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। विप्रलम्भसम्बन्धी 'बारहमासे' भी कुछ कवियों ने लिखे।[1]

रीतिग्रन्थोंका विकास अधिकतर अवधमें हुआ। अतः इस कालमें काव्यकी ब्रजभाषा में अवधीके प्रयोग और अधिक मिले। इस कालमें कविता तो शृङ्गारके साथ वीररसकी भी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

हुई किन्तु प्रधानता शृङ्गारकी ही रही। इससे इस कालको रसके विचारसे कोई शृङ्गार-काल कहे तो कह सकता है। शृङ्गारके वर्णनको बहुतेरे कवियोंने अश्लीलताकी सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनताकी रुचि नहीं, आश्रयदाता महाराजाओंकी रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरताका जीवन बहुत कम रह गया था।[1]

हिन्दीमें शृंगारकी व्यापकता—हिन्दीका कदाचित् ही कोई कवि हो, जिसकी रचनायें शृंगाररसान्तर्गत न आ सकती हों। वात्सल्य शृंगारने सूरदास-जैसे महात्मा कवि दिये। ईश्वरीय शृङ्गारकी सबसे महान् विभूति गोस्वामी तुलसीदास हैं। दाम्पत्यशृंगारने रीतिकालीन अगणित कवि उत्पन्न किये, जिन्होंने समस्त साहित्यसागरका मन्थन ही कर डाला और मणिमुक्ताके अतिरिक्त सीप और घोंघे भी एकत्र कर डाले।

"शृंगाररस में प्रायः अन्य समस्त रसोंका साम्य हो जाता है—कुछ का उसके संयोगरूप में, कुछ का वियोगरूप में। दो विभाग होनेसे शृंगार रसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक हो जाता है। सुख और दुःखके अतिरिक्त संसारमें है ही क्या, और ये दोनों ही 'शृंगार' के अधीन हैं।"[2]

रीतिकालकी अवधि—संस्कृतमें अलङ्कारशास्त्रकी रचना-परम्पराका क्रम १७वीं सदीके अन्त तथा १८वीं सदीके प्रथमपाद तक चलता रहा। संस्कृतकी यह परम्परा हिन्दीको उत्तराधिकारके रूपमें मिली। हिन्दी साहित्यकी अलङ्कारशास्त्रके लक्षण-ग्रन्थ सहित काव्य-रचनाका यह युग 'रीतिकाल' विशिष्टरूपसे प्रायः १७वीं सदी के मध्य से प्रारम्भ हो कर १८वीं सदीके मध्यतक चलता रहा। वास्तवमें तो हिन्दीके रीतिकालका अध्याय अथवा लक्षण-ग्रन्थोंकी परम्परा न तो कोई आकस्मिक घटना ही थी और न कोई नवीन उद्भावना ही। वह तो एक प्राचीन परम्पराका नियमित विकास थी, जिसके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके भक्तिकालमें क्रमिक विकास होते रहे।"[3]

रीतिकाव्य के आश्रयदाता—हिन्दी साहित्यकी यह रीतिकालीन कविता वास्तवमें राजाओं और रईसोंके आश्रयमें ही पली है। रीतिकालका आरम्भ ही तब हुआ जब औरङ्गजेबकी मृत्युके पश्चात् दिल्लीदरबारका आकर्षण कला-विदोंकेलिए कुछ नहीं रह गया था। केन्द्रशक्तिके विघटित होनेपर छोटे-छोटे राजे-महराजे स्वतन्त्र हो गये। कवि, चित्र-कार, गायक और शिल्पी सभी उन राजाओं तथा रईसोंके यहाँ आश्रयकी खोज में भटकने लगे। ये राजा और रईस अधिकांशतः हिन्दू या हिन्दू-रीति-रिवाजोंसे घुले-मिले हिन्दीरसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओंको छोड़ कर शेष सभी का जीवन सामयिक

१. हि० सा० इ०

२. ए स्टडी आफ दि इरोटिक सेण्टीमेण्ट इन हिन्दी पोयेट्री—पृ० ५१५

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास

राजनीतिसे पृथक् अवकाश और विलासका जीवन था। दिल्लीका राजवंश भी जब इस समय इतने कोलाहलके बीच ऐश और आराममें मस्त था तो इन राजा और रईसोंको तो चिन्ता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विलासका अवसर कहीं अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमानेपर ही सही, दिल्ली राजदरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियोंके दासत्व और उत्पीड़नके उपरान्त अब यह समय आ गया था जब इनमें आत्मगौरवकी चेतना निःशेष हो चुकीथी—इसलिए तो अव्यवस्था और उत्क्रान्तिके युगमें भी ये लोग चैनकी वंशी बजा सकतेथे। जीवनके प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवादकी शक्ति भी अब उनमें नहीं थी केवल भोगवाद ही शेष था। अतएव ये लोग भोगके सभी उपकरणों को—विनोदके सभी उपकरणों को एकत्र करनेमें प्रयत्नशील रहतेथे। जिनमें सुबाला, सुराही और प्यालाके साथ-साथ तानतुकताला और गुणीजनोंका सरसकाव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभीमें कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोदका रसाला ही नहीं थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्दका साधन तथा व्यक्तित्वका श्रृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचिको समृद्ध करनेकेलिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियोंका सत्सङ्ग और काव्यका आस्वादन अनिवार्य समझते थे—उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था। रीतिकाल के कवि भी, वे व्यक्ति थे, जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्पराके रूपमें प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शग़ल नहीं स्थायी कर्त्तव्य-कर्म था।"[1]

रीतिकाव्यका लक्ष्य—इन रीतिकालीन आचार्य कवियोंका वास्तविक लक्ष्य मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादन करना नहीं था। इनका प्रथम उद्देश्य तो सरस काव्यकी रचना करना था, और दूसरा था शौक़ीन-मिज़ाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकोंको काव्याङ्गों का साधारण ज्ञान करा देना, इनके अतिरिक्त किसी-किसीका उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन भी था।[2] और इसलिए उनकी दृष्टि ऐसे ही संस्कृतके लक्षण ग्रंथोंकी ओर गयी जो बिना शास्त्रार्थपूर्वक सिद्धान्त-स्थापन करते हुए संक्षेप में केवल पद्यमें ही एक पंक्तिमें लक्षण और सरस उदाहरण प्रस्तुत करते थे, जैसे चन्द्रालोकआदि।

रीति-ग्रंथोंकी निरूपण-शैलियां—इस प्रकार हिन्दीके रीतिग्रंथोंका पर्यवेक्षण करनेपर उनमें तीन प्रकार की निरूपण-शैली प्रयुक्त दिखाई पड़तीहै—काव्यके सभी अङ्गों-पर थोड़ा प्रकाश डालनेवाली शैली, श्रृंगारतिलक, रस-मंजरी आदिकी श्रृंगाररसमयी नायिका-भेदवाली शैली, जिसमें केवल श्रृंगारके विभिन्न अङ्गों, विशेषतः नायिकाभेदका

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १४६

२. डा० नगेन्द्र

ही निरूपण किया गया है, तथा चन्द्रालोककी सङ्क्षिप्त अलङ्कार-निरूपण-शैली, जिसमें अलङ्कारोंके ही सङ्क्षिप्त लक्षण तथा उदाहरण दिए गये हैं।

काव्याङ्ग-निरूपण-शैली—पहली श्रेणीमें सेनापतिका 'काव्य-कल्पद्रुम', चिन्तामणिके दो ग्रंथ 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्यविवेक', कुलपतिमिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'काव्यरसायन', सुरतिमिश्रका 'काव्य-सिद्धान्त', श्रीपति का 'काव्यसरोज', दासका 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', कुमारमणिभट्टका 'रसिक-रसाल', रतन कविका 'फतेहभूषण', करन कवि का 'साहित्यरस', प्रतापसाहिका 'काव्यविलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिकगोविन्दानन्द-घन' सदृश सर्वाङ्गमपूर्ण ग्रंथ आते हैं। इनके अतिरिक्त काव्यप्रकाशके कुछ अनुवाद भी हुए।[1]

नायिकाभेद-निरूपणशैली—द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत वे ग्रंथ आतेहैं जिनका प्रतिपाद्य विषय केवल शृंगाररस ही है। ऐसे ग्रंथ हैं—केशव की 'रसिक-प्रिया', मतिराम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र के 'रत्नाकर' और 'रसार्णव', देवके 'भावविलास' 'रसविलास' 'भवानी-विलास', 'सुजानविनोद' आदि, कवीन्द्रका 'रसचन्द्रोदय', दासका 'रसनिर्णय,' तोषका सुधानिधि', बेनी प्रवीनका 'नवरसतरंग', पद्माकरका 'जगद्विनोद' इत्यादि। इन ग्रंथोंके आधार प्रधानतया रुद्रभट्टका 'शृंगारतिलक' तथा भानुदत्तकी 'रसतरंगिणी' एवं 'रसमञ्जरी' रहे हैं। इन हिन्दी रीति-ग्रंथोंमें प्रधानतया शृंगाररसका ही निरूपण किया गयाहै। अन्य रसोंका उल्लेख तो ग्रन्थपूर्तिकेलिए ही हुआ है। इन सभी आचार्योंने एकस्वरसे शृंगारको सभी रसोंका राजा माना है।[2] अपने ग्रंथोंमें इन आचार्योंने शृंगारकी प्रधानता कई रूपसे प्रतिपादित कीहै। 'केशव-जैसे कुछ कवियोंने अन्य रसोंका भी समाहार शृंगारमें कुशलतासे कर दिखायाहै। 'रसिकप्रिया'में हास्य, अद्भुतआदि मित्र रसोंका ही नहीं, भयानक, वीभत्स-आदि अमित्र रसोंका भी उसके अन्तर्गत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा बेनी-प्रवीनने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानकका शृंगार-विमिश्रित वर्णन कियाहै। वास्तवमें ये प्रयत्न कुछ सीमातक ही सफल हुएहैं और हो सकते हैं। इनकी अपेक्षा मतिरामआदिने अन्य रसोंकी सर्वथा उपेक्षा कर अधिक विवेकका परिचय दियाहै। मतिरामने अपने रसराज में केवल शृङ्गारका ही वर्णन और चित्रण कियाहै।

इन ग्रंथोंमें शृंगारके संयोग और वियोग दोनों पक्षोंका सम्यक् निरूपण मिलताहै। संयोगके अन्तर्गत नायक-नायिका (आलम्बन) सखी, दूती एवं षट् ऋतु (उद्दीपन) और उसके अनुभाव, सात्त्विकभाव, नायिकाओंके स्वभावज अलङ्कारआदि का मनोहर वर्णन विस्तार-पूर्वक अत्यन्त मनोनिवेशके साथ किया गयाहै। वियोगपक्षमें पूर्वानुराग, मान, प्रवासआदि

---

१. रीο काο भूο, पृο १४६

२. ताहि कहत सिंगार है, सकल रसन को राव॥—बेनीप्रवीन—नवरसतरंग

३. नवरस में सिंगार रस सिरे कहत सब कोइ।—पद्माकर—जगद्विनोद

विभिन्न भेद, पूर्वानुरागके श्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्षदर्शनआदि साधन, मानमोचनके अनेक उपाय और वियोगजन्य कामदशाएँआदि वर्णित और अङ्कित हैं। संयोग और वियोगमें इन कवियोंकी वृत्ति संयोगमें ही अधिक रमी है। और उसमें भी सबसे अधिक महत्त्व दिया है नायिकाभेदको, क्योंकि इन कवियोंकी रसवृत्तिका अन्य प्रसङ्गोंकी अपेक्षा नारीके रूप-भेदों से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।[1]

एकदृष्टिमें हिन्दीके शृंगारसाहित्यमें संस्कृतकी तीन परम्पराओं की त्रिवेणी (त्रि-धारा) बहती दिखायी पड़ती है— गाथा सतसई, अमरुशतक, शृंगारतिलक वाली (ऐहिक) मुक्तक परम्परा, चण्डीशतक, दुर्गासप्तशती, गीत-गोविन्दवाली, (पारलौकिक) स्तोत्र परम्परा तथा कामशास्त्र, रतिरहस्य, अनङ्गरङ्ग आदि वाली. नायिका भेद वाली परम्परा। नायक-नायिका वाली शैली ही उन तीनोंमें प्रधान रही। नायक-नायिका शृंगार के आलम्बन हैं, अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहले रसके स्वरूप भेद, स्थायीआदिका वर्णन करनेके उपरान्त विभावके अन्तर्गत नायिकाभेदका वर्णन हो। परन्तु इनमें बहुतसे कवियोंने बिना किसी प्रकारके सङ्कोच अथवा दम्भ के नायिका-भेदसे ही अपने ग्रंथोंका आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दियाहै कि—"सब रसोंमें मुख्य है शृंगाररस और शृंगार आलम्बित है नायक और नायिकापर, अतएव सबसे पूर्व उसीका वर्णन किया जाता है।"[2] देवने तो नायिका और नायकको साक्षात् माया और ब्रह्म ही कह दिया है।[3]

संक्षिप्त अलंकारनिरूपण-शैली—तीसरी शैली चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्दके अनुकरणपर अलंकारनिरूपणकी संक्षिप्त शैली है। इसका आरम्भ तो सम्भवतः करनेस के 'श्रुतिभूषण'आदि ग्रन्थोंसे हुआ, किन्तु इसको वास्तविक प्रतिष्ठा महाराज जसवंत सिंहके 'भाषाभूषण'से मिली। इस संक्षिप्त पद्धतिके अनुकरणपर हिन्दीमें अनेक उपयोगी अलंकार-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ—जिसमें सुरतिमिश्रकृत 'अलंकारदीपक' 'अलंकारमाला' रकिसुमतिका 'अलंकार चन्द्रोदय,' भूपतिका 'कंठाभूषण', शम्भुनाथ मिश्रका 'अलंकारदीपक,' ऋषिनाथ-रचित 'अलंकार—मणि-मञ्जरी', बैरीलालका 'भाषाभरण' नाथहरिनाथ तथा महाराज राम-सिंहके 'अलंकारदर्पण' तथा पद्माकर-कृत 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों-का लक्ष्य स्वीकृत रूपसे अलंकार-निरूपणही है—काव्य-रचना नहीं।

उदाहरणप्रधान शैली—पूर्वोक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग ऐसे ग्रन्थोंका है, जिनकी अलंकार-निरूपण-दृष्टि इनसे सर्वथा विपरीत है। इस वर्गमें मतिरामके 'ललितललाम' भूषणके 'शिवराजभूषण' रघुनाथके 'रसिकमोहन', दूलहके 'कविकुलकण्ठाभरण', दत्तके 'लालि-

---

१. री० का० भू०, पृ० १५३

२. मतिराम-रसराज तथा पद्माकर-जगद्विनोद

३. मायादेवीनायिका, नायकपुरुष आप

त्यलता,' ग्वालके 'रसिकानन्द' और प्रतापसिंहके 'अलंकार चिन्तामणि' आदिकी गणनाकी जा सकतीहै। इनके रचयिताआचार्योंने अलंकारलक्षणोंकी अपेक्षा उदाहरणोंको अधिक महत्त्व दिया। इनका प्रधान लक्ष्य अलंकारनिरूपण नहीं था।

रीतिकालीन रचनाओं में श्रृङ्गारका सर्वाङ्ग-निरूपण—किन्तु यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि रीतिकालीन रचनाओंमें श्रृङ्गाररसका अपूर्व विवेचन हुआ है। श्रृङ्गाररसके सभी अवयवोंका सफल चित्रण किया गया है। श्रृङ्गाररसको देखनेकी जितनी भी दृष्टियाँ हो सकती हैं, इनकवि-गणोंने उनसबसे उसका कलापूर्ण विवेचनात्मक वर्णन किया है। उनमें भी उद्दीपन विभावके अन्तर्गत ऋतुवर्णन तथा नख-शिख-वर्णन और आलम्बन विभावके अन्तर्गत नायिकाभेद-निरूपणकी ही प्रधानता रही। ऋतुवर्णन तथा नखशिखवर्णनमें यद्यपि परम्पराओं-का निर्वाह अधिक हुआहै, परन्तु नायिकाभेद-कथनमें कविजनोंने सफल मनोवैज्ञानिक विवेचन कियेहैं और मौलिक उद्भावनायें भी कीहैं।

नायिकानिरूपणमें राधाकृष्णके समावेशका प्रभाव—नायिका-भेद-वर्णनके अन्तर्गत स्त्री-पुरुषके विचारों, भावों एवं मनोदशाके चित्रणके अतिरिक्त हमें भारतीय कुल-ललनाओंके त्याग एवं अद्भुतप्रेम के पवित्र और महान् स्वरूप भी देखनेको मिलते हैं। इन वर्णनोंमें राधाकृष्णके समावेशने भक्तिके स्वरूप को अवश्य ही विकृत किया, किन्तु हिन्दी-जन-जीवनमें एक नवीन उत्साहका संचार किया, हिन्दूजातिको नवकिसलय युक्त मधुर जीवन प्रदान करके उसे सरस सुहाना बनाया और उसने उदासीन हृदयोंमें नवोत्साहका सञ्चार करके निरुत्साह व्यक्तियोंको नवीन प्रेरणायें प्रदानकीं। हिन्दीके रीतिकालकी श्रृङ्गाररसपरक रचनाएँ सकारण, सार्थक और साभिप्राय हुई थीं। वे हिन्दी-साहित्य-सागर की अक्षय निधि हैं।[1] किन्तु 'कृष्ण और राधिकाके नाम प्रारम्भसे ही सामान्य नायक और नायिकाके पर्यायवाची नहीं बन गयेथे। मधुरा अथवा प्रेमभक्तिके अन्तर्गत वर्णित राधाकी महिमामयी प्रेम-मूर्तिको साधारण स्थूल दृष्टिसे देखा गया। दाम्पत्य प्रेम साधनमात्र न रह कर साध्य बन गया। परकीया प्रेमभावनाने उसे नवीन गति प्रदान कर दी और कृष्णकी उपासना परकीया भावसे होने लगी। श्रृङ्गारी कवियोंने कुछ ऐसी परम्परासी बना दी कि प्रत्येक स्त्री परकीयाभावसे परपुरुषसे प्रेम कर सकती है। परिणाम यह हुआ कि दाम्पत्य प्रेम भी निम्न स्तरपर आ गया और उसकी पवित्रता जाती रही। कृष्ण और राधिकाकी भक्तिके विकृत होनेका परिणाम बुरा हुआ। इस विकृत श्रृङ्गारभावनासे प्रभावित होकर अश्लील साहित्यका सृजन हुआ ही, अन्य ललित कलाएँ भी इसके कुप्रभावसे अछूती नहीं रह सकीं। नग्नावस्थामें स्नानकरती हुई स्त्रियोंके वस्त्र चुराने वाले कृष्णके चित्र बनाना साधारणसी बात हो गयी। नग्न स्त्रियोंकी मूर्ति बनाना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई।'

'इस श्रृङ्गारीभावनाके कारण सखी-सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा हुई थी। परकीया प्रेमके

---

१. रीतिकालीन कविता एवं श्रृङ्गाररस का विवेचन—डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

निर्वाहके नाम पर देवमन्दिर राधाकृष्णकी रङ्गस्थली समझे जाने लगे और तथाकथित भक्तगण भक्तिनों और चेलियोंको लेकर रासरङ्गमें प्रवृत होगये। परकीया-प्रेमकी भक्ति-भावनाके एक अङ्ग-विशेषके रूपमें प्रतिष्ठा होनेके फलस्वरूप इस प्रकारकी प्रेम-लीलाएँ गर्हित होनेपर भी समाजके एक बड़े भाग का संरक्षण प्राप्त कर सकीं। पहले भक्तगण और बादमें कविगण कृष्ण-राधाके इस अतिरञ्जित स्वरूप को आदर्श बताकर स्वयं भी सावनकी बदरिया झुकनेपर झूला-झूलने लगे और बसन्तोत्सव आनेपर अबीर और गुलाबकी मूंठ चलाने लगे— परिणामस्वरूप बहुतसे देवालय व्यभिचारके अड्डे बन गये। नायकरूपमें मुरलीमनोहर और नायिकाकेरूपमें वृषभानुनन्दिनीका ग्रहण किया जाना, अनेक कार्योमेंअनर्थका कारण बना। इस भावकी प्रबलताके कारण सत् असत्का विवेक लुप्तप्राय हो गया था।[1]'

शृङ्गारवर्णन में नखशिख तथा षड्-ऋतुवर्णन—शृङ्गारवर्णनके प्रसंगमें कवियों ने षड्ऋतुवर्णन तथा नखशिखवर्णन लिया। भारतीय कविको अनादिकालसे यहाँके ऋतु-वैभव लुभाते रहे। आदिकविकी वाणीने भी प्रकृति नटीके वर्षा, शरद् तथा हेमन्तके शृङ्गारों का गान किया था। कवि-कुलगुरुने तो 'ऋतुसंहार' ही सुना दिया। भारवि, माघ आदिने भी ऋतु-गान किये। किन्तु हिन्दीके रीतिकालमें तो शृङ्गाररसकी रचनाके सम्बन्धमें यह एक प्रधान वर्ण्य विषय हो गया। वहाँ यह ऋतुवर्णन दो प्रकारसे किया गया—एक छः ऋतुओंके वर्णनके रूपमें तथा दूसरा बारहमासाके रूपमें। ऋतुवर्णन तो शृंगारके दोनों पक्षों संयोग तथा वियोगके अन्तर्गत किये गये। इनमें प्रकृतिके नैसर्गिक सौन्दर्यकी अपेक्षा उद्दीपन प्रभावका ही कथन अधिक किया गया। किन्तु बारहमासे, जो सभी महीनोंके अलग-अलग नामसे वर्णनरूप होतेथे, प्रायः वियोग शृंगारके पक्षमें ही अधिक कहे गये। इनमें वियोगिनियोंकी विरह-वेदना, उनके सन्देश तथा उपालम्भआदिका वर्णन किया जाताहै।

इसी प्रकार नखशिखवर्णनकी प्रणाली भी अतिशय प्राचीन है। कालिदासने पार्वती का नखशिख-लावण्य अनेकशः चित्रित किया है। नैषधकारने भी अनेक बार दमयन्तीरूपका नखशिख निरूपण किया है। हिन्दीके रीतिकालमें तो यह एक स्वतन्त्र विषय ही बन गया। भक्ति भावनाके अन्तर्गत उपास्य देवमें अनन्त शक्ति और अनन्तशीलके साथ अनन्त सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा हुई। भक्तकवियोंने भगवान्के अनन्त सौन्दर्य समन्वित विश्वमोहक स्वरूपका जी खोलकर वर्णन किया। उन्होंने भगवान्के अंग-प्रत्यंगका, चोटीसे लेकर पैरके नाखूनोंतक एक-एक अंगका, भावपूर्ण मनोमुग्धकारी वर्णन कियाहै। भक्तिभावनाके अनुकरणपर शृंगार रस-निरूपणमें भी स्वरूप वर्णनकी प्रणाली आ गयी, जो कृष्ण-राधाके नख-शिख वर्णनसे प्रारम्भ होकर लौकिक नायक-नायिकाओंपर जाकर रुकी विशेषकर नायिकारूपपर। इसमें पूरे शरीरका वर्णन भी रहता है तथा अंगप्रत्यंगका भी। 'अलकशतक' 'तिलकहजारा'आदि रचनाएँ इस बातका प्रमाण हैं कि एक-एक अंगके वर्णनमें पूरे पोथे ही रच डाले गयेथे।

---

१. वही, पृ० ५१८–१९

इनमें— पगतल, पग, पद, लालिमा, एड़ी, पदांगुलि, पद-नख, गुल्फ, पिंडुरी, जंघा, नितम्ब, कटि, नाभि, उदर, त्रिवली, रोम-राजि, कुच, कंचुकीयुत, करतल, अंगुली, करनख, पीठ, ग्रीवा, भुजा, चिबुक, तिल, अधर, दशन, ओठ, वाणी, मुखराग, मुसकान, कपोल, कपोल तिल, नाक, उसका आभूषण, नेत्र, चितवन, भौंह, मुखमण्डल, केश, अलक, सीमन्त, वेणी, अंगवास, अंगदीप्ति, गति, सौकुमार्य तथा सोलह शृङ्गारआदि रहते हैं। भक्तिकालमें यह नखशिखवर्णन कुछ मर्यादित रहा, किन्तु रीतिकालमें तो मर्यादा टूट गई। राधाकृष्णके नाम पर कवियोंने कुरुचिपूर्ण वर्णन भी प्रस्तुत कर डाले।

नायिका शृङ्गाररसका आलम्बनविभाव है। हिन्दीके रीतिग्रन्थकर्त्ता भावुक आचार्य कवियोंने इस विभावके वर्णनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं व्युत्पत्ति लगा दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी कवियों द्वारा वर्णित यह नायिकाभेद अत्यन्त मार्मिक विशद तथा मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। इन हिन्दी आचार्य कवियोंको नायिका भेदकी परम्परा संस्कृत साहित्य से मिली थी। इस विषय की मूल सामग्री इन्होंने वहीं से प्राप्त की थी। उनका विस्तृत विवेचन तो पूर्व के अध्यायों में उन आचार्यों के प्रसंग में हो चुका है।

हिन्दीमें नायिकाभेदका निरूपण करनेवाले प्रथम कवि, रहीम, नन्ददास तथा केशवदास होतेहैं। रहीमने बरवैछन्दोंमें 'बरवै नायिका-भेद' लिखा। किन्तु लक्षण न लिखकर केवल उदाहरण रचे हैं, जो अत्यन्त सरस, सरल तथा स्पष्ट भाषामें हैं। वास्तवमें रहीमने नायिकाओंकी विभिन्न प्रेमदशाओंका निरूपण कियाहै, नायिकाओंके भेद उपभेदोंका वर्णन नहीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुल १०५ बरवै लिखे हैं। 'नगरशोभा' के अन्तर्गत इन्होंने ब्राह्मण, खतरानी, रंगरेजिनआदि विभिन्न जाति बिरादरियोंकी ६१ प्रकार की स्त्रियोंका वर्णन किया है।[1]

नन्ददास—इनकी 'रसमंजरी' ब्रजभाषामें नायिकाभेदकी प्रथम कृति कही जा सकती है, जो भानुदत्तकी रसमंजरीके आधारपर लिखी गयी है।[2] रहीमने लक्षण न लिख कर केवल उदाहरण लिखे थे। नन्ददासने ठीक उसके विपरीत उदाहरण न लिखकर केवल लक्षण ही दियेहैं। कहीं-कहीं तो भानुदत्तकी रसमंजरीका ज्योंकात्यों रूपान्तरण कर दिया है। इनके विवेचनका क्रम कहीं-कहीं भानुदत्तसे भिन्न हो गयाहै। प्रोषितपतिकाआदि आठ भेदोंके स्थानपर नन्ददासने एक नवम भेद भी किया है—प्रीतमगमनी।

केशवदास—ने अपने रसिकप्रिया नामक रीतिग्रन्थमें प्रसङ्गवश नायिकाभेदका भी निरूपण कियाहै, जो संस्कृतके अनेक ग्रन्थोंके आधार पर अनेक दृष्टियोंसे किया गयाहै, जैसे—जाति के अनुसार—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी।

---

१. री० क० शृ० र० पृ० २३६

२. रसमंजरी अनुसार है, नन्दसुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जंह प्रेमसार विस्तार॥

नायक के सम्बन्ध के अनुसार—स्वकीया, परकीया और सामान्या।

(अ) फिर स्वकीया के तीन भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। इनमें भी मुग्धाके चार उपभेद—नवलबधू, नवयौवना, नवलअनङ्गा और लज्जा-प्रायरति। मध्याके भी इसी प्रकार चार उपभेद—आरूढ़यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूतमनोभवा तथा सुरतिविचित्रा। तथा प्रौढ़ाके भी चार ही उपभेद—समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, वक्रामति तथा लुब्धामति। धीरादिभेद उन्होंने पृथक् न लिखकर मध्या और प्रौढ़ाके साथ ही लिखे हैं।

(आ) परकीयाके तो प्रसिद्ध दो ही भेद हैं—ऊढा तथा अनूढा। (इ) सामान्याकी केशवने कोई विशेष चर्चा नहीं की है।

दशा के अनुसार आठ प्रकार प्रसिद्ध ही हैं—स्वाधीनपतिका, उत्कला, वास-शय्या, अभिसन्धिता, खण्डिता, प्रोषितप्रेयसी, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका। फिर इन आठों के प्रच्छन्न तथा प्रकाश नामक प्रत्येकके दो-दो भेद किये हैं। उन्होंने अभिसारिकाके ये भेद किये हैं—स्वकीया अभिसारिका, परकीया अभिसारिका, प्रेमाभिसारिका। (दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश) गर्वाभिसारिका (दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश) कामाभिसारिका (दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश)[1]—

गुण (प्रकृति) के अनुसार तीन भेद कियेहैं—उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा। इस प्रकार केशवदास के अनुसार नायिकाओं की कुल संख्या तीन सौ साठ होतीहै।[2]

केशवदासने पहले लक्षण दोहामें लिखा फिर उदाहरण कवित्त, अथवा सवैया दिये। हिन्दीमें इस शैलीपर लिखने वाले ये प्रथम कवि हैं। अतः आचार्यकी दृष्टि से हिन्दीमें नायिका भेदका प्रथम निरूपण केशवदासकी 'रसिकप्रिया' में ही हुआ है।

केशवदासके पश्चात् चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'कविकुलकल्पतरु'के पंचम अध्यायमें नायिका-भेदका कुछ इस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया—

तीन प्रकारकी नायिका—दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य। कर्मानुसार तीन भेद—स्वकीया, परकीया तथा सामान्या। स्वकीयाके तीन भेद—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धाके छः भेद—अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितयौवना, विदितमनोयौवना, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढा। मध्याके चार भेद—आरूढ़यौवना, आरूढ़-मदना, विचित्रसुरता, प्रगल्भ-वचना। प्रौढ़ाके भी चार भेद—प्रौढ़यौवना, मदनमत्ता रतिप्रीतिमत्ता, सुरतिमोदपरवशा। मध्या और प्रौढाके ही धीराआदि तथा ज्येष्ठाआदि प्रसिद्ध भेद भी किये हैं। ऊढा परकीयाके ६ भेद—सुरतिगोपना, चतुरा (वचन, क्रिया) कुलटा, लक्षिता, अनुशयनिका तथा मुदिता। दशानुसार स्वाधीनपतिकाआदि आठ भेद तो परम्परानुसार ही है। अभिसारिका को

---

1 रसिकप्रिया, सप्तम प्रकाश—२१-३१

२. प्रकट तीन सौ साठ त्रिय, केशवदास बखानि।—र० प्रि०, ७।३८

ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोऽभिसारिका तथा दिव्याभिसारिकारूपसे तीन प्रकार की कहा है। और अन्तमें गुणके अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा तीन भेद किये हैं।

इस प्रकार चिन्तामणिने हिन्दीमें नायिका के सर्वप्रथम दिव्याआदि भेद तथा मुग्धाके छः और मध्या, प्रौढाके चार-चार भेद किये। केशव ने सामान्याका विवेचन नहीं किया था, किन्तु चिन्तामणि ने उसे किया।

मतिरामने तो नायिकाभेदकी एक निश्चित एवं निरवच्छिन्न परिपाटी ही चला दी। उनका 'रसराज' इस विषयका एक सर्वमान्य ग्रन्थ है, यद्यपि इसमें भानुदत्तकी 'रस-मंजरी'का ही अनुकरण किया गया है। केशवने उसे शृङ्गार रसके एक अङ्गके रूपमें प्रतिपादित किया था। मतिरामका 'रसराज' नायिका भेद-निरूपणका प्रधान-ग्रन्थ-रूपमें दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार नायकके साथ सम्बन्धके अनुसार पहले तीन प्रकारकी नायिकायें—

स्वकीया, परकीया तथा गणिका। फिर स्वकीयाके तीन भेद—मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा। फिर मुग्धाके दो भेद--अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना। ज्ञातयौवनाके फिर प्रियके प्रति प्रतीतिके आधारपर दो भेद नवोढा, तथा विश्रब्धनवोढा। मानके आधारपर मध्या और प्रगल्भाके धीराआदि ३ भेद तथा फिर ज्येष्ठा, कनिष्ठा दो भेद। ज्येष्ठा और कनिष्ठिकाका यह भेद इनका मौलिक है। परकीयाके ऊढा, अनूढा दो भेदोंके अतिरिक्त ६ अन्य भेद भी किये गये हैं--

गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना। पतिप्रेमकी दृष्टिसे तीन भेद—अन्यसम्भोगदुःखिता, गर्विता (धर्मरूप में) तथा मानवती। फिर प्रोषितपतिकाआदि दस भेद—प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका तथा अभिसारिका, जो तीन प्रकारकी होती हैं—चन्द्राभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, दिवाभिसारिका। फिर, पूर्वोक्त दसों प्रकारकी नायिकाओंमें प्रत्येकके मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और सामान्या—ये पाँच भेद कियेहैं। और प्रकृतिके अनुसार तो नायिकाओंके तीन भेद प्रसिद्ध ही हैं—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

देव—हिन्दीमें नायिका भेदका सबसे अधिक विस्तार महाकवि देवने किया। ये अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता थे। इनमें 'भावविलास,' 'रसविलास,' 'भवानीविलास' तथा 'सुखसागर-तरंग'में देवने नायिकाभेदका निरूपण कियाहै। भावविलासमें उनकी नायिकाओंकी कुल संख्या ३८४ ठहरती है। 'रसविलास'में देवने नायिकाओंके वर्गीकरणके प्रधानरूपसे ये आठ आधार मानेहैं—जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वयःक्रम, प्रकृति, तथा सत्त्व। जातिके अनुसार— चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी। कर्मके अनुसार तीन भेद—स्वकीया, परकीया, एवं सामान्या। गुणके अनुसार तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा

अधमा। जिनमें क्रमसे सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणका आधिक्य होता है। देश के अनुसार २६ भेद— मध्यदेशवधू, मगधवधू, कौशलवधू, पाटलवधू, उत्कलवधू, कलिङ्गवधू, कामरूपवधू, बङ्गवधू, विन्ध्यावनवधू—आदि। इनमें भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तों अथवा भागोंकी बधुओंका वर्णन है। देवने उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—अवस्थानुसार आठ —भेद स्वाधीनपतिका आदि—। वय:क्रमके अनुसार तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। प्रकृतिके अनुसार तीन भेद – कफप्रकृति, पित्तप्रकृति, वातप्रकृति। सत्त्वके अनुसार भेद— देव, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, कपि, खर, काक—इनके अतिरिक्त देवने स्त्रियोंके और भी अनेक प्रकार बतायेहैं, जैसे कामिनी के ६ भेद बतायेहैं—नागरी, पुरवासिन, ग्रामीण, वनवासिन, सैन्या तथा पथिकस्त्री। फिर इनके भी प्रत्येकके उपभेद बतायेहैं। नागरीके तीन भेद—देवल, रावल तथा राजनगर। देवलके फिर तीन भेद—देवी, पूजनहारी तथा द्वारपालिका। रावलके पाँच भेद—राजकुमारी, धाय, सखी, दूती, तथा दासी राजनगर के १३ भेद—जौहरिन, छीपिन, पटविन, सुनारिन, गन्धिन, तेलिन, तमोलिन, हलवाइन, मोदिन, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरी, गणिका। पुरवासिनके ६ भेद— ब्राह्मणी, राजपूतानी, खतरानी, बैनैनी, कायथिनि, शूद्रा, नाइन, मालिनि, तथा धोबिन। ग्रामीणके ५ भेद—अहीरिन, काछिन, कलारिन, कहारिन, ननेरी। बनवासिनके तीन भेद— मुनतिया, व्याधतिया तथा भीलनी। सैन्याके ३ भेद—वृषली, वेश्या तथा मुकैरिन। पथिक स्त्रीके चार भेद—बनजारिन, जोगिन, नटी, तथा कठेरिन। देवने 'रसविलास' में इनके और भी भेदोपभेदों का निरूपण कियाहै।[1] यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार भेद लोक जीवनके लिए उपयोगी हो सकते हैं काव्य-नाटकमें तो ये प्रसिद्ध कलात्मक भेदोंमें ही अन्तर्भूत किये जाकर उपयोगी हैं।

देवने अपने अन्य ग्रन्थोंमें नायिकाओं के और भी अनेक प्रकारसे भेदोपभेद किये हैं जैसे—स्वकीयाके वर्षभेदानुसार—५ भेद—देवी ७ वर्ष, देवगन्धर्वी १४ वर्ष, गन्धर्वी २१ बर्ष, गन्धर्वमानुषी २८ वर्ष, मानुषी ३५ वर्ष। फिर उनके ज्येष्ठा, कनिष्ठारूपसे दो-दो भेद और। परकीयामें ऊढाके छः भेद (उपभेद)—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, तथा अनुशयना। वय: क्रमके अनुसार विभाजन करने परमुग्धा के ५, मध्या के ४ और प्रौढ़ा के ४ भेद किये हैं—(क) मुग्धा के ५ भेद—(१२ से १३ वर्ष), नवलवधू, (१३ वर्ष) नवयौवना; (१४ वर्ष) नवलअनंगा, (१५ वर्ष) नवोढा तथा (१६ वर्ष) विश्रब्धनवोढा (लज्जाप्रायरति)। मध्याके ४ भेद— (१७ वर्ष) रुढयौवना, (१८ वर्ष) प्रकटमनोजा, (१९ वर्ष) प्रगल्भवचना तथा (२० वर्ष) विचित्रसुरता। प्रौढ़ाके भी ४ भेद—(२१ वर्ष) लब्धपति,

१. ठाम वयः क्रम भेद करि, भेद भेद प्रतिभेद।
होत अनेक प्रकारते सुनत हरत श्रुतिखेद॥ —रसविलास

(२२ वर्ष) समस्तरति कोविदा, (२३ वर्ष) आक्रान्तनायका तथा (२४ वर्ष) सविभ्रमा। इसीप्रकार कोप एवं मानके आधारपर मध्या और प्रगल्भाके धीरादि भेद भी किये हैं। वास्तवमें नायिकाभेदकी आधारशिला मनोवैज्ञानिक है। विभिन्न अवस्थाओं दशाओं तथा स्थितियोंमें स्त्रियोंके मनकी दशा क्या हो जाती है अथवा होती है सबका विवेचन नायिका-भेदवर्णनमें होता है और होना चाहिए। अतः रहीमकी 'नगरशोभा' और देवके 'रसविलास-में' विभिन्न प्रान्तों जातियों व्यवसायोंआदिकी स्त्रियोंके परिगणन एवं वर्णन अनावश्यक एवं अनुपयुक्त ही ठहरते हैं। हाँ, नायिकाओंकी संख्यामें वृद्धिका आग्रह करने वाले कवि एवं आचार्योंकेलिए देवने मार्ग प्रशस्त अवश्य कर दिया। अनेक आचार्योंने उसका अनुकरण किया।[1]

देवके पश्चात् नायिका-भेदपर लिखने वाले प्रामाणिक आचार्य **भिखारीदास** हैं। इनका शृङ्गारनिर्णय (१७५० ई०) नायिकाभेदपर एक प्रशंसनीय रचना है। इन्होंने नायिका के प्रथम तीन भेद 'आत्मधर्मानुसार' किये हैं नायक-सम्बन्ध अथवा कर्म के अनुसार नहीं—साधारणवनिता, स्वकीया तथा परकीया।[2] स्वकीया के तीन भेद—पतिव्रता, उछारिज तथा माधुर्ज (अन्य आचार्यों ने प्रसिद्ध तीन मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा का उल्लेख किया है)। दक्षिण, शठ तथा धृष्ट नायकके भेदानुसार इन्होंने ज्येष्ठा और कनिष्ठाके ६ उपभेद किये हैं। परकीयाके सर्वप्रथम प्रगल्भा और धीरा दो भेद किये, फिर अनूढा और ऊढा—ये दो भेदकिये। ऊढाके पहिले तीन तीन भेद—असाध्या, दुःसाध्या तथा साध्या फिर विदग्धा, लक्षिता, मुदिता तथा अनुशयना—ये चार भेद किये। गुप्ताको विदग्धाके अन्तर्गत रक्खा और कुलटाको छोड़ दिया। मुदिता और अनुशयनामें भी विदग्धत्व स्थापित किया। स्वकीया को भी अनूढा तथा ऊढा कहा। और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने अनूढा के भी भेद किये—उद्‌बुद्धा तथा उद्‌बोधिता। फिर उद्‌बुद्धाके भी दो उपभेद किये—अनुरागिनी (णी) तथा प्रेमासक्ता। अनुशयनाके भी तीन नवीन भेद किये—केलिस्थान-विनासिता, भावस्थान-अभाव तथा संकेतनिःप्राप्यता। परकीयाके भी मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा भेद होते हैं। परकीयाका भी अज्ञात-यौवना भेद किया गयाहै। स्वाधीनपतिकाआदि आठ भेदोंको संयोग तथा वियोग शृङ्गारोंके अनुसार विभाजित किया है। इनमें संयोग शृङ्गारके अन्तर्गत तीन नायिकायें ली हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा तथा अभिसारिका। स्वाधीनपतिकाके भी पहले तो स्वकीया, परकीया दो भेद, फिर रूपगर्विता, प्रेमगर्विता तथा गुणगर्विता—तीन उपभेद किये। वासकसज्जाके अन्तर्गत आगतपतिकाको रख दिया है और अभिसारिकाके—स्वकीया तथा परकीया भेद करके शुक्लाभिसारिका तथा कृष्णाभिसारिका—दो उपभेद किये हैं। इस प्रकार उन्होंने संयोगशृङ्गारकी तीनों नायिकाओंके स्वकीया-परकीया

---

१. री० का० शृ० रस० वि०, पृ० २५७

२. पहले आतमधर्म तें त्रिविधि नायिका जानि।
साधारन बनिता अपर सुकिया परकीयानि॥ शृ० निर्णय

दो-दो भेद किये। फिर वियोगश्रृङ्गारमें उत्कण्ठिता, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा तथा प्रोषितभर्तृका --ये पाँच भेद रक्खे हैं। खण्डिता के अन्तर्गत धीरादि-भेद और मानिनीका उल्लेख किया है तथा मानिनीके अन्तर्गत लघुमान, मध्यमान और गुरुमानका प्रतिपादन कियाहै। कलहान्तरिताके अन्तर्गत भी मानभेदका निरूपण किया है और उसमें साधारण मानका वर्णन किया है। प्रोषितभर्तृकाके अन्तर्गत प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगच्छत्पतिका तथा आगतपतिकाका उल्लेख किया है। दासके नायिकाभेदवर्णनमें संख्यावृद्धिके प्रति रुचि मौलिकता लिये हुए है। साथ ही सामान्या और कुलटाका निरूपण न कर उन्होंने आदर्श-स्थापनाकी भी अपनी रुचि व्यक्त कीहै।

भिखारीदासके पश्चात् नायिकाभेदके निरूपणमें विशिष्ट स्थान रसलीनका है। इनका पूरा नाम सैयदगुलाम नबी था। इनका 'रसप्रबोध' (१७४१ ई०) इस विषयका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने नायिकाविषयका कुछ इस प्रकार से निरूपण किया है—मुग्धा के पाँच भेद—अङ्कुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना नवलअनङ्गा तथा नवलवधू। फिर अन्तिम तीनके उपभेद भी कियेहैं—

(क) नवयौवनाके दो भेद—अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना (ख) नवलअनङ्गाके दो भेद—अविदितकामा तथा विदितकामा। (ग) नवलवधूके तीन भेद—नवोढा, विश्रब्धनवोढा तथा लज्जासक्तारतिकोविदा। (२) मध्याके चार भेद—उन्मत्तयौवना, उन्नतकामा, प्रगल्भवचना तथा सुरतविचित्रा। (३) स्वकीयाके अन्तर्गत तीन प्रकार दुःखितायें—मूढ़पति दुःखिता, बालपतिदुःखिता तथा वृद्धपतिदुःखिता (४) परकीयाके असाध्या और सुखसाध्या दो भेद कियेहैं।[1] यहाँ रसलीन का कहना है कि कुछ आचार्योंने असाध्याके—असाध्या, दुःसाध्या तथा सुखसाध्या तीन भेद कियेहैं। फिर (क) असाध्या के पाँच भेद—सभीता, गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, अतिक्रान्ता तथा खलपृष्ठा। (ख) सुखसाध्याके दस भेद—वृद्धवधू, बालवधू, नपुंसकवधू, विधवावधू, गुनरिझवती, सेवकवधू, निरंकुश, परस्त्रीआसक्तवधू; अतिरोगीवधू। (५) परकीयाके अद्भुता तथा उद्भूदिता दो भेद। (६) परकीयाके विदग्धाके अन्तर्गत दो भेद—पतिवंचिता तथा दूतीवंचिता। (७) लक्षिताके तीन भेद—सुरतिलक्षिता, प्रकाशलक्षिता तथा प्रकाश-लक्षिता द्वितीय (?)। (८) स्वकीया एवं परकीया दोनोंके तीन-तीन नये उपभेद—कामवती अनुरागिनी (णी) तथा प्रेमासक्ता।[2] (९) सामान्याके चार उपभेद—स्वतंत्रा, जननी-अधीना, नियमिता (?) तथा प्रेमदुःखिता। (वैसे सामान्याके प्रेमका एक ही लक्ष्य है धन पैदा करना "दाम मोह पै लेत हैं, कामचोट उपजाइ।" (१०) वक्रोक्तिगर्विताके तीन भेद

---

१. पुनिपरकीया उभै विधि बरनत हैं कवि लोई।
एक असाध्या दूसरी सुखसाध्या जिय जोई॥

२. स्वकिया और परकिया दोऊ बिना नेम परमान।
कामवतीअनुरागिनी प्रेम असक्ता जान॥

कियेहैं। (११) आगतपतिकाके अन्तर्गत संयोगगर्विता उपभेदका भी कथन किया है। (१२) अष्टविधनायिकाके अन्तर्गत—गमिष्यत्पतिका, गच्छत्पतिका तथा आगमिष्यत्पतिका (?) ये भेद भी किये हैं। (१३) जातिके अनुसार चारप्रकारकी नायिकाओं का वर्णन किया है। (१४) लोकभेदके अनुसार तीन भेद दिव्या अदिव्या तथा दिव्यादिव्या।[1] (१५) इन्होंने भी स्वकीयाके आयुके अनुसार भेद किये और ७ वर्षसेशुरू कर ३५ वर्ष तकमें कुल १३ भेद किये। मुग्धाके पाँच, मध्याके चार तथा प्रौढ़ाके चार। इन सबकी पृथक् पृथक् संज्ञायें भी दी हैं—जैसे सात वर्ष तक कन्या, तेरहवर्ष तक गौरी अथवा बाला, तेईस वर्ष तक तरुणी तथा चालीस वर्ष तक प्रौढा। रसलीनने नायिकाओंकी कुल संख्या तेरहसौ बावन कीहै।[2] रसलीनने परकीया तथा गणिकाका अधिक विस्तारसे विवेचन किया है।

पद्माकर (१७५३ ई०)—की कविता में कवि एवं आचार्य दोनों पक्षोंका मनोरम दर्शन मिलता है। उनका 'जगद्विनोद' एक रसग्रन्थ है। इसमें सभी रसोंका विवेचन हुआ है। शैली लक्षण-उदाहरणवाली ही प्रयुक्त हुई है। किन्तु विस्तारके साथ विवेचन केवल शृङ्गार रसका किया है। अन्य रसोंको तो साधारण लक्षण-उदाहरण देकर चलता किया गया है। उस समय तक शृङ्गाररसका वर्णन करते समय आलम्बन-विभावके लिए नायक-नायिकाके रूपमें कृष्ण-राधाका वर्णन करनेकी परिपाटी चल गयी थी। पद्माकरने भी उक्त परम्पराका पालन किया और कृष्णराधाको साधारण नायकनायिकाके रूपमें निःसंकोच भावसे अपनाया। मतिराम की भाँति पद्माकरने भी उस रमणीको नायिका कहा है जिसे देखकर मनमें शृङ्गार-भाव उत्पन्न हो[3]—उनका नायिकाभेद निरूपण संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—(१) प्रथमतः तीन—स्वकीया, परकीया तथा गणिका। (२) अवस्थाक्रमसे स्वकीयाके तीनभेद–मुग्धा, मध्या, और प्रौढा। (३) मुग्धाके दो भेद–अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना। (क) ज्ञातयौवनाके दो भेद—नवोढा, विश्रब्धनवोढा। (४) प्रौढाके दो भेद – रतिप्रीता, तथा आनन्दसम्मोहिता। (५) मानसमयके अनुसार मध्या और प्रौढा प्रत्येकके तीन-तीन भेद—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। (६) परकीयाके दो भेद—ऊढा तथा अनूढा। (७) फिर परकीया के छः भेद—गुप्ता (भूत, वर्तमान, भविष्य), विदग्धा (वचन, क्रिया), लक्षिता, कुलटा, मुदिता तथा अनुशयना। (८) पूर्वोक्त सभी नायिकाओंमें प्रत्येकके तीन-तीन भेद—मानवती, वक्रोक्तिगर्विता तथा सुरतिदुःखिता। (९) पुनः दस भेद—प्रोषितपतिका,

---

१. इन्द्रानी दिव्या कहै नर तिय कहै अदिव्य।
सिय लौं जो तिय अवतरै सौ कहि दिव्यादिव्य॥

२. तेरा सौ बावन बहुरि दिव्यादिक के संग।
यों गनना में नायिका बरनी बुद्धि तरंग॥

३. रससिंगारको भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताहि को कवि नायिका, बरनत बिबिध बिचारि॥ —जगद्विनोद

खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी तथा आगतपतिका। (१०) फिर पूर्वोक्त दशामें प्रत्येकके पांच-पांच विभेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया तथा गणिका। (११) अभिसारिकाके तीनसामान्यभेद—दिवाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका तथा शुक्लाभिसारिका। (१२) अन्यप्रकारका भेद—उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा। (१३) विवाहिता पत्नियों (स्वकीया) के अन्य भेद—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा। पद्माकरने नायकके भी भेद किये हैं, जैसे तीन भेद—मानी, वचनचतुर तथा क्रियाचतुरआदि। पद्माकरका नायिकावर्णन मतिरामसे बहुत प्रभावित हुआहै। इन्होंने भी स्वकीयाप्रेमको श्रेष्ठ बताया है।

ग्वाल (जन्म १७९१ ई०) रसविषयके अन्तिम उल्लेखनीय आचार्य कवि ग्वाल हैं। इन्होंने 'रसरंग' सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। इनका रसनिरूपण शास्त्रीय ढंग पर हुआ है। रस चिदानन्द ब्रह्मरूप है। रसके दो भेद होते हैं—लौकिक तथा अलौकिक। इन्होंने भी आलम्बन विभावके अन्तर्गत नायक-नायिकाओंका वर्णन कियाहै। इनके नायकके निम्नाङ्कित प्रकार हैं—(१) जातिके अनुसार चार भेद—गान्धाल, दत्त, कुचमार तथा भद्र, जो पद्मिनी आदि स्त्रियोंके क्रमसे किया गया है। (२) कर्मानुसार तीन भेद—पति, उपपति, बैसिक (३) स्वभावके अनुसार पतिके चार भेद—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट तथा शठ। (४) गुणानुसार तीन भेद—उत्तम,मध्यम तथा अधम (५) बैसिक नायकके तीन भेद—उत्तम, मध्यम तथा अधम। (६) प्रकृतिके अनुसार तीन भेद—दिव्य अदिव्य तथा दिव्यादिव्य। (७) अन्य तीन भेद—मानी, चतुर, (क्रियाचतुर एवं वाक्यचतुर) तथा प्रोषितपति। (८) नायककी दस विरह दशायें।

ग्वालके समय तक विलासिता अपनी चरमावस्थाको पार कर चुकी थी। प्रत्येक विषयमें 'मज़ा' और 'ज़ायका' देखा जाता था। ग्वाल द्वारा दिये नायिका-लक्षणमें यह मनोवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।[1] उनका नायिकाओं का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है—१. जातिके अनुसार चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी २. गुणानुसार तीन भेद—उत्तमा मध्यमा तथा अधमा। ३. प्रकृतिके अनुसार तीन भेद—दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य ४. कर्मानुसार तीन भेद—स्वकीया, परकीया तथा गणिका। ५. स्वकीया के तीन भेद—मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा। ६. मुग्धाके चार भेद—अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा तथा विश्रब्धनवोढा। ७. प्रौढाके दो भेद—रतिप्रीता तथा आनन्दसम्मोहिता। ८. मान अथवा कोपकी दृष्टिसे—मध्या और प्रौढाके तीन भेद—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। इसके पश्चात् मान तथा मानमोचनका वर्णन है। ९. फिर परकीया के दो भेद—रूपासक्ता तथा कामासक्ता, तथा दो परम्परानुसार भेद—ऊढा और अनूढा। अनूढाके तीन भेद—सुखसाध्या, दुःखसाध्या तथा असाध्या। ११. असाध्या के तीन भेद—बहुकुटुम्बिका, बहु-

१. रूपवती हूँ जखि जुमै अतिप्रवीन गुनखान। बहुत जायिका दायिका वहै नायिका जान॥

रक्षिका तथा अतिकान्त्या (?) १२. ऊढा सुखसाध्याके दो भेद—सभया तथा अभया। १३. सभया के पाँच भेद—गुप्ता, लक्षिता, विदग्धा, मुदिता और अनुशयना। १४. अभयाके दो भेद – एकपुरुषासक्ता, बहुपुरुषासक्ता (कुलटा) १५. गणिका के कोई भेद नहीं। १६. स्वकीया आदिके व्यापक भेदके अवस्थाके विचार से पन्द्रह विभेद—अन्यसम्भोगदुःखिता गर्विता (रूप, प्रेम, गुण) गमिष्यत्पतिका, गच्छत्पतिका, प्रोषितपतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (श्याम, शुक्ल, दिवा) आगमिष्यत्पतिका, आगच्छत्पतिका तथा आगतपतिका। पूर्वोक्त भेद-संख्या ३ से १५ तक प्रत्येकके मुग्धा, मध्या, प्रौढा परकीया और गणिकाके अनुसार पाँच-पाँच उपभेद किये हैं। ग्वालने रसके सभी अङ्गोंका वर्णन किया है केवल नायक-नायिका ही नहीं। हाँ, नायिका-भेद को परम्पराके अनुसार सबसे अधिक स्थान अवश्य दिया है। इनका शृंगारवर्णन कामशास्त्र से बहुत प्रभावित है-- सुखसाध्या, सभया, अभयाआदि भेद इसके प्रमाण हैं। उन्होंने भी शृंगारको रसराज माना है। ग्वालने नायिका-भेद कथन में प्रायः भानुदत्त, मतिराम आदिका ही अनुसरण किया है।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवेचन का सिंहावलोकन करने पर कुछ इस प्रकारका निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दीका नायिका-भेद संस्कृतकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आख़िर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दीके कवियोंने किया ही क्या? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणोंकी दृष्टिसे ही अधिक मान्य है—निरूपणकी दृष्टिसे नहीं। इस क्षेत्रमें भी उन कवियोंने लक्षण और रीति-विवेचनकेलिए संस्कृतके ही ग्रन्थों का आश्रय लिया है। कुछ लोगोंका विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ाके अवान्तर-भेद हिन्दी-कवियोंकी कल्पनाकी उद्‌भूति है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये भेद प्रायः सभी विश्वनाथ तथा भानुदत्तमें मिल जाते हैं। केशव और देवने मुग्धाके चार भेद माने हैं—नववधू, नवयौवना, नवलअनङ्गा और लज्जाप्राय-रति (सलज्जरति)—इनमें नवयौवना, नवलअनङ्गा और लज्जाप्रायरति क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना प्रथमावतीर्णमदनविकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं। नववधू, मुग्धा का सामान्य रूप है। देव मुग्धात्वको वयःसन्धि तक खींच ले गएहैं, और उधर रसलीनने भेदोंके भी भेद कर डाले हैं। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीतिसे भी किया जाताहै—अज्ञात-यौवना, ज्ञातयौवना (नवोढा, विश्रब्धनवोढा) और ये भेद अधिक सङ्गत भी हैं, हिन्दीके चिन्तामणि, मतिराम, बेनीप्रवीन, पद्माकर आदिने इन्हीं को माना है। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्‌भावना नहीं है। इनका भी आधार संस्कृतका लोकप्रिय ग्रन्थ रस-मञ्जरी ही है। हिन्दी-कवियोंने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यों के त्यों भानुदत्तसे उद्धृत कर लिये हैं। इसके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथके रतिवामा का ही दूसरा नाम है—और विश्रब्धनवोढा, समधिकलज्जावतीका। केशव और देवने मध्या के भी चार भेद किये हैं—आरूढयौवना (केशव) अथवा रूढ़यौवना (देव) प्रादुर्भूत-मनोभवा,

प्रगल्भवचना, सुरतिविचित्ना। ये भी विश्वनाथके प्ररूढ़स्मरा, ईषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरताके ही नामान्तरमात्र हैं। विश्वनाथकी मध्य-व्रीडिता इन्होंने छोड़ दिया है। इसीप्रकार प्रौढ़ाके भी चार अवान्तर भेद हैं—समस्तरतकोविदा, आक्रमितनायका (आक्रान्तनायका-देव) लब्धापति, विचित्रविभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्तरतकोविदा और आक्रान्तनायका तो विश्वनाथके ही भेद हैं–और विचित्रविभ्रमाभावोन्नता का रूपान्तर है। लब्धापति शायद स्वतन्त्र है (?)। रसलीनने पतिदुःखितानायिकाएँ भी कहीं हैं—जिनमें कोई बेचारी मूढ़पति कोई बालपति और कोई वृद्धपतिके कारण दुःखी है। इनकी मान्यता रसलीन मुग्धाकी कुलटा की भाँति ही घोषित करते हैं।[1] परकीयाके विश्वनाथआदि मान्य आचार्योंने दो ही प्रकार वर्णन किये हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा। हिन्दीमें छः भेद और दृष्टिगत होते हैं—गुप्ता, विदग्धा, (वचन, क्रिया) लक्षिता, कुलटा, मुदिता, और अनुशयना। केशवको छोड़कर चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकरआदि बादके सभी कवियोंने इनका व्यवस्थित और स्पष्टवर्णन किया है। परन्तु यह भी रस-मञ्जरीके भेदोंका ही शुद्ध अनुवाद है।[2] दासने इस क्षेत्रमें भी कुछ मौलिकता लानेका प्रयत्न किया है। उन्होंने परकीयाके उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता दो नवीन भेद कियेहैं। उद्‌बुद्धा जिसके हृदयमें प्रीति स्वयं उत्पन्न हो। उद्‌बोधिता जिसके हृदयमें नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाय। उद्‌बुद्धा प्रेमकी मात्राके अनुसार दो प्रकारकी कही गयी है—अनुरागिनी, प्रेमासक्ता। उद्‌बोधिताके तीन भेद हैं—असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या (जब कि वह पूर्णतः उद्‌बोधिता हो जाती है) रसलीनने इस विस्तार को और भी बढ़ाया है—उन्होंने असाध्या दुःखसाध्या और साध्याआदिके अनेक भेद किए हैं। ये भेद शास्त्रीय-दृष्टिसे विशेष स्वतन्त्र महत्त्व न रखते हुए भी कमसेकम उस युगके सामाजिक जीवनपर अच्छा प्रकाश डालतेहैं, और साथ ही इन कवियोंके आलोचनात्मक पर्यवेक्षणका प्रमाण भी उपस्थित करतेहैं। परन्तु दासका महत्त्व भेद-विस्तारके लिए इतना नहीं है, जितना कि व्यवस्थाकेलिए है। उन्होंने काफ़ी स्वच्छ रीति से नायिकाभेदकी असङ्गतियोंको सुलझाया है। उदाहरणकेलिए उन्होंने गर्विताके विभिन्न भेदोंको स्वतन्त्र न मानकर स्वाधीनपतिकाके अन्तर्गत धीराआदि को खण्डिताके अन्तर्गत और अन्यसम्भोग दुःखिताको उत्कण्ठिताके अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितिके अनुकूल उन्होंने देवसे सङ्केत-ग्रहण कर रक्षिता (रखेल) आदिकी भी स्वकीयाके अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभाससे मुक्ति पाली है। संस्कृतमें और हिन्दीमें भी सामान्याका साधारणतः एक ही रूप माना गयाहै, परन्तु रसलीनकी तृप्ति उससे नहीं हुई और उन्होंने अपने समय की सामान्याओंकी गतिविधिका निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिए–स्वतन्त्रा, जननी-अधीना, नियमिता और प्रेमदुःखिता।

---

१. इन भेदन में जो कोऊ रसाभासविख्यात मुग्धा कुलटा हू विषे सो पुनि पायो जात।
—रसप्रबोध

२. गुप्ताविदग्धालक्षिताकुलटाअनुशयनामुदिताप्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः।

अवस्थाके अनुसार संस्कृतमें भरतके समयसे ही आठ प्रकारकी नायिकाएँ कही गयी हैं, हिन्दी में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका—ये दो भेद और मिलते हैं। इनमें प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्तकी रसमञ्जरीमें वर्णित है, जिसका उन्होंने प्राचीनोंके अनुसार स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है।[1] उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इसका अन्तर्भाव खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धाआदिमें नहीं किया जा सकता, अतएव इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचारमें ऐसी ही युक्ति आगतपतिकाके लिए भी दी जा सकतीहै। प्रोषितपतिका और आगतपतिकाके संयोगसे अर्थात् पतिके गमनागमनके आश्रित देवने गतागतपतिका (गमनागौन) नायिकाकी भी कल्पना कीहै। वास्तवमें नायिकाकी यह मनःस्थिति है तो अत्यन्त मार्मिक (बिहारीने दो एक दोहोंमें इसका अत्यन्त सुन्दर अङ्कन किया है) परन्तु यहाँ दो आपत्तियाँ हो सकती हैं, एक तो यह कि अवस्था इतनी स्थायी नहीं है कि इसके आधारपर एक स्वतन्त्र भेदकी कल्पना की जा सके। दूसरे, यह कि उपर्युक्त दोनों अवस्थायें पतिगमन और पतिआगमनका संयोग ही तो हैं। थोड़े अन्तरसे ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिकाके लिए भी उपस्थित किया जा सकताहै, उसकी स्थितिमें भी एक विशेष भाव-सौन्दर्य वर्तमान रहताहै। पर इस विस्तारका कहीं अन्त भी होगा या नहीं इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जायेंगे।

फिर भी यह विस्तार रुका थोड़े ही, भाव-शास्त्रकी सीमाका अतिक्रमण कर अन्य शास्त्रोंमें भी इसने प्रवेश कर ही लिया। काम-शास्त्रमें दिये हुए जाति-भेदका विश्वनाथने विस्तार तो नहीं किया, परन्तु संकेत अवश्य दे दियाहै। उसीको केशव और उनके पश्चात् देव आदिने लक्षण और उदाहरणोंसे परिपुष्ट कर हमारे सामने रख दिया। चिन्तामणिने अंशानुसार तीन भेद और दिए हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, परन्तु ये भी रसमञ्जरीसे अनूदित हैं। देव केवल जाति और अंशभेदसे ही सन्तुष्ट नहीं रहे। उन्होंने गुणभेद, प्रकृति-भेद, देशभेद न जाने कितने भेद और कर डालेहैं। परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन हैं और न महत्त्वपूर्ण। देवने भी इनका नियोजनमात्र ही किया, सृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदोंके संकेत तो साहित्य-ग्रन्थोंमें ही मिल जाते हैं। उदाहरणकेलिए देशभेदकी ओर मम्मटने काव्यप्रकाशमें संकेत किया है। उधर प्रकृति, गुण सत्त्व इत्यादिकेलिए भी कामशास्त्र, वैद्यक आदि में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

उपसंहार—पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दीके इन आचार्योंने हमारे रीति-विवेचनमें कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया। किन्तु इनमेंसे कुछका

---

१. प्राचीनलेखनादग्निमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रवत्स्यत्पतिकानवमीनायिका भवितुमर्हति।

साहित्य-ज्ञान गम्भीर अवश्य था, और उन्होंने हिन्दीमें संस्कृतकी गम्भीर विवेचना-पद्धतिकी अवतारणा की। शृङ्गारके क्षेत्रमें जैसे मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकरआदि। यद्यपि केशव तथा देवने मौलिक विस्तारकी सबसे अधिक आकांक्षा दिखाई, किन्तु इनमें विस्तृत पाण्डित्य होते हुए भी इनकी चिन्ताधारा बहुत सुलझी हुई नहीं थी। केशवने स्थान-स्थान पर जो भ्रान्तियाँ की हैं उससे उनकी उलझी विचारधारा प्रमाणित हो जातीहै। देव कुछ अतिवादी कवि थे। उनके द्वारा नायिकाओंका वात, पित्त, कफ, नाग, खर आदिकी दृष्टिसे वर्गीकरण इस तथ्यको पुष्ट कर देता है। वास्तवमें उस युग की रुचि ही गम्भीर नहीं रह गयीथी। लोग मीमांसाका नहीं रसिकताका आदर करते थे। साथ ही सबसे बड़ा अभाव तो गद्यका था जिसके कारण सूक्ष्मविश्लेषण सम्भव ही नहीं था। परिणामत: हिन्दीके इन आचार्य कवियोंका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया विवेचनात्मक नहीं हो पाया।

—आत्मनिवेदनम्—

श्रीमद्भानुप्रतापाख्यपितृव्यचरणाद् गुरोः ।
श्रद्धया परभक्त्या च श्रुत्वा व्याकरणं पुनः ।।१।।

श्रीमद्रामकिशोराख्यात् पितुः शान्तशिवाकृतेः ।
लब्ध्वा काव्यरुचिं पुण्यां कृतसंस्कृतगीःश्रमः ।।२।।

आचार्यशेखरात् प्राप्य श्रीमिट्ठूलालसंज्ञकात् ।
साहित्यशास्त्रसिद्धान्तान् कृतकृत्योऽभवच्च यः ।।३।।

श्रीचण्डिकाप्रसादस्य लोलार्कोपाख्यशर्मणः ।
कृष्णात्रेयस्य तस्येदं 'शृङ्गारपरिशीलनम्' ।।४।।

रसनेत्रखनेत्राब्दे विक्रमीये मधौ शुभे ।
भूयात् सुपूर्णतां प्राप्तं सतां प्रीतिकरं सदा ।।५।।